

भगवान् का पथ

श्रद्धेय गुरुदेव ने 'दृष्टि' नामक इस पुस्तक में साधक के जीवन में पल-पल व पग-पग में आने वाले उतार-चढ़ाव को अनुभूति के आधार पर शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। साधक के जीवन में ज्ञान, इच्छा, भाव, संवेदना, कर्म, अकाम एवं चिन्मय स्थिति के आरोहण व अवरोहण को साक्षी होकर देखा है और इनके निरन्तर परिष्कार की आनुभूतिक प्रक्रिया बताकर साधकों पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है। हमारे जीवन में ज्ञान, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अल्पज्ञान, भ्रान्तज्ञान, शुद्धज्ञान, तत्त्वज्ञान एवं शुद्धतम स्थिर ज्ञान की स्थिति में क्या-क्या, कैसे-कैसे घटित होता है और प्रतिक्षण हमारे आन्तरिक जीवन में चल रहे इस प्रकाश व अन्धकार के संघर्ष में हम शुद्धतम ज्ञान को स्थिर बनाकर अपने भीतर के समस्त अशुभ से मुक्त होकर पूर्ण शुद्ध हृदय व पूर्ण शुद्ध आचरण से अपने जीवन को दिव्य कैसे बनाएं और चिन्मय होकर कैसे जीएं, इसकी प्रक्रिया को बहुत ही सरल, सहज व प्रामाणिक रूप से बताया है।

पूरी अध्यात्म विद्या का निचोड़ दो शब्दों में कहें तो 'आत्म प्रेरणा' तथा 'आत्म प्रेरणा के अनुरूप पूर्ण शुद्ध आचरण'। आत्म प्रेरणा केन्द्र है तथा आत्म प्रेरणा के अनुकूल पूर्ण शुद्ध आचरण, कर्म या पुरुषार्थ यह परिधि है। लेखक के शब्दों में यही तंत की बात है, शेष तो इसी का विस्तार है।

गुरु, शास्त्र, वेद व अपने अनुभवों से हम बहुत कुछ सीखते हैं। कई बार इन सब के बीच में साधक भ्रमित सा हो जाता है कि मेरे लिए साधना का पूर्ण सत्य पथ क्या है?

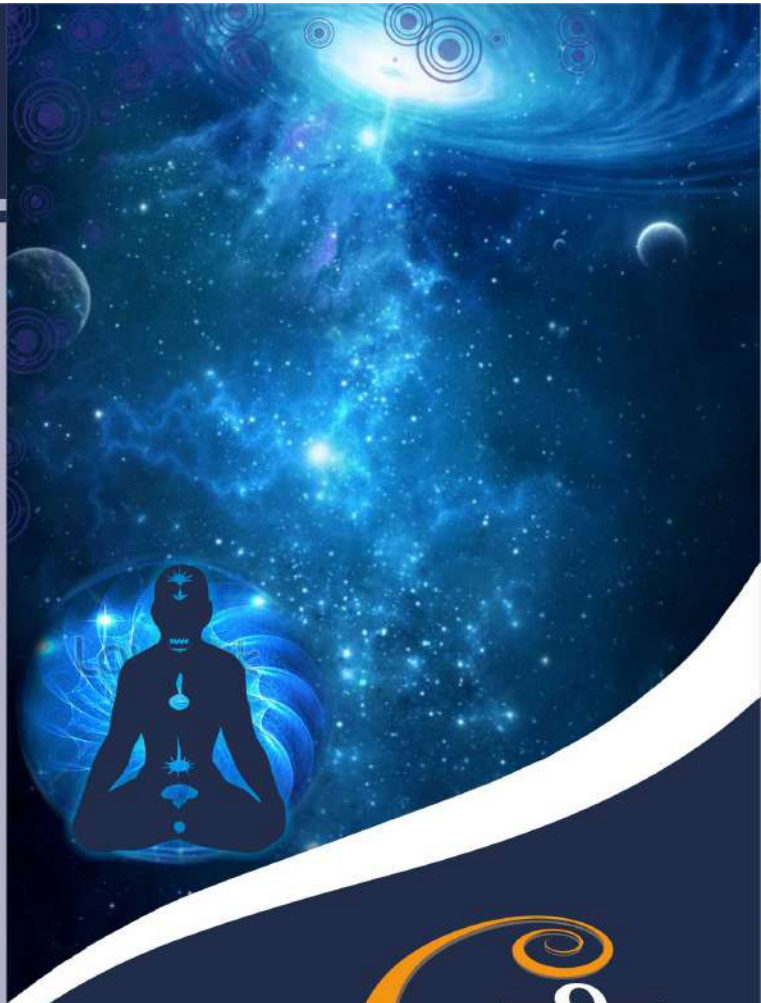
जब परमात्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूप है तो आत्मा में परमात्मा की प्रेरणा भी शुद्ध ही होगी। मस्तिष्क में भगवान् का ज्ञान, हृदय में भगवान् का प्रेम तथा हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में कर्म या पुरुषार्थ का सम्पूर्ण सामर्थ्य भी शुद्धतम रूप में ही उतरेगा।

भगवान् की शुद्ध प्रेरणा, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध प्रेम एवं शुद्ध शक्ति सामर्थ्य से युक्त होकर जब हम जीवन जीयेंगे तो हमारा जीवन भागवत जीवन या दिव्य जीवन ही होगा, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं होना चाहिए।

वेद, गुरु, शास्त्र एवं वैदिक ऋषि इसी सत्य को विस्तार से हमें बताते हैं, जिससे कि हमें कहीं भी किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न रहे।

राम 1/1/59

दृष्टि



-आचार्य प्रद्युम्न जी

भगवान् का पथ



श्रद्धेय गुरुदेव ने 'दृष्टि' नामक इस पुस्तक में साधक के जीवन में पल-पल व पग-पग में आने वाले उतार-चढ़ाव को अनुभूति के आधार पर शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। साधक के जीवन में ज्ञान, इच्छा, भाव, संवेदना, कर्म, अकाम एवं चिन्मय स्थिति के आरोहण व अवरोहण को साक्षी होकर देखा है और इनके निरन्तर परिष्कार की आनुभूतिक प्रक्रिया बताकर साधकों पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है। हमारे जीवन में ज्ञान, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अल्पज्ञान, भ्रान्तज्ञान, शुद्धज्ञान,

तत्त्वज्ञान एवं शुद्धतम स्थिर ज्ञान की स्थिति में क्या-क्या, कैसे-कैसे घटित होता है और प्रतिक्षण हमारे आन्तरिक जीवन में चल रहे इस प्रकाश व अन्धकार के संघर्ष में हम शुद्धतम ज्ञान को स्थिर बनाकर अपने भीतर के समस्त अशुभ से मुक्त होकर पूर्ण शुद्ध हृदय व पूर्ण शुद्ध आचरण से अपने जीवन को दिव्य कैसे बनाएँ और चिन्मय होकर कैसे जीएं, इसकी प्रक्रिया को बहुत ही सरल, सहज व प्रामाणिक रूप से बताया है।

पूरी अध्यात्म विद्या का निचोड़ दो शब्दों में कहें तो 'आत्म प्रेरणा' तथा 'आत्म प्रेरणा के अनुरूप पूर्ण शुद्ध आचरण'। आत्म प्रेरणा केन्द्र है तथा आत्म प्रेरणा के अनुकूल पूर्ण शुद्ध आचरण, कर्म या पुरुषार्थ यह परिधि है। लेखक के शब्दों में यही तंत की बात है, शेष तो इसी का विस्तार है। गुरु, शास्त्र, वेद व अपने अनुभवों से हम बहुत कुछ सीखते हैं। कई बार इन सब के बीच में साधक धमिल सा हो जाता है कि मेरे लिए साधना का पूर्ण सत्य पथ क्या है ?

जब परमात्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूप है तो आत्मा में परमात्मा की प्रेरणा भी शुद्ध ही होगी। मस्तिष्क में भगवान् का ज्ञान, हृदय में भगवान् का प्रेम तथा हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में कर्म या पुरुषार्थ का सम्पूर्ण सामर्थ्य भी शुद्धतम रूप में ही उतरेगा।

भगवान् की शुद्ध प्रेरणा, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध प्रेम एवं शुद्ध शक्ति सामर्थ्य से युक्त होकर जब हम जीवन जीयेंगे तो हमारा जीवन भागवत जीवन या दिव्य जीवन ही होगा, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं होना चाहिए। वेद, गुरु, शास्त्र एवं वैदिक ऋषि इसी सत्य को विस्तार से हमें बताते हैं, जिससे कि हमें कहीं भी किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न रहे।

साधक व सिद्ध की इस साधना की यात्रा की घनघोर जटिलताओं से लेकर आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण सहज अवस्था का जीवन्त वर्णन करके लेखक ने हमारे जीवन में सत्य व अनन्त के द्वार खोल दिए हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि लेखक के द्वारा अत्यन्त विनम्रभाव से की गई इस आध्यात्मिक सेवा से भगवान् के पथ पर चलने वाले अनन्त के साधकों का निश्चित ही पूरा उपकार होगा।

आचार्य वरनरथ

इसी पुस्तक से....

शास्त्रों से, महापुरुषों से, अपने अनुभवों से अब तक जो ज्ञान उपलब्ध हुआ, वह सब आधार बना है इस दृष्टि (दर्शन) के विकास का। लेखक जो कुछ लिखता है स्वयं को केन्द्र में रखकर लिखता है, स्वयं के लिए लिखता है, किन्तु इस महायात्रा में उन लोगों को भी आमन्त्रण देना चाहता है जो उसके साथ समान अभिरुचि रखते हैं। इस यात्रा का एक अन्तिम पड़ाव है, वहाँ तक हम सब मिलकर यदि इस कठिन यात्रा को पूरा करते हैं तो यात्रा का कष्ट कुछ कम हो जाता है, निराशा नहीं आती, हम सभी साधकों को परस्पर एक दूसरे से अपेक्षित उत्साह व सहयोग मिलता रहता है, एक दूसरे से पुष्टि प्राप्त होती रहती है। एक अर्थ में शास्त्र, गुरु-आचार्यों का मार्गदर्शन व श्रेष्ठ मित्रों व सुहृदों का यह पारस्परिक सहयोग इस जीवन यात्रा में कम्पास (दिशाबोधक यन्त्र) का काम करता है, हम को इस साधना के महाबीहड़ वन में या महासागर में भटकने से बचाता रहता है। सो उस अन्तिम पड़ाव तक यह यात्रा यदि मिलकर पूरी की जाये तो साधक सुरक्षित भी रह सकता है और यात्रा सुखद भी हो सकती है किन्तु उस अन्तिम बिन्दु के पश्चात् तो अकेले-अकेले को ही छलांग लगानी होती है। स्वरूपप्रतिष्ठा या कैवल्य की स्थिति में समस्त सात्त्विक आलम्बन भी स्वतः ही छूट जाते हैं क्योंकि उनका कार्य पूर्ण हो जाता है। चाहे वे आलम्बन कितने भी उत्कृष्ट क्यों न हों— श्रेष्ठतम ज्ञान के रूप में वेद, दर्शन, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, गुरु-आचार्य, समस्त उपलब्ध ज्ञान, गहन विचार, बाह्य पदार्थ, आन्तरिक व बाह्य समस्त क्रियाएँ आदि।

ॐ

दृष्टि

—: लेखक :—
आचार्य प्रद्युम्न



दिव्य प्रकाशन
दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट

संस्करण : तृतीय संस्करण (वि०सं० २०७६)

प्रतियाँ : १०००

सर्वाधिकार : © प्रकाशकाधीन

ISBN - 978-93-88508-45-2

प्रकाशक :

दिव्य प्रकाशन

दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट)

कार्यालय - पतंजलि योगपीठ

महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग,

निकट बहादुराबाद, हरिद्वार-२४९४०७ (उत्तराखण्ड)

दूरभाष : ०१३३४-२४०००८, २४६७३७, २४८८८८, २४८८९९

फैक्स : ०१३३४-२४८८०५, २४०६६४

ईमेल : divyayoga@rediffmail.com

वेबसाइट : www.divyayoga.com

प्राप्ति स्थान :

१. पतंजलि योगपीठ

महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग

निकट बहादुराबाद, हरिद्वार, २४९४०५ (उत्तराखण्ड)

२. आर्ष गुरुकुल खानपुर, पो०- मण्डाणा,

जिला- महेन्द्रगढ़, तहसील- नारनौल, (हरियाणा)

दूरभाष : ०९४१६८-१८०६१

मूल्य : १३० रुपये

मुद्रक :

रिषि ऑफ़सेट प्रिन्टर्स

अशोका टॉकीज़ के सामने, वेद मन्दिर,

ज्वालापुर, हरिद्वार-249407 (उत्तराखण्ड)

चलदूरभाष : 9760284597, 9837120375

ईमेल : rishioffset@gmail.com

विषय-सूची

क्र०सं०	विषय	पृष्ठ सं०
(१)	आत्म-निवेदन	(५)
(२)	मानवीय जीवन का विश्लेषण व साधक की साधना का पाथेय	(८)
(३)	प्राक्कथन	(२०)
(४)	पुस्तक के बारे में	(२४)
१.	भगवान् की प्रतिज्ञा	१
२.	वैदिक प्रार्थना	३
३.	साधक-असाधक	८
४.	प्रभो! वर दो	२४
५.	साधकों से	४३
६.	दुःख	१०४
७.	दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः	११२
८.	समस्याएँ और उनका समाधान	१२५
९.	ऊर्जा का सदुपयोग	१२७
१०.	सम्बन्ध	१२९
११.	मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु	१४०
१२.	भय और अभय	१५१
१३.	ऋत-नियम	१५६
१४.	प्रज्ञापराध	१६९
१५.	पाँच यम	१७४
१६.	धर्म का स्वरूप	१७७
१७.	क्लिष्टवृत्ति व अक्लिष्ट वृत्तियाँ	१७९
१८.	प्रेक्षापूर्वकारी : सम्भिन्नबुद्धि	१८१
१९.	मैं कौन ?	१८५

२०. होशपूर्ण जीवन	१८६
२१. अपने असली स्वरूप की खोज	१८८
२२. जीवन के दो पथ	१९१
२३. सांख्ययोग व भक्तियोग	१९४
२४. सतां संगो हि भेषजम् (सत्संगतिः)	२०२
२५. श्रद्धा	२०७
२६. शुद्ध हृदय	२१६
२७. भाव- श्रद्धा, भक्ति व प्रेम	२२०
२८. ज्ञान और भाव	२२४
२९. व्रत-दीक्षा-तप	२२८
३०. अहङ्कार और प्रेम	२३४
३१. मृत्यु	२३८
३२. जीवन के चार सोपान	२४२
३३. स्वतन्त्रता व आवश्यक परतन्त्रता	२४७
३४. घटना एक दर्शन अनेक	२५४
३५. काम	२६७
३६. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः	२८३
३७. द्रष्टा-दृश्य	२८५
३८. ब्रह्म के दो रूप- सगुण-निर्गुण	२९२
३९. संध्या, शास्त्र व सत्संग का स्वयं में अवतरण	३११
४०. सहज आनन्द	३१३
४१. आत्मसाक्षात्कार के उपाय	३१८
४२. मोक्ष-विद्या	३२१



(१) आत्म-निवेदन

शास्त्रों से, महापुरुषों से, अपने अनुभवों से अब तक जो ज्ञान उपलब्ध हुआ, वह सब आधार बना है इस दृष्टि (दर्शन) के विकास का। लेखक जो कुछ लिखता है स्वयं को केन्द्र में रखकर लिखता है, स्वयं के लिए लिखता है, किन्तु इस महायात्रा में उन लोगों को भी आमन्त्रण देना चाहता है जो उसके साथ समान अभिरुचि रखते हैं। इस यात्रा का एक अन्तिम पड़ाव है, वहाँ तक हम सब मिलकर यदि इस कठिन यात्रा को पूरा करते हैं तो यात्रा का कष्ट कुछ कम हो जाता है, निराशा नहीं आती, हम सभी साधकों को परस्पर एक दूसरे से अपेक्षित उत्साह व सहयोग मिलता रहता है, एक दूसरे से पुष्टि प्राप्त होती रहती है। एक अर्थ में शास्त्र, गुरु-आचार्यों का मार्गदर्शन व श्रेष्ठ मित्रों व सुहृदों का यह पारस्परिक सहयोग इस जीवन यात्रा में कम्पास (दिशाबोधक यन्त्र) का काम करता है, **हम को इस साधना के महाबीहड़ वन में या महासागर में भटकने से बचाता रहता है।** सो उस अन्तिम पड़ाव तक यह यात्रा यदि मिलकर पूरी की जाये तो साधक सुरक्षित भी रह सकता है और यात्रा सुखद भी हो सकती है किन्तु उस अन्तिम बिन्दु के पश्चात् तो अकेले-अकेले को ही छलांग लगानी होती है। स्वरूपप्रतिष्ठा या कैवल्य की स्थिति में समस्त सात्त्विक आलम्बन भी स्वतः ही छूट जाते हैं क्योंकि उनका कार्य पूर्ण हो जाता है। चाहे वे आलम्बन कितने भी उत्कृष्ट क्यों न हों- श्रेष्ठतम ज्ञान के रूप में वेद, दर्शन, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, गुरु-आचार्य, समस्त उपलब्ध ज्ञान, गहन विचार, बाह्य पदार्थ, आन्तरिक व बाह्य समस्त क्रियाएँ आदि। कहा भी है- **उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते। उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते।।**

अर्थात् उपायों को उपाय इसलिये कहते हैं कि ग्रहण करके भी आखिर तो उन्हें छोड़ना ही होता है। एक लक्ष्य तक पहुँचने के लिये कई उपाय हो सकते हैं किन्तु जो भी हों अन्ततः तो छूट ही जाते हैं या छोड़ने ही होते हैं।

पतञ्जलि योगपीठ के संस्थापक, अपने ज्ञान उत्साह और अखण्ड

पुरुषार्थ से जिन्होंने योग, आयुर्वेद, स्वदेशी व वैदिक संस्कृति को राष्ट्र एवं विश्वपटल पर पूर्ण गौरव के साथ प्रतिष्ठापित किया। जिन्होंने अपने दिव्य व्यक्तित्व से करोड़ों लोगों के जीवन में एक सकारात्मक सात्त्विक रूपान्तरण किया, जो ब्रह्मभाव में रहते हुए भागवत कर्म करने वाले निष्काम कर्मयोगी, सम्पूर्ण विश्व को निरन्तर वैदिक योग-ध्यान-समाधि का व्यावहारिक प्रशिक्षण दे रहे हैं और ऋषियों की आध्यात्मिक विरासत को प्रामाणिकता से आगे बढ़ा रहे हैं, वैदिक गुरुकुलम्, वैदिक कन्या गुरुकुलम्, आचार्यकुलम् एवं पतञ्जलि विश्वविद्यालय आदि के माध्यम से वैदिक व आध्यात्मिक भारत तथा आध्यात्मिक विश्व के निर्माण हेतु सतत पुरुषार्थरत हैं ऐसे **श्री स्वामी रामदेवजी महाराज** तथा योगपीठ के विविध प्रकल्पों के कुशल संचालक, संसार में आयुर्वेद की प्रतिष्ठा हेतु सतत तप व प्रखर पुरुषार्थ करने वाले एवं श्री स्वामी जी के संकल्पों को मूर्तरूप देने वाले, निर्लोभ प्रवृत्ति के जीवन्त आदर्श पतञ्जलि योगपीठ के महामन्त्री **श्री आचार्य बालकृष्ण जी** जिन्होंने श्री स्वामी रामदेव जी के दायें हाथ बनकर हजारों तपस्वी ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों तथा पूरी मानवता या समष्टि के मार्गदर्शन व जीवन निर्माण हेतु महत्त्वपूर्ण दायित्व अपने हाथ में लिया हुआ है। श्री स्वामी जी के प्रति जिनका समर्पण, जिनकी निष्ठा, जिनका भाव (Understanding) अद्भुत है। बल्कि यह कहना चाहिए दोनों का ही परस्पर एक दूसरे के प्रति सहयोग, सम्मान, विश्वास, प्रेम व एकत्व का भाव अनुगमनीय है। इन दोनों पवित्र आत्माओं के लिये अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। भगवान् से इनके दीर्घायुष्य, सुन्दर स्वास्थ्य, मनःशान्ति, विमल मेधाशक्ति के लिये प्रार्थना करता हूँ कि इनके द्वारा आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण का यह भागवत कार्य सतत चलता रहे।

आशा व ऊर्जा से भरे अद्भुत मेधासम्पन्न युवा संन्यासी **श्री स्वामी गणेशानन्द जी**, उत्तम प्रज्ञावान् श्रेष्ठ धर्मिष्ठ पुरुष **प्रो० श्री कमलेश कुमार जी** अहमदाबाद, संस्कृत भाषा के प्रामाणिक विद्वान् **प्रो० विजयपालजी 'प्रचेता'** (पतञ्जलि योगपीठ आयुर्वेद शोध-विभाग), महिला पतञ्जलि योगसमिति की केन्द्रीय प्रभारी **आचार्या डा० सुमन जी**, पतञ्जलि योगपीठ के वैदिक

कन्या गुरुकुल की **विदुषी आचार्या बहन सविता जी**, वैदिक गुरुकुल के प्रिय **ब्र० संदीप जी** तथा अन्य ब्रह्मचारियों ने भी इस पुस्तक के शुद्ध प्रकाशन में जो अपना सहयोग एवं सेवाएँ दी, इसके लिए इन सब को आशीर्वाद व धन्यवाद।

ऋषि ऑफ़सेट प्रिन्टर्स के संचालक प्रिय **डा० यशदेव शास्त्री जी** को भी धन्यवाद, जिन्होंने इस पुस्तक के सुन्दरतम प्रकाशन में मनोयोगपूर्ण सहयोग दिया।

अन्त में भगवान् व उनके पुत्र-पुत्रियों के चरणों में यह पुस्तकरूपी पुष्प अर्पित करता हुआ विराम लेता हूँ।

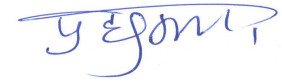
ओ३म् नमः ऋषिभ्यः पूर्वजैभ्यः पूर्वैभ्यः पथिकृद्भ्यः।

वैदिक गुरुकुलम्

पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

दिनांक : २८ मार्च, २०१५

विदुषां विधेयः



प्रद्युम्नः

(२) मानवीय जीवन का विश्लेषण व साधक की साधना का पाथेय

—स्वामी रामदेव

सामान्यतः मनुष्य के जीवन को हम चार श्रेणियों में देखते हैं— अशुभ जीवन, सामान्य जीवन, शुभ जीवन एवं दिव्य जीवन। अशुभ जीवन में व्यक्ति अज्ञान-अविद्यादि क्लेशों, काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकारादि विकारों, क्लिष्ट वृत्तियों, हिंसा, झूठ, चोरी, अनाचार, अन्यायपूर्ण संग्रह, अशुचिता, असंतोष, अकर्मण्यता, आत्मविमुखता, नास्तिकता एवं अन्य नाना प्रकार के विकारों से भरा हुआ जीवन जीते हैं। निम्न चेतना में जीने वाले अशुभ प्रवृत्ति व प्रकृति के इन लोगों की आत्मा में भी परमात्मा की सत्यमय, ज्ञानमय, प्रेममय एवं पुरुषार्थमय प्रेरणाएँ उठती तो है परन्तु स्वार्थ, अज्ञान, हठ, दुराग्रह एवं अशुभ अभ्यासों के कारण वे ईश्वरीय प्रेरणाओं को अनसुना कर देते हैं, अन्यथा सभी मनुष्यों के आत्मा में सत्य के प्रति श्रद्धा एवं असत्य के प्रति अश्रद्धा का भाव स्वाभाविक रूप से होता है।

इन लोगों को भी अशुभ आचरण करने पर इनकी आत्मा धिक्कारती भी है व दुःखी भी होती है। ईश्वरीय न्याय व कर्मफल व्यवस्था के अनुसार इनको भी दण्ड मिलता है। ये लोग बाहर से भले ही सुखी दिखते या दिखाते हों पर भीतर से स्वयं भी दुःखी रहते हैं और अन्यो को भी दुःख देते रहते हैं। (इसमें अधिकांश गरीब लोग होते हैं, परन्तु कई बार इस अशुभ जीवन को जीते हुए भी कुछ लोग अन्यायपूर्ण पुरुषार्थ व अन्य गलत उपायों को अपनाकर सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान एवं भौतिक सुखों को भी प्राप्त कर लेते हैं) और इसी को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान लेते हैं, इससे भी अधिक दुर्भाग्य व आश्चर्य इस बात का है कि कई बार ऐसे अशुभ, पापमय, पशुता या असुरता का जीवन जीने वाले व्यक्तियों को देखकर अन्य सामान्य जीवन जीने वाले लोग भी शुभ धर्मयुक्त जीवन, दिव्य जीवन या भागवत जीवन को आदर्श न मानकर इस निम्न कोटि के अज्ञान-अंधकारमय एवं पापमय जीवन को ही

आदर्श मान लेते हैं और भगवान् की कर्मफल व्यवस्था, न्याय व्यवस्था एवं ईश्वरीय ऋत नियमों पर शंका करने लगते हैं, उनका विश्वास डगमगाने लगता है।

दूसरा सामान्य जीवन जीते हुए अधिकांश लोगों को देखते हैं जो जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए पूरी ईमानदारी से मेहनत, मजदूरी, श्रम या विभिन्न क्षेत्रों में सामान्य व विशेष पुरुषार्थ करते हैं। अपनी सफलता, समृद्धि व सुख के साथ वे अन्यो की भी सफलता समृद्धि व सुख का ध्यान रखते हैं।

सामान्य जीवन जीने वाले अधिकांश लोगों के भौतिक जीवन का स्तर भी सामान्य या मध्यम ही होता है, परन्तु कई बार इनमें अत्यन्त गरीब व अत्यन्त अमीर व्यक्ति भी देखे जाते हैं। इन लोगों के दोनों तरफ जाने की संभावना बनी रहती है। इन लोगों को किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ समर्थ गुरु, वेद, शास्त्र या सात्त्विक लोगों का सान्निध्य निरन्तर मिलता रहे तो ये सामान्य लोग पूर्ण शुभ जीवन और उसके बाद क्रमशः आरोहण करते हुए दिव्य जीवन के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं और यदि उपयुक्त अनुकूल ज्ञानमय, सात्त्विक, धार्मिक व आध्यात्मिक, सुन्दर, शुभ व दिव्य वातावरण न मिले और यदि वे सत्य व सत्याचरण के मार्ग को पकड़कर नहीं रख पाये तो अज्ञान के कारण ये निम्न कोटि के अशुभ जीवन की ओर भी नीचे गिर सकते हैं, गिरते दिखते हैं और गिरने की संभावना हर समय बनी रहती है।

तीसरी तरह के वे लोग हैं जिनको विवेक व विचार पूर्वक यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि धर्म का मार्ग ही श्रेष्ठतम है। मनुष्य के ऊपर एक ईश्वरीय सत्ता है और उसकी न्याय व्यवस्था, कर्मफल व्यवस्था व ऋत नियमों में ही यह पूरा अस्तित्व चल रहा है। पुनर्जन्म व पूर्व जन्म भी है। यदि मैं ईश्वर की व्यवस्था, कानून या वेद के विधान का, राष्ट्र के संविधान का, साथ ही समाज की सात्त्विक मर्यादाओं एवं विश्व या समष्टि के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का विवेक व न्यायपूर्ण निर्वहन नहीं करूँगा तो मुझे दुःख, कष्ट

व पीड़ा को भोगना ही पड़ेगा, मैं इससे बच नहीं सकता और यदि मैं सत्य व धर्म के मार्ग पर चलता हुआ पूर्ण पुरुषार्थ करता हुआ आगे बढ़ूंगा तो मेरी उन्नति या प्रगति भी कोई रोक नहीं सकता।

ऐसे पूर्ण सात्त्विक व धार्मिक लोगों में भौतिक दृष्टि से या सांसारिक ऐश्वर्य, पैसा-प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से देखा जाए तो दो प्रकार के लोग होते हैं— एक सामान्य ऐश्वर्य वाले तथा दूसरा विशेष ऐश्वर्य वाले जिनके पास अकूत संसाधन, धन-सम्पत्ति, सत्ता, सम्मान एवं सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाएं प्रचुर मात्रा में होती हैं।

ऐसे लोग अधिकांशतः ऐसा सोचते हैं कि हम पूर्ण समृद्धि, सुरक्षा, सफलता, सुख, शान्ति, सम्मान, सम्बन्ध व समाधानपूर्वक पूर्ण प्रसन्नता का जीवन जी रहे हैं। शुभ कर्म, पुण्य कर्म, देश, धर्म, संस्कृति, समाज, मानवता व समष्टि की सेवा भी कर रहे हैं। हमें मुक्ति नहीं चाहिए, हम तो यहीं सुखी हैं— देखो कितनी सुन्दर भगवान् की सुखों से भरी सृष्टि है, कितने अच्छे हमारे पवित्र सम्बन्ध हैं, कितना यहाँ ऐश्वर्य व सौन्दर्य है। घर-परिवार-समाज व राष्ट्र का कितना सुख है, भगवान् से भी वे यही प्रार्थना करते हैं कि प्रभु हमें बार-बार मनुष्य का जन्म देना। पूर्ण स्वस्थ, बलवान् व सामर्थ्यवान् शरीर, प्रज्ञावान् मस्तिष्क तथा प्रेम से भरा हृदय देना। श्रेष्ठ कुल, माता-पिता, विद्वान् आचार्यों एवं योगियों का संग व सात्त्विक संस्कार देना। श्रेष्ठ सदगृहस्थ बनाना। समृद्धि, सुख, शान्ति व संतुष्टि पूर्वक जीवन जीने का सामर्थ्य देना।

हम देखते हैं कि ऐसे जीवन जीने वाले लोग हैं और आगे भी होंगे। ऐसे लोग कभी-कभी जब शरीर में रोग विशेष, बुढ़ापा, मृत्यु, वियोग या कोई दुःख विशेष आता है अथवा सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान या भौतिक सुखों की अत्यन्त हानि होती है, तब तो निःश्रेयस, संन्यास, विवेक-वैराग्य या मुक्ति के बारे में सोचते हैं और जैसे ही परिस्थिति ठीक होती है तो पुनः संतुष्ट होकर सात्त्विक, धार्मिक व शुभ जीवन का सुख भोगने लगते हैं।

चौथी तरह के मनुष्य वे हैं जिनके अनेक जन्मों के सुसंस्कार, श्रेष्ठ

प्रारब्ध, इस जन्म का अत्यन्त पुरुषार्थ, तत्त्ववेत्ता-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ समर्थ गुरुओं का पावन सान्निध्य, अध्यात्म विद्या का निरन्तर अभ्यास, श्रद्धापूर्वक वेदाध्ययन एवं पूर्ण श्रद्धा के साथ निरन्तर योगाभ्यास, ध्यान व समाधि की अनुभूति करते-करते यह दृढ़ निश्चय हो गया है और मानव जीवन का रहस्य पूरी तरह जिनको ज्ञात हो गया है कि अशुभ, सामान्य व शुभ जीवन से भी परे एक जीवन है, जिसमें दुःखों की पूर्ण निवृत्ति है। मैं कितना ही पुण्यशील क्यों न बन जाऊँ, कितना ही उपकार क्यों न कर लूँ, पूर्ण सात्त्विक पवित्र जीवन जीते हुए मैं कितना ही ऐश्वर्य-सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान प्राप्त कर लूँ और संसार के सब श्रेष्ठ सुखों का स्वामी भी बन जाऊँ, संसार की या समष्टि की कितनी भी बड़ी सेवा करने में समर्थ हो जाऊँ और सेवा कर भी लूँ, तो भी मैं कर्म, कर्मफल व्यवस्था और इसका परिणाम जन्म, आयु व भोग आदि से बच नहीं सकता हूँ। जब तक शरीर रहेगा तब तक मैं शरीर, इन्द्रियों व मन से किये गए पुरुषार्थ से अर्जित सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्य, अपरिमित धन-सम्पत्ति व श्रेष्ठतम सम्बन्धों व समस्त सांसारिक सुखों के होते हुए भी पूर्ण तृप्त, अपिपास, पूर्ण सुखी, पूर्ण शान्त, पूर्ण प्रसन्न या पूर्ण आनन्द में नहीं रह सकता। छोटी या बड़ी इच्छा, सफलता व सुख की प्राप्ति से जहाँ मैं सुखी होता हूँ, वहीं छोटी व बड़ी इच्छाओं के विघात, विफलताओं व असमर्थताओं से दुःखी भी होता हूँ। मेरा शरीर चाहे कितना ही बलवान् क्यों न हो इसके सुख भोगने का एक सीमित सामर्थ्य है और चाहे शरीर का सुख हो या शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का सुख हो या फिर काम सुख हो अथवा सत्ता-सम्पत्ति, सम्मान, समाज, समष्टि, प्रेम व गौरवपूर्ण सम्बन्धों का सुख हो; ये सब सुख भी मुझे पूर्ण सुखी नहीं कर सकते क्योंकि शरीर, इन्द्रियों व मन से अनुभव किए जाने वाले सुख की अनुभूति का यह भी एक निर्विवादित सत्य है कि सुख भोगने से सुख की इच्छा की पूर्ति नहीं होती अपितु अधिक वेग के साथ वह इच्छा या तृष्णा पहले से भी अधिक प्रबल हो जाती है और संसार के गरीब से लेकर अमीर से अमीर तथा अविद्वान् से लेकर सभी विद्वानों का यह मानना भी है और उनका अनुभव भी है कि सुख भोगने से कभी भी सुख पाने की तृप्ति नहीं होती अपितु सुख

भोगने की इच्छा, कामना या तृष्णा सभी रूपों में और अधिक प्रबल होती चली जाती है। जैसा कि कहा भी है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते ।। मनु० २.९४ ।।

पूर्ण वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।

तदप्यनुदिनं तृष्णा मम तेषूपजायते ।।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।

नैकस्यापि हि पर्याप्तं तस्मात् त्यक्त्वा शमं व्रजेत् ।।

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।। न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।।

संसार के सब सुख, संसार का सब ऐश्वर्य, सम्पूर्ण सत्ता व सम्मान आदि पहली बात तो एक व्यक्ति को मिल नहीं सकते, दूसरी बात यदि मिल भी जाए तो एक व्यक्ति की भी कामनाओं, तृष्णाओं या सुखों की भूख उससे पूरी नहीं हो सकती। अतः एक पूर्ण विवेकी विद्वान् योगी जब सब प्रकार चिन्तन, मनन, मंथन व अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पूर्ण सुख कामनाओं, भौतिक ऐश्वर्य, सत्ता व सम्मान आदि में नहीं है और इन्द्रियों व मन के सीमित सामर्थ्य से मैं असीमित सुख को नहीं प्राप्त कर सकता तथा इनसे मैं पूर्ण तृप्त, पूर्ण शान्त नहीं हो सकता तो वह भूमा या भगवान् के अनन्त पथ का पथिक बन जाता है और वह निःश्रेयस, संन्यास या योगमार्ग को अपनाता है। उसको यह निर्भ्रान्त दृढ़निश्चय हो जाता है कि **यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति**। जीवन में जो हमने पा लिया होता है वह सदा अल्प ही होता है चाहे कितना कुछ भी प्राप्त हो जाये तथा जो नहीं पाया होता है वह हमारे लिए भूमा या अधिक होता है। थोड़े में व्यक्ति तृप्त होता नहीं है क्योंकि उसको सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान व सुखादि सब कुछ अधिक चाहिए एवं अधिक उसको कभी मिलता नहीं है क्योंकि जो भी मिलता है, वही थोड़ा या अल्प पड़ जाता है। प्राप्ति समाप्ति का क्रम चलता रहता है और व्यक्ति दुःखी अशान्त, अधीर व निराश होकर अपूर्णता का जीवन जीता रहता है। वैसे भी

बाहर का सम्पूर्ण साम्राज्य व ऐश्वर्य आखिर एक व्यक्ति को कैसे मिल सकता है, यह न तो न्यायपूर्ण है और न ही व्यावहारिक रूप से संभव है। आखिर एक समय में करोड़ों व्यक्ति एक साथ सबके सब प्रथम कोटि के धनवान्, ऐश्वर्यवान्, पावरफुल, पोपुलर, सर्वशक्तिसम्पन्न, जगत्प्रसिद्ध व विश्व विजेता कैसे हो सकते हैं? हाँ! भीतर के दिव्य ज्ञान, दिव्य प्रेम, मैत्री, करुणा, मुदिता, प्रसन्नता, श्रद्धा, भक्ति, समर्पण, कृतज्ञता, कर्तव्य परायणता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, संयम, अपरिग्रह, शुचिता व संतोष रूपी सुख को सृष्टि की सभी दिव्य आत्माएं एक साथ पा सकती हैं। यही साधनागत व साधनगत ऐश्वर्य का भेद भी है।

साथ ही बाहर के ऐश्वर्य समृद्धि या भौतिक सुख को पाने में तो अन्यायपूर्ण उपाय भी अपनाए जाते हैं अथवा अपना सकते हैं और उससे भौतिक ऐश्वर्य पा भी सकते हैं एवं पाते भी हैं। परन्तु भीतर के ऐश्वर्य को पाने के लिए तो साधना का एक सार्वभौमिक, सार्वकालिक, प्रामाणिक, पंथ निरपेक्ष व वैज्ञानिक मार्ग है उसी पर चलना पड़ता है और जो भी उस पर चलेगा वही भीतर के पूर्ण स्वराज्य, साम्राज्य तथा अनन्त, अपरिमित व असीम सुख, शान्ति, सन्तोष, आनन्द व मुक्ति के सुख या आनन्द को पा सकता है और अपने सम्पूर्ण दुःखों से पूर्ण मुक्त हो सकता है। इस दिव्य आध्यात्मिक वैदिक पथ पर चलकर ही कोई साधक पूर्ण योगी हो सकता है।

इस योग मार्ग के दो मूलभूत साधन हैं— विवेक व वैराग्य। विवेक वैराग्य को हम साधकों के जीवन में दो चरणों में देखते हैं। प्रथम चरण होता है विवेक वैराग्यपूर्वक साधक संसार की समस्त वस्तुओं, व्यक्तियों व इनके द्वारा उपलब्ध होने वाले क्षणिक सुखों से अपनी अविवेक, अज्ञान व मिथ्याज्ञान पूर्ण आसक्ति को हटाता है और इसके परिणाम स्वरूप अनृत से आवृत सत्य का उद्घाटन व उपलब्धि होने पर दूसरे चरण में सम्पूर्ण अस्तित्व में **‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’** की अनुभूति करता हुआ प्रकृति को भगवान् की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में देखता हुआ यह अनुभव करता है कि जब भगवान् शुद्ध हैं तो

उनकी रचना दोषपूर्ण कैसे हो सकती है। वैराग्य के इस दूसरे चरण में साधक सम्पूर्ण अस्तित्व को भगवान् का मूर्त रूप मानकर 'द्वे ह वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च यद् ब्रह्मविदो वदन्ति' (उपनिषद्) समस्त दृश्य स्वरूपों में वह भगवान् का ही दर्शन करता है। सब स्वरूपों में ब्रह्म स्वरूप, सब सम्बन्धों में ब्रह्मसम्बन्ध, सब सुखों में ब्रह्मसुख, सब ऐश्वर्यों में ब्रह्मैश्वर्य एवं सब कार्यों में ब्रह्मकर्म को ही साधक अनुभव करता है। सब रचनाओं में रचयिता का, माया में मायापति का एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के एकत्व की ही साधक अनुभूति करता हुआ सर्वत्र भगवान् की ही महिमा का प्रत्यक्ष दर्शन करता है और ऐसे साधक को सम्पूर्ण विश्व प्रार्थनामय या भगवान् की उपासना में लीन दिखाई देता है। इसको वेद में कहा है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (वेद) ।

विवेक-वैराग्य पूर्वक साधक जब इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि मुझे समस्त अपूर्णताओं, इच्छाओं, कामनाओं, आसक्तिपूर्ण मांगों एवं अभीष्ट परिणामों, फलों, बाह्य सफलताओं या असफलताओं से अब मुक्त होना है। लाभ-हानि, जय-पराजय, अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं, सम्पत्ति-विपत्ति, मान-अपमान, सुख-दुःख के द्वन्द्व एवं क्षणिक व अस्थायी सुख, अस्थायी सफलता एवं अस्थायी क्षणिक शान्ति अब मुझे नहीं चाहिए। मुझे तो दुःख से पूर्ण मुक्ति तथा स्थायी सुख-शान्ति, पूर्ण समाधान व सफलता चाहिए।

मुझे तो उस अवस्था को पाना है जिसे पाने के बाद कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। पूर्णता, पूर्ण विश्रान्ति, पूर्ण शान्ति व अकामता की स्थिति में साधक अपनी सारी अविवेकपूर्ण एवं अज्ञानपूर्ण कामनाओं से मुक्त हो जाता है। इसे ही शास्त्र में अकाम, निष्काम, आत्मकाम, आप्तकाम या ब्रह्मकाम होना कहा गया है। जब साधक अपनी सारी कामनाओं से मुक्त होकर आत्मा में परमात्मा की जो प्रेरणा उठती है बस भगवान् की उस पूर्ण शुद्ध प्रेरणा, भगवदिच्छा को भगवान् का आदेश मानकर, भगवान् का यन्त्र बनकर निमित्त-मात्र भाव से

बिना किसी परिणाम या फल की इच्छा के कर्म, प्रवृत्ति, पुरुषार्थ, तप या सेवा करता है तो वह कार्य किसी भी क्षेत्र का कितना ही बड़ा विराट या कितना ही छोटा या सूक्ष्म भी हो तो भी वह दिव्य ही होगा। परन्तु इसका क्षेत्र व आकार का भौतिक मूल्यांकन (आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय या वैश्विक मूल्यांकन) यथार्थ से कम भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता या होता है, कर सकते हैं या करते हैं क्योंकि भौतिक जगत् में कार्य का प्रकार व आकार देखा जाता है, साथ में ही मूल्यांकन करने वालों का ज्ञान, चेतना व जीवन का स्तर क्या है इस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

परन्तु साधक या सिद्ध इसकी परवाह या चिन्ता नहीं करता, यह उसकी कसौटी ही नहीं है कि उसके कार्य, सेवा या जीवन का मूल्यांकन कैसे हो रहा है। वह तो भगवान् का यन्त्र बनकर बस दिव्य जीवन जी रहा है, उससे समष्टि में जो भी हो रहा है, उसे वह भगवान् का विधान, व्यवस्था, भगवदिच्छा व भगवत् सेवा मानकर सदा पूर्ण सुखी, संतुष्ट व तृप्त रहता है। भगवान् की इच्छा व भगवान् की इच्छा के अनुरूप पूर्ण शुद्धतम आचरण होता है ऐसे साधक का।

ऐसा साधक क्योंकि पूर्ण पवित्र होता है, भगवान् की उपासना व निष्काम सेवा से उसके विकार या क्लेश तनु व अन्ततः दग्धबीज हो जाते हैं। वह भगवान् का कृपा पात्र बन जाता है और ईश्वरीय ज्ञान, प्रेम व सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। और उसको अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दिव्य ईश्वरीय प्रेम तथा अतीन्द्रिय दिव्य ईश्वरीय शक्ति-सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक योगी और ऐसे ही पूर्ण प्रज्ञावान्, प्रेममय, करुणामय, पूरी समष्टि के लिए वात्सल्य का जीवन जीने वाले दिव्य शक्ति-सामर्थ्य युक्त योगी इस संसार में पहले भी हुए हैं, आज भी हैं और आगे भी होंगे।

इन संन्यासियों, योगियों, सिद्ध साधकों, ऋषि-मुनियों या आचार्यों में कुछ बाह्य शक्ति-सामर्थ्य से अत्यन्त सम्पन्न होते हैं, तो किसी-किसी में यह बाह्य सामर्थ्य उतना नहीं होता। किसी-किसी के जीवन में अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की ही पराकाष्ठा देखने को मिलती है तो किसी-किसी महापुरुष के

जीवन में सामान्य या मध्यम कोटि का अभ्युदय देखने को मिलता है और किसी-किसी योगी (सिद्ध साधक) के जीवन में तो बाह्य रूप से अत्यन्त दरिद्रता या कहें कि अभ्युदय अत्यधिक न्यूनतम स्तर पर देखने को मिलता है परन्तु निःश्रेयस के क्षेत्र में वे पूर्ण प्रतिष्ठित होते हैं। ऐसे में योगियों, संन्यासियों व सिद्ध-साधकों के बाह्य जीवन तथा अभ्युदय साधनों को देखकर न तो उनका अधिमूल्यन करना चाहिये और न ही अवमूल्यन, क्योंकि बाह्य अभ्युदय तो अनेक जन्मों व इस जन्म के पुण्य पुरुषार्थ, पुरुषार्थ के क्षेत्र, उसकी मात्रा व तात्कालिक समाज के द्वारा उसके मूल्यांकन पर निर्भर करता है। एक बात निर्विवादित रूप से पूर्ण सत्य है कि योगियों के जीवन में ईश्वर की कर्मफल व न्याय व्यवस्था तथा समाज के स्तर के अनुसार कम या अधिक अभ्युदय देखने को मिल सकता है परन्तु निःश्रेयस (आन्तरिक ऐश्वर्य, ज्ञान की शुद्धता, प्रेम की शुद्धता व जीवन की या आचरण की शुद्धता) सब महापुरुषों में एक समान ही होगा, उनका जीना व यहाँ से जाना दोनों ही गौरव पूर्ण व दिव्य होंगे।

मैंने भी बहुत विचार-विमर्श, चिन्तन, मंथन व बहुत प्रकार की अभ्युदय व निःश्रेयसगत अनुभूतियों को अनुभव करके आप्तकाम या आत्मकाम होकर जीने का निर्णय लिया है और एक साधक की तरह इस मार्ग पर चल रहा हूँ और अन्तिम श्वास तक चलींगा। आत्मा में उतरने वाली परमात्मा की प्रेरणा व तदनुरूप आचरण (कर्म, प्रवृत्ति, पुरुषार्थ, तप या सेवा) को ही मैंने स्वधर्म बनाया हुआ है तथा ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय प्रेम व ईश्वरीय शक्ति-सामर्थ्य को मैं अपने भीतर हर पल अनुभव करता हूँ और लगभग ९९% इसी दिव्यता व पूर्णता में जीते हुए जीवन्-मुक्ति के दिव्य सुख की अनुभूति भी करता हूँ।

श्रद्धेय गुरुदेव ने प्रस्तुत पुस्तक 'दृष्टि' ऐसे ही साधकों के लिए लिखी है जो निम्न जीवन, सामान्य जीवन व शुभ जीवन के तुच्छ प्रलोभनों से मुक्त होकर दिव्य जीवन जीना चाहते हैं।

जो इस सम्पूर्ण दृश्य व अदृश्य अस्तित्व के मूल में एक अलौकिक सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वनियन्त्रक, सर्वज्ञ एवं सच्चिदानन्द स्वरूप

शक्ति भगवान् के रूप में कार्य कर रही है और जो सम्पूर्ण ज्ञान, समस्त संवेदनाओं एवं सम्पूर्ण शक्ति-सामर्थ्य, ऐश्वर्य का मूल स्रोत है जिससे सब कुछ है, जिसमें सब कुछ है और जिसका सब कुछ है और आज नहीं तो कल सबका अन्तिम गन्तव्य भी वही है उस भगवान् की ओर, अनन्त की ओर जो भी साधक भाई-बहन पुण्यात्मा-दिव्यात्मा आगे बढ़ना चाहते हैं जो इसी जन्म में दुःख के विकराल असह्य थपेड़ों से, हर पल चल रहे आन्तरिक द्वन्द्वों, भ्रांतियों, विरोधाभासों, अन्तर्विरोधों व अपूर्णताओं से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण प्रेम, पूर्ण तृप्ति, पूर्ण सन्तुष्टि, पूर्ण शान्ति व पूर्ण आनन्द के साथ जीवन को जीना चाहते हैं, वे इस पुस्तक को एक बार या बार-बार थोड़ा-थोड़ा करके अवश्य पढ़ें और जो पढ़ें उस ज्ञान को अपने भीतर स्थिर होने दें और उसी के अनुरूप जीएँ या आचरण करें क्योंकि ज्ञान की पहचान होती है जीवन से, जीवन की पहचान होती है आचरण से और आचरण की दिव्यता की पहचान होती है हमारी निरन्तरता के साथ प्रवाहमान होती प्रसन्नता से।

निःश्रेयस पथ के पथिक, दिव्य राह के राही सभी हमराही, हमसफर पुण्यात्माओं को हृदय की अनन्त शुभकामनाओं के साथ मेरा विनम्र प्रणाम।

साधक का केन्द्र व परिधि

श्रद्धेय गुरुदेव ने प्रस्तुत पुस्तक 'दृष्टि' में हजारों-हजारों प्रकार के साधकों को उनके अन्तिम गन्तव्य का संकेत किया है।

गुरु, शास्त्र, वेद व अपने अनुभवों से हम बहुत कुछ सीखते हैं। कई बार इन सब के बीच में साधक भ्रमित सा हो जाता है कि मेरे लिए साधना का पूर्ण सत्य पथ क्या है?

इस संदर्भ में सभी महापुरुषों, जीवन्मुक्त योगियों, वैदिक ऋषियों एवं अपने अनुभव से मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में सत्य-असत्य को जानने का एक सामान्य ज्ञान भगवत् कृपा से अवश्य होता ही है। इस ज्ञान के आधार पर व्यक्ति यदि यह निर्णय पूर्ण श्रद्धा व अटूट विश्वास के साथ स्वीकार कर ले कि मुझे आत्मा में परमात्मा की जो प्रेरणा-

आदेश-निर्देश-संदेश या आवाज-पुकार उठती है, उसका एक बार भी अनादर नहीं करना, उसे अनसुना नहीं करना और वैसे ही मुझे पूर्ण शुद्धता के साथ जीवन को जीना है, तो इसी से उसका निश्चित रूप से पूरा उद्धार हो जायेगा। पूरी अध्यात्म विद्या का निचोड़ दो शब्दों में कहें तो 'आत्म प्रेरणा' तथा 'आत्म प्रेरणा के अनुरूप पूर्ण शुद्ध आचरण'। आत्म प्रेरणा केन्द्र है तथा आत्म प्रेरणा के अनुकूल पूर्ण शुद्ध आचरण, कर्म या पुरुषार्थ यह परिधि है। लेखक के शब्दों में यही तंत की बात है, शेष तो इसी का विस्तार है।

जब परमात्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूप है तो आत्मा में परमात्मा की प्रेरणा भी शुद्ध ही होगी। मस्तिष्क में भगवान् का ज्ञान, हृदय में भगवान् का प्रेम तथा हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में कर्म या पुरुषार्थ का सम्पूर्ण सामर्थ्य भी शुद्धतम रूप में ही उतरेगा।

भगवान् की शुद्ध प्रेरणा, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध प्रेम एवं शुद्ध शक्ति सामर्थ्य से युक्त होकर जब हम जीवन जीयेंगे तो हमारा जीवन भागवत जीवन या दिव्य जीवन ही होगा, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं होना चाहिए।

वेद, गुरु, शास्त्र एवं वैदिक ऋषि इसी सत्य को विस्तार से हमें बताते हैं, जिससे कि हमें कहीं भी किसी भी प्रकार की भ्रान्ति न रहे।

भगवान् का पथ

श्रद्धेय गुरुदेव ने 'दृष्टि' नामक इस पुस्तक में साधक के जीवन में पल-पल व पग-पग में आने वाले उतार-चढ़ाव को अनुभूति के आधार पर शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। साधक के जीवन में ज्ञान, इच्छा, भाव, संवेदना, कर्म, अकाम एवं चिन्मय स्थिति के आरोहण व अवरोहण को साक्षी होकर देखा है और इनके निरन्तर परिष्कार की आनुभूतिक प्रक्रिया बताकर साधकों पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है। हमारे जीवन में ज्ञान, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अल्पज्ञान, भ्रान्तज्ञान, शुद्धज्ञान, तत्त्वज्ञान एवं शुद्धतम स्थिर ज्ञान की स्थिति में क्या-क्या, कैसे-कैसे घटित होता है और प्रतिक्षण हमारे आन्तरिक जीवन में चल रहे इस

प्रकाश व अन्धकार के संघर्ष में हम शुद्धतम ज्ञान को स्थिर बनाकर अपने भीतर के समस्त अशुभ से मुक्त होकर पूर्ण शुद्ध हृदय व पूर्ण शुद्ध आचरण से अपने जीवन को दिव्य कैसे बनाएं और चिन्मय होकर कैसे जिएं, इसकी प्रक्रिया को बहुत ही सरल, सहज व प्रामाणिक रूप से बताया है।

एक दृष्टि-सम्पन्न साधक को आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-विकृति, शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, यज्ञ-योग, कर्म-कर्मण्यता, कामनापूर्ति-कामनामुक्ति, कर्म के संस्कार, वासनाएं, क्लेश, सुख-दुःख, सुख व दुःख का हेतु, सर्वथा दुःख मुक्ति व उसके उपाय, यम-नियम और उनके फल, प्रतिपक्ष भावना, प्रत्याहार, मैत्री, करुणा, मुदिता भावनाएं, क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञान से मुक्त होकर अपवर्ग की प्राप्ति, सकाम-निष्काम व आप्तकाम, गुरु शास्त्र व वेद ज्ञान, सम्बन्ध व समाधान, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, साधना-साधन-साध्य विवेक, सिद्धि, भगवान् की विभूति, शरीर, इन्द्रियों व अन्तःकरण तथा आत्मा की पृथक्-पृथक् मूल माँगें एवं अध्यात्म के मूल तत्त्व शाश्वत प्रेम एवं एकत्व आदि शतशः सहस्रशः तत्त्व कैसे साफ-साफ दिखने लगते हैं और साधक इनके सम्यक् विवेक से कैसे विवेकख्याति को उपलब्ध होता है और अन्ततः अपने क्लेशों को तनु व दग्ध-बीज करते हुए प्रथम एक सच्चा साधक व अन्त में सिद्ध हो जाता है।

साधक व सिद्ध की इस साधना की यात्रा की घनघोर जटिलताओं से लेकर आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण सहज अवस्था का जीवन्त वर्णन करके श्रद्धेय गुरुदेव ने हमारे जीवन में सत्य व अनन्त के द्वार खोल दिए हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि लेखक के द्वारा अत्यन्त विनम्रभाव से की गई इस आध्यात्मिक सेवा से भगवान् के पथ पर चलने वाले अनन्त के साधकों का निश्चित ही पूरा उपकार होगा।



—स्वामी रामदेव

(३) प्राक्कथन

—आचार्य बालकृष्ण

श्रद्धेय आचार्य श्री प्रद्युम्न जी महाराज ने 'दृष्टि' नामक पुस्तक लिखकर साधकों को एक ऐसी अमूल्य भेंट दी है, जो उनके साधना मार्ग को आलोकित करने वाली है। पुस्तक का एक-एक वाक्य पथ-प्रदर्शन करने वाला है जो व्यामोह की स्थिति में ऐसा काम करता है जैसे अन्धेरे में दीपक जला दिया हो। पुस्तक में साधक के हृदय को छूने वाले ऐसे प्रसङ्ग संकलित किए हैं, जो चेतना को झकझोर कर साधक को चौकन्ना कर देते हैं, प्रतिक्षण उच्च चेतना में प्रतिष्ठित बनाए रखते हैं।

श्रद्धेय आचार्य जी की विद्या-साधना एकनिष्ठ भाव से सुदीर्घकाल से चली आ रही है। विशेष बात है कि इनका सम्पूर्ण अध्ययन-अध्यापन अध्यात्मोन्मुखी रहा है। आप अगाध विद्यानिधान होने के साथ-साथ अध्यात्म-साधना के भी धनी हैं। अध्ययन-अध्यापन को आरम्भ से ही आपने तप एवं साधना का रूप दिया है तथा इसे आत्म-परिष्कार का साधन बनाया है।

अत एव आप सारस्वत साधना के साथ-साथ सदैव निरतिशय श्रद्धाभाव से सन्तों महात्माओं और योगियों का संग करते आ रहे हैं तथा उनके उपदेशों को अपने जीवन में उतारते हुए तदनुसार अपने को तराशते रहे हैं। इस अनवरत साधना से आपने जो उपलब्धि प्राप्त की है, अनुभव पाया है, उसे दूसरों तक पहुँचाने की परोपकारमयी शुभ-भावना ने ही आपको पुस्तक लिखने हेतु प्रवृत्त किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रद्धेय आचार्य जी ने मन, वचन एवं कर्म को निर्मल तथा राग-द्वेष रहित कर शान्तावस्था पाने के अमोघ उपाय बताये हैं। अन्तःकरण को तामसी एवं राजसी प्रवृत्तियों से रहित कर सात्त्विक बनाने के उपाय सूक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किए हैं। विषयजन्य सुख की परिणाम-विरसता

को स्पष्ट करते हुए सच्चे आध्यात्मिक सुख की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी है। राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले दुःख की चोटों के प्रति संवेदनशील बनने के लिये प्रेरित किया है। कामना अथवा तृष्णा को दुःख का सबसे बड़ा मूल बताया है। कामनाओं के परित्याग के अतिरिक्त स्थायी सुख का अन्य कोई मार्ग नहीं है, इस बात पर विशेष बल दिया है।

कामना और राग-द्वेष को क्षीण करने के लिए रजोगुण एवं तमोगुण का क्षय करना आवश्यक है। इसके लिए सत्संग, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान आदि को आवश्यक बताया है। नास्तिकता को छोड़कर आस्तिकता की सम्यक् दृष्टि अपनाने की प्रेरणा की है। प्रतिक्षण अपने आचरण पर दृष्टि रखनी चाहिए। कहीं मेरे कर्म में राग-द्वेष, तृष्णा या मिथ्या अभिमान का प्रभाव तो नहीं। प्रतिक्षण आत्मोन्मुखी भाव को प्रबल करते रहना चाहिये, क्लिष्ट वृत्तियों का त्याग कर शान्त अवस्था में, द्रष्टा भाव में रहकर साधना करने का महत्त्व बताया गया है। दुःख के एक बड़े मूल 'अहं भाव' एवं 'मम भाव' को धीरे-धीरे शिथिल करने की शिक्षा दी गई है तथा इसे ही अविद्यान्धकार का मूल बताया है—

अहं ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्धकृत्।

अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्।।

साधना की आधारभूमि को दृढ़ करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक में 'शुचि शील' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए पञ्च महाव्रतों के रूप में अहिंसादि यमों का संक्षिप्त विवेचन किया है तथा जीवन में सदा इन्हें अपनाने के लिए प्रेरणा दी है। इसी प्रकरण में धर्म का सच्चा व सर्वमान्य स्वरूप बताया है।

अपने दोषों को प्रयास पूर्वक जानना व मानना तथा उनको दूर करने के लिए प्रतिबद्ध रहना धर्मात्मा व्यक्ति का मुख्य लक्षण माना है तथा इस सूत्र की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है कि—

दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः।

अर्थात् अपने दोष को जानकर ही उसका त्याग किया जा सकता है। अध्यात्म साधना में निरत साधक के लिए यह सूत्र बड़े काम का है। ऐसी दृष्टि वाला व्यक्ति अपनी निन्दा सुनते हुए भी विचलित नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यदि निन्दा-वचन सत्य है तो उसे बोलने वाले के प्रति क्रोध न करके सच्चाई को स्वीकारना चाहिए तथा अपने दोष दूर करने में जुट जाना चाहिए। यदि निन्दा वचन मिथ्या है तो उस पर ध्यान देकर व्यर्थ ही विक्षेप क्यों पाला जाए। वह ऐसे वचन की उपेक्षा कर अपनी मौन साधना में जुटा रहता है तथा आक्षेप-वचनों को अपनी सहनशीलता की परीक्षा का अवसर समझकर अपनी सहिष्णुता को अधिकाधिक बढ़ाता रहता है। उसका दृष्टिकोण तो सामान्य व्यक्ति से अलग प्रकार का ही होता है— ‘आक्रोष्टारश्च नः सन्तु क्षन्तारश्च भवामहे’ वह कहता है भगवान् करे मेरे प्रति अधिकाधिक आक्रोश करने वाले हों, जिससे मुझे अपनी सहनशक्ति को दृढ़ करने के अधिकाधिक अवसर मिलते रहें।

लेखक ने पुस्तक में निम्न शीर्षक दिए हैं—

प्रेक्षापूर्वकारी एवं संभिन्नबुद्धि, ब्रह्म के दो रूप सगुण-निर्गुण, मैं कौन हूँ, होश पूर्ण जीवन, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु, सांख्ययोग-भक्तियोग, ज्ञान व भावना, भाव-श्रद्धा-भक्ति प्रेम, दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः, शुद्ध हृदय, द्रष्टा-दृश्य, काम (कामना), सतां सङ्गो हि भेषजम्, श्रद्धा, व्रत-दीक्षा, मृत्यु, प्रज्ञापराध, धर्म का स्वरूप, प्रभो! वर दो, दुःख, ऋत-नियम आदि के माध्यम से जीवन को परिष्कृत करने वाले अमूल्य उपदेश इस पुस्तक में पिरो दिए हैं।

इससे पूर्व भी श्रद्धेय आचार्य जी ने ‘जीवन का समाधान’ एवं ‘साधना पथ’ नामक दो अध्यात्म-विषयक ग्रन्थों की भेंट अध्यात्मज्ञान-पिपासुओं को दी है, जिनसे स्वाध्याय-रसिक जन विशेष रूप से लाभान्वित हुए हैं।

यह पुस्तिका भी उसी शृंखला की आगे वाली कड़ी के रूप में प्रस्तुत की गई है, जो साधना-पथ के पथिकों के लिए अमृतमय पाथेय बन गई है। आचार्य श्री के इस दिव्य अवदान के लिए हम सभी उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं तथा कामना करते हैं कि भविष्य में भी उनकी लेखनी से इस प्रकार के पीयूषपूर्ण सदुपदेशों की दिव्य धारा सदा प्रवाहित होती रहेगी।

परमपिता परमेश्वर से मैं श्रद्धेय आचार्य जी के आरोग्य एवं दीर्घायुष्य की प्रार्थना करता हूँ। जिससे उनके तपःपूत सान्निध्य से ज्ञानपिपासु शिष्यमण्डली अधिकाधिक लाभान्वित होती रहे।



दिनांक : ३०.१.२०१५

आचार्य बालकृष्ण

(४) पुस्तक के बारे में

—कमलेशकुमार छगनलाल चोकसा

पूज्य आचार्य श्री प्रद्युम्न जी महाराज अध्ययन-अध्यापन तथा साधना में सतत रत रहते हैं। आपके पास जो ज्ञानराशि है, वह समुद्र की तरह अगाध है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आपने अपने ज्ञानरूपी तथा साधनारूपी दधि का मंथन करके उसमें से प्राप्त हुये नवनीत को 'दृष्टि' इस शीर्षक से हमें पुस्तक के रूप में उपलब्ध करवाया है। मैंने इसका सादर स्वाध्याय किया है। अध्यात्म पथ के पथिक के पास जो ज्ञान होना आवश्यक है तथा उन्हें जो आवश्यक उपदेश दिया जाना चाहिये, वह सम्पूर्णरूप से इस पुस्तक में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

साधक को ज्ञान के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अतः साधक के पास ज्ञानराशि का होना आवश्यक है। ज्ञान साधक को तप की ओर प्रेरित करता है। यही ज्ञान साधक को वैराग्य की ओर आकर्षित करता है। आज साधना के पथ पर विचरण करने वाले साधकों की समाज में कमी नहीं है। परन्तु दुर्भाग्य है कि उन श्रद्धालु साधकों को न तो उचित आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो पाता है और ना ही उचित मार्गदर्शन मिलता है। ऐसी स्थिति इसलिये भी है कि सांप्रदायिक स्वार्थों के चलते साधक को ज्ञान प्राप्ति करवाने का कोई विचार ही नहीं करता। साथ ही साधक स्वयं भी इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं करता है। ऐसी स्थिति में पू० गुरुजी का यह ग्रन्थ सर्वसाधारण साधक के लिये आवश्यक ज्ञान प्राप्ति का परम उपयोगी साधन बन जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

यहाँ पर कहीं तो छोटे-छोटे वाक्यों में और कहीं पर छोटे-छोटे गद्यांशों में (अत्यन्त) गम्भीर समस्याओं व प्रश्नों को सरलता से समझाया गया है। जैसे कि बुद्धि के आठ रूप। (देखें— पृ० ४४ पर) प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है। इसके आठ रूप यहाँ प्रदर्शित किये गये हैं। साधक या सामान्य मनुष्य

अपने पास की बुद्धि को एकरूप समझते हुये कार्य में प्रवृत्ति करता है। संभवतः इसी कारण उसे अपने द्वारा किये जा रहे कार्य के प्रति कभी यह प्रश्न नहीं होता कि वह जो कर रहा है, वह ठीक है या नहीं? यदि बुद्धि के इन आठ रूपों से मानव परिचित हो जायेगा, तो वह अपने द्वारा किये जा रहे प्रत्येक कार्य के संदर्भ में उपर्युक्त प्रश्न करेगा। इस प्रश्न के उठते ही उसके उत्तर में यदि सात्त्विकता का अंश होगा तो उसमें वह प्रवृत्त होगा, अन्यथा वह प्रवृत्ति को रोक कर अपना कल्याण कर लेगा।

पू० गुरुजी ने ये बातें भले ही साधकों को दृष्टि के समक्ष रख कर की हों, पर इस का लाभ मनुष्य मात्र को मिलता रहेगा। आपने मानव जीवन को द्विधा विभक्त करके सूचित किया है कि 'बाह्य जीवन की पूर्णता अर्थ, कानून, व्यवस्था आदि पर केन्द्रित है, तो आन्तरिक जीवन धर्म, ज्ञान, सत्य, प्रेम, सहयोग आदि पर केन्द्रित है।' इस विचार सूत्र में जो तथ्य निहित हैं, उनकी ओर ध्यान किये बिना व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति का सपना देखना ठीक नहीं है। यदि हम उन्नति चाहते हैं, तो हमें अपने बाह्य तथा आन्तरिक दोनों जीवनो के प्रति ध्यान देना होगा। यह बात हमारी समझ में बैठ जाये तो कल्याण ही कल्याण है। हम यदि बाह्य जीवन की पूर्णता करने में सफल भी हो जाते हैं, तब भी हम नागरिकों का निर्माण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि मात्र बाह्य जीवन की पूर्णता कर देने मात्र से नागरिक नहीं बनता, उनके आन्तरिक जीवन की पूर्णता का उपक्रम करना भी अतीव आवश्यक है।

इस पुस्तक के प्रत्येक वाक्य में अमूल्य संदेश भरा हुआ है। वेद, दर्शन तथा उपनिषत्साहित्य में जो विचार विस्तार से प्रतिपादित किये गये हैं, उनको यहाँ साररूप में उपलब्ध करवाया गया है।

विरक्त को सम्पन्न व्यक्ति से द्वेष किं वा राग करने की आवश्यकता भले ही न हो, पर सम्पन्न व्यक्ति की विशेषता तथा तदितर की प्रवृत्ति से परिचय होना आवश्यक है। अतः लेखक का कथन है— 'समृद्ध व्यक्ति पदार्थ

का सदुपयोग और दूसरों का पोषण करने की सोचता है, जब कि दरिद्र की सोच संग्रह और शोषण से आगे नहीं बढ़ती।' मुझे लगता है इस कथन में सम्पन्न तथा असम्पन्न (निर्धन) का लक्षण उपदिष्ट है, जो अद्भुत है। सम्पन्न व्यक्ति की तरह अपेक्षित कार्यों को करके साधक भी सम्पन्न की कोटि में आ सकता है। साधनों की सम्पन्नता ही सम्पन्नता नहीं है, यह तात्पर्य है।

इस पुस्तक में ऐसे तो अनेकानेक रत्न हैं। प्रत्येक मूल्यवान् है। प्रभु की कृपा हो, गुरुजी का आशीर्वाद बना रहे और इन मूल्यवान् रत्नों का अर्थ हमें (इस ग्रन्थ के सभी वाचकों को) अर्थवान् बना दे, इसी शुभकामना के साथ।

अन्त में पृ० ५३ पर पू० गुरुजी के द्वारा कहे वचन का संस्कृत अनुवाद करते हुये लेखनी को विराम देता हूँ। गुरुजी कहते हैं-‘अपने चिन्मय स्वरूप में ठहरते ही व्यक्ति का शान्ति में अवस्थान हो जाता है। अपनी अविचल शान्ति में अवस्थान होने पर ही ब्रह्म में अवस्थान होता है।’

स्वकीये चिन्मये रूपे स्थितो भवति साधकः ।

तदा शान्तावस्थानं तस्य भवति निश्चलम् ॥१॥

अचले सत्यवस्थाने जायते ब्रह्मणि स्थितिः ।

सैव ब्रह्मण्यवस्थानम् उच्यते योगसाधकैः ॥२॥

महेश्वर द. योश्वर

अहमदाबाद

प्रो० कमलेशकुमार छगनलाल चोकसी

१. भगवान् की प्रतिज्ञा

- यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेतत् सत्यमङ्गिरः ॥ (ऋ० १.१.६)
- अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ (ऋ० १०.१.२५.५)
- विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ गीता २.७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ २.७२ ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ४.३१ ॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ५.२९ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६.२९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६.३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ६.३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६.३२ ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ६.४७ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९.२७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः । सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ ९.२८ ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ९.२९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ९.३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्चच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ९.३१ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ९.३४ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ११.५४ ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ११.५५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२.६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १२.७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ १२.८ ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४.२६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥१४.२७॥
 यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१५.१९॥
 आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥१६.२०॥
 सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥१७.३॥
 ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥१८.५४॥
 भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥१८.५५॥
 चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः परमो भव॥१८.५७॥
 मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहङ्कारान् श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥१८.५८॥
 ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥१८.६१॥
 तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥१८.६२॥
 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥१८.६५॥
 सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥१८.६६॥
 (श्रीमद्भगवद्गीता से उद्धृत श्लोक)

- तू मेरा बनकर तो देख, हर एक को तेरा न बना दूँ तो कहना।
- मेरा कीर्तन करके तो देख, जगत् का विस्मरण न करा दूँ तो कहना।
- स्वयं को न्योछावर कर के तो देख, तुझे मशहूर न बना दूँ तो कहना।
- मेरे मार्ग पर निकल कर तो देख, तुझे शान्ति दूत न बना दूँ तो कहना।
- मेरे लिए कुछ बनकर तो देख, तुझे कीमती न बना दूँ तो कहना।
- मेरे लिए आँसू बहाकर तो देख, तेरे जीवन में आनन्द सागर न भर दूँ तो कहना।
- मुझे अपना मददगार बनाकर तो देख, तुझे सबकी गुलामी से न छुड़ा दूँ तो कहना।
- मेरी बातें लोगों से करके तो देख, तुझे मूल्यवान् न बना दूँ तो कहना।
- मेरी तरफ आकर तो देख, तेरा ध्यान न रखूँ तो कहना।
- मेरे लिए कड़वे वचन सुनकर तो देख, कृपा न बरसे तो कहना।
- मेरे लिये खर्च करके तो देख, कुबेर के भंडार न खोल दूँ तो कहना।
- मेरे मार्ग में पैर रखकर तो देख, तेरे सब मार्ग न खोल दूँ तो कहना। (अज्ञात)

२. वैदिक-प्रार्थना

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।।

अन्वय— हे सवितर्देव (अस्माकम्) विश्वानि दुरितानि परा सुव। यद्
 भद्रम् (अस्ति) तन्नः (अस्मभ्यम्) आ सुव।। यजु० ३०.३।।

निरुक्तकार ने सातवें अध्याय में ऋचाओं (मन्त्रों) के तीन विभाग करके दर्शाएँ हैं— प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिकी। जिन मन्त्रों में सम्पूर्ण नाम विभक्तियों का प्रयोग होता है अर्थात् विभक्त्यन्त (सातों विभक्तियों से युक्त) सभी नामों तथा प्रथम पुरुष से युक्त तिङन्त पदों का प्रयोग होता है, वे सब परोक्षकृत मन्त्र कहे जाते हैं। प्रत्यक्षकृत मन्त्र मध्यमपुरुष से युक्त आख्यात पदों और 'त्वम्' इस सर्वनाम से संयुक्त रहते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि स्तोता तो प्रत्यक्षकृत ही होता है किन्तु स्तोतव्य परोक्षकृत, ऐसे प्रसङ्गों में मन्त्र परोक्षकृत ही होगा। आध्यात्मिक मन्त्र वे होते हैं जहाँ मन्त्रों का 'अहम्' इस सर्वनाम से तथा उत्तम पुरुष से सम्बन्ध होता है। जहाँ देवता स्वयं ही अपना रहस्योद्घाटन करता है। प्रकृत मन्त्र मध्यमपुरुष से युक्त है, अतः यह प्रत्यक्षकृत श्रेणी में बैठेगा।

इस मन्त्र का देवता सविता है और ऋषि नारायण। मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'देवता' होता है और 'ऋषि' मन्त्र का द्रष्टा। 'सविता' उस शक्ति का नाम है जो देवों का निर्माण करती है (षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अदा०, षूङ् प्राणिप्रसवे दि०, सविता वै देवानां प्रसविता) अथवा जो अन्तर्यामी रूप से सबको प्रेरणा (षू प्रेरणे, तु०) दे रही है। सविता ने ही पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य-चन्द्र आदि भौतिक पदार्थों को रचा है। उसी की शक्ति से समुद्र का यह अद्भुत रूप प्रकट हुआ। सविता ही समुद्र से वाष्प बनाकर पर्जन्य के रूप में उसे विशाल अन्तरिक्ष में स्थापित करता है और वहाँ से उसे बरसाता है। वही धरती पर विविध ओषधियों, वृक्षों व वनस्पतियों को रचकर

हमारे जीवन को सुखद बना रहा है। उसी ने पुष्पों में सौन्दर्य व फलों में मिठास भरा है। उसी के द्वारा वन्य व ग्राम्य पशुओं को रचा गया है। गाय-भैंस-बकरी के शरीर में दूध बनाने की व्यवस्था उसी ने की है। मनुष्य के सुख के लिये हाथी, घोड़े, ऊँट व बैल जैसे प्राणियों के मजबूत शरीरों को भी उसी ने रचा है। मानव शरीर या किसी भी प्राणी के शरीर में लीवर, इन्टैस्टाइन, पैक्रियाज, फेफड़े (Lungs) हृदय, स्पलीन, किडनी इत्यादि का निर्माण भी उसी ने किया है। किसी भी प्राणी के उदर में कोई भी भोज्य पदार्थ पहुँचते ही रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र व ओज जैसी आश्चर्यकर धातुओं में परिवर्तन उसी की व्यवस्था से संभव हो पाता है। अपार संभावनाओं वाले मानव-मस्तिष्क की रचना भी उसी ने की है। इन और ऐसी ही अनेकानेक देव-शक्तियों के निर्माण आदि में सविता का ही कौशल विविध रूपों में प्रकट हो रहा है।

नारायण शब्द का अर्थ है— नर समूह को ‘नार’ (नराणां समूहः) कहते हैं, उसका अयन = शरणस्थान होने से यह नारायण है। शतपथ १३.६.१.१ में कहा है कि नारायण ने कामना की कि ‘मैं सर्व प्राणियों से ऊपर स्थित होऊँ’; ‘मैं ही सब हो जाऊँ’ इस भावना से उसने पुरुषमेध यज्ञ किया और सर्वोपरि स्थिति को उसने पाया। जो भी इस पुरुषमेध यज्ञ को करता है, सर्वोपरि होता है। पुरुषमेध यज्ञ यही है कि ‘बड़े पुरुषों का आदर करना, बराबर वालों के साथ मिलकर चलना, छोटों को देना’। इस यज्ञ को पूर्ण रूप से जो कर रहा है वह तो परमेश्वर ही है, किन्तु मनुष्य भी उसका अंशावतार बन जाता है जबकि वह अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है।

वेद भगवान् का महिमा गान है। वेदों में शतशः सहस्रशः मन्त्रों के द्वारा भगवान् की स्तुति-प्रार्थना-उपासना की गई है। स्तुति का अर्थ है— उसकी महिमा को, उसकी गुण-कीर्ति को स्वीकार करना जिसका फल है भगवान् में प्रगाढ़ प्रीति का उत्पन्न हो जाना। प्रार्थना का अर्थ है— अपने जीवन की अन्तिम माँग को अपने मन-बुद्धि में लाकर हृदय की गहराई से उसे बार-बार

महसूस करना और उस अन्तर्यामी से जो मनुष्यमात्र की सत्ता के केन्द्र में है अपने को असहाय (helpless) मानते हुए उससे साहाय्य की याचना करना। तथा उपासना का अर्थ है— उपासक जो कि उस परमदेव के गुणों को, उसके कर्मों व स्वभावों को अपने अन्दर धारण करने का इच्छुक है, जिससे मार्गदर्शन लेना चाह रहा है उसके साथ परम मौन (Deep silence) की स्थिति में अभिन्न हो जाना, अद्वैत या एकत्व भाव को प्राप्त हो जाना, तादात्म्य भाव में रहना। उपासना क्रियारूप होती है। यह उपासनारूप क्रिया आत्मा और मन के संयोग विशेष से की जाती है। उस क्रिया से आत्मा में ज्ञान गुण की उत्पत्ति हो जाती है। उपासना से उत्पन्न हुआ वह ज्ञान आत्मा को शुद्ध कर देता है। मनु ने कहा है— ‘विद्यातपोभ्यां भूतात्मा’ विद्या अर्थात् शुद्ध ज्ञान से और तप अर्थात् आन्तरिक एकाग्रता से भूतात्मा (जीवात्मा) शुद्ध हो जाता है। आत्मा अज्ञान के कारण अपने सच्चे स्वरूप से अपरिचित हुआ-हुआ प्रकृति के सान्त रूपों के मोह में पड़ा रहता है। इसके चलते मात्र पदार्थों से, विविध लौकिक क्रियाओं से व लौकिक सम्बन्धों से सुखी होने की आसक्ति (सङ्ग) आत्मा को घेरे रहती है। ज्ञान से आत्मा जितना-जितना शुद्ध होता जाता है उतनी-उतनी उसमें निर्लेपता व असङ्गता आती जाती है। यही है ‘ज्ञानान्मुक्तिः’ (सां० ३.२३) या विद्ययाऽमृतश्नुते (यजु० ४०.१४)।

यह मन्त्र गायत्री छन्द में है। मुख्य रूप से यह प्रार्थना मन्त्र है। जहाँ भी प्रार्थना (आशीः) होती है वहाँ साथ में देवता की स्तुति तो अन्तर्गर्भित रहती ही है। नारायण ऋषि यह देख रहा है—

हे सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक सविता देव! आप हमारे समस्त दुरितों को, अकल्याण को, अमङ्गल को, अशुभ को, अधर्म को, पापभाव को, आलस्य को, जड़ता को, एक शब्द में कहें तो जो भी अनिष्ट या अवाञ्छित है, उस सब को दूर कर दीजिए और हमारे लिये जो सुवित, कल्याण, मङ्गल, शुभ, धर्म या पुण्यरूप एवं पुरुषार्थ रूप है, अभीष्ट या वाञ्छित है वह हमें प्राप्त करा दीजिए।

मनुष्य ही क्या प्राणिमात्र के समक्ष दो ही स्थितियाँ या परिस्थितियाँ अथवा दो ही चीजें उपस्थित होती हैं। उनमें से एक उसके अनुकूल होती हैं तो दूसरी प्रतिकूल, एक इष्ट होती हैं दूसरी अनिष्ट, एक ग्राह्य होती हैं दूसरी त्याज्य, एक उपादेय होती हैं दूसरी हेय। जो कुछ भी व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक या भौतिक उन्नति में अथवा आध्यात्मिक विकास में, अभ्युदय या निःश्रेयस की प्राप्ति में सहयोगी, सहायक होता है या अनुकूल होता है व्यक्ति उसे चाहता है और जो बाधक होता उसे नहीं चाहता है। इस दुरित और भद्र को थोड़ा फैलाकर भी देखा जा सकता है—

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य (व्यभिचार), परिग्रह, अशुचिता, असंतोष, अतपस्या (सुख या आराम पसन्द), अस्वाध्याय (आत्मविमुखता), मान-मद-माया-कृतघ्नता-द्रोह-ईर्ष्या-असूया-मत्सर, हीनचरित्र व्यक्ति का सङ्ग, कृपणता, क्रूरता, अधैर्य, अक्षमा, मन व इन्द्रियों का असंयम, अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य, धी-धृति-स्मृतिविभ्रंश (प्रज्ञापराध), वाचालता, अविद्या (अज्ञान), क्रोध, दुष्ट विचार, दुःष्वप्न, दुर्वचन, दुराग्र (दुष्ट भोजन अर्थात् अधिक भोजन करना) निन्दा, दुष्ट हृदय इत्यादि अनेक दुरित हैं।

उपर्युक्त दुरित समूह से जो विपरीत है जैसे कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, दया, दान, धृति, क्षमा, दम, इन्द्रियनिग्रह, सुबुद्धि, विद्या (ज्ञान) अक्रोध, शील, मन की एकाग्रता, पवित्रता व निर्मलता, योगाभ्यास, त्याग, प्रज्ञा (धी, धृति-स्मृति से युक्त) श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-विश्वास, कृतज्ञता, व्रत-दीक्षा-तप, दिव्यता की अभीप्सा, समर्पण, शान्ति, प्रसन्नता, उत्साह, सोम्यता, वाग्मिता, धीरता-वीरता-उदारता, सुविचार-निर्विचार, शिवसंकल्प-निःसंकल्प, पुरुषार्थ, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, सहजता, स्थिरता, सहृदयता, समृद्धि, प्रियदर्शन, सद्बुद्धि, सर्वविध संयम, सद्भाव, सर्वभूतहितैषिता (सर्वभूतात्मभाव) एकत्व, समता इत्यादि। इन सब भावों का 'भद्र' इस शब्द से ग्रहण होता है। नारायण ऋषि ने इस

सत्य का दर्शन किया और दुरित के निराश तथा भद्र को अपने भीतर चरितार्थ करने के लिये सविता देव से सहायता की माँग की और देवता का साहाय्य पाकर अपने अभीष्ट को सिद्ध करने में समर्थ व सफल हो पाया, सफल हो गया।

पुकार जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जब वह हमारी अन्तिम माँग या अन्तिम आवश्यकता बन जाती है, जिसके बिना हमारा जीवन हमें सर्वथा अपूर्ण महसूस होता है। सोते-जागते, उठते-बैठते वही एक सत्य हमारे दिल व दिमाग में छाया रहता है। जब उसी का विचार, उसी का विस्तार, उसी का चिन्तन-मनन, उसी का ध्यान सहज रूप से बना रहता है। अहोरात्र जब हम उसी में खोये रहते हैं तो प्रकृति का या भगवान् का कुछ ऐसा नियम है ऐसा विधान है कि यथायथरूपेण हमें इसका प्रत्युत्तर मिलता है। हमारा वह संकल्प या वह अभीप्सा निश्चितरूपेण पूर्ण होती है। जब दो इच्छाएँ होती हैं, हम यह भी चाहते हैं और वह भी तो ऐसी इच्छा को पूर्ण करने के लिये जब कोई प्रार्थना की जाती है तो वह कभी पूर्ण नहीं होती अर्थात् उसके लिये हमें कोई भागवत सहयोग नहीं मिलता। हाँ! हम अपनी कोशिशों के बल पर जितना कुछ कर पायें वह एक अलग बात है।

☞ जो है उसे स्वीकार करना ही सहनशक्ति है।

☞ द्रष्टा में रहना बहरा होने जैसा है।

☞ द्रष्टा का साक्षिभाव में रहना ही योग है। द्रष्टा का दृश्य में रहना अर्थात् द्रष्टा-दृश्य का तादात्म्य ही भोग है।

☞ जो स्वतन्त्र नहीं है— इसका अर्थ है उसे अभी कुछ प्राप्त नहीं हो पाया है।

☞ आगे बढ़ने का एक ही उपाय है— तप, पुरुषार्थ व सत्य का मार्ग।

☞ अज्ञानी व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन विनाशी के साथ ही बिता देता है।

४०४०७७७

३. साधक एवं असाधक

हम यह विचार करना चाहते हैं कि साधक एवं असाधक में भेद क्या है? वे कौन सी विशेषताएँ हैं जो इन दोनों को एक दूसरे से अलग करती हैं। इन दोनों में पहला जो भेद है वह यह है कि साधक अपने जीवन में थोड़ी सी भी पराधीनता नहीं चाहता, कम से कम अपने शरीर, मन, इन्द्रियों व संस्कारों की पराधीनता से तो सर्वथा मुक्त होना ही चाहता है। वह ऐसे ज्ञान की खोज में रहता है जिससे उसकी कोई भी निजी बाध्यता न रहे, शरीर-मन-प्राण (इन्द्रियाँ) व संस्कार उसके सहज अनुशासन में रहें। बाह्य वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति जन्य पराधीनता को भी यदि वह हटा सकता है तो हटा देता है और कदाचित् नहीं हटा सकता तो उसे बिना कष्ट के सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। साधक के समक्ष बाह्य रूप से भी और आन्तरिक रूप से भी विवशता, परवशता या मजबूरी जैसी कोई भी स्थिति या परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती। वह सर्वत्र सदा ही अपनी आन्तरिक समता में प्रतिष्ठित रहता हुआ अपने में सहज बोध और सहज स्वीकार्यता को अखण्ड रूप से बनाये रखता है। किन्तु जो साधक नहीं है वह उस युक्ति को नहीं जानता या उसके पास वह ज्ञान नहीं होता जिसके द्वारा अपनी आन्तरिक पराधीनता पर विजय पाई जाती है। उसका मन व इन्द्रियाँ उसे जैसा भी नाच नचाती हैं एक कठपुतली की तरह वैसा ही नाचता रहता है। उसका अपने ऊपर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं होता। और न ही उसके पास बाह्य पराधीनताओं को सहन करने या उन्हें स्वीकार करने का सामर्थ्य होता है। मजबूर या परवश होकर जैसे-तैसे अपनी उन बाध्यताओं या प्रतिकूलताओं को ढोता रहता है। सो साधक-असाधक का पहला भेद हुआ स्वाधीनता व पराधीनता का।

दूसरा भेद है— साधक निर्भय होता है और असाधक सदा ही भयभीत। साधक चूँकि अधिक से अधिक अकाम रहना चाहता है अतः उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं व्यापता। व्यक्ति जब अपने सुख में किसी प्रकार की

बाधा उपस्थित होते हुए देखता है तभी उसे भय लगता है। साधक की दृष्टि, उसकी जीवन शैली सांयोगिक सुखों से प्रभावित नहीं होती, उसकी तो एक ही दिली चाह होती है कि वह किसी भी उपाय से सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त जीवन जीए। एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह सुख और भय तो सदा साथ-साथ चलते हैं। सुख की आशा छोड़ते ही साधक को भय से भी मुक्ति मिल जाती है।

आखिर मृत्यु का भय क्यों है? जीवित अवस्था में बहुत सारे सुख जो मिल रहे हैं वे हाथ से खिसकने लगते हैं। अपमान का भय क्यों? सम्मान से प्राप्त होने वाला सुख हाथ से निकलने लगता है। चोरी का भय क्यों? वस्तु-सम्भार के प्रति जो लगाव है उसमें बाधा पड़ने लगती है। पराजय का भय क्यों? विजय का सुख छूटने लगता है। चुनाव में हारने का भय क्यों? विजय के साथ सम्बद्ध सभी सुखों पर पानी फिरने लगता है। किसी के नाराज होने का भय क्यों? उसकी प्रसन्नता से मिलने वाला सुख बाधित होता है। किसी के वियोग में भय क्यों? जिसका वियोग हो रहा है उसकी उपस्थिति का सुख छिनने लगता है। इस प्रकार सुख की आशा छूटते ही भय से भी स्वतः ही मुक्ति मिल जाती है। एक सांसारिक व्यक्ति के जीवन का आधार, जीवन का टिकाव एक मात्र सुख पर होता है। धन से सुख, पुत्रों या शिष्यों से सुख, शक्ति से सुख, पद-प्रतिष्ठा से सुख, इन्द्रियों का सुख, सम्मान से सुख, प्रसिद्धि का सुख, पहचान का सुख। दुनियादारी में रचे-पचे किसी व्यक्ति को यदि सुख से अलग कर दिया जाये तो अब उसके पास बचा ही क्या? वस्तुतः सांसारिक व्यक्ति को बीच-बीच में दुःख आने से कोई कष्ट-बाधा प्रतीत ही नहीं होती यदि सुख भी दुःख के साथ-साथ चलता रहे। सुखों का न होना असाधक के लिये साक्षात् नरक ही हो जाता है, जबकि साधक को एक घण्टे या एक मिनट या एक क्षण का दुःख भी शताब्दियों के नरक जैसा लगता है।

साधक की खोज का विषय अदृश्य (परोक्ष) क्षेत्र होता है— मन, बुद्धि, अहङ्कार, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल, वासनाएँ, क्लेश, धर्म-अधर्म, कर्माशय

जीवन्-मुक्ति इत्यादि। जब कि सांसारिक व्यक्ति की कार्यस्थली प्रत्यक्ष होती है। शरीर को सुख देने वाले अधिक से अधिक साधनों को इकट्ठा करना, सम्मान प्राप्त करना, प्रसिद्धि पाना, पुत्र या शिष्य बनाना, शक्ति (Power) को प्राप्त करना इत्यादि।

साधक और असाधक का एक बहुत बड़ा अन्तर यह भी होता है कि साधक को काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार-संघर्ष-ईर्ष्या-मद-माया-प्रतिशोध-प्रतिक्रिया की हल्की सी रेखा भी दुःख के सागर जैसी प्रतीत होती है, जबकि असाधक के जीवन में इन चीजों का अम्बार लगा रहे, रात-दिन इन्हीं में जलता-भुनता रहे, साक्षात् नरक ही क्यों न बना रहे तो भी उससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। असाधक केवल तभी कष्ट या परेशानी में होता है जब कभी व्यापार में घाटा आ जाये, किसी प्रिय सम्बन्धी का वियोग हो जाये, अपने पुत्र की बजाय दूसरों का नाम बढ़ता चला जाये, कोई अपमान-जनक घटना घट जाये, चुनाव में टिकट न मिले या टिकट मिलने पर भी पराजय हो जाये। असाधक की जब कोई मनचाही एषणा की पूर्ति नहीं होती केवल तभी वह दुःखी होता है। जबकि साधक को किसी बात का या किसी प्रकार का कभी दुःख होता है तो एक ही बात से कि कोई विकार, तृष्णा, अज्ञान या अनिष्ट संस्कार एक क्षण के लिये भी कैसे प्रभावी हो गया। असाधक का ध्यान बाह्य पदार्थों पर, बाह्य क्रियाओं पर, बाह्य सम्बन्धों पर होता है जबकि साधक का ध्यान आन्तर जगत् व उसकी क्रियाओं पर, मन की सहजता पर, प्रज्ञापराध होने से बचे रहने पर, धीरता व गम्भीरता पर, अन्तर्मुखीन जीवन पर, मनः शान्ति व मन के आरोग्य पर, अपने सच्चे स्वरूप को खोजने पर अर्थात् बुद्धि से अलग अपने चिन्मय स्वरूप को खोज निकालने पर, अपने संशयों व भ्रान्तियों को मिटाने पर, धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जानने पर, बदले में बिना किसी लाभ के दूसरों की सहायता या मदद करने पर होता है, इस सूची को कितना भी लम्बा किया जा सकता है।

हम साधक असाधक दोनों के भेद को संक्षेप से सार रूप में इस प्रकार रख सकते हैं—

- साधक और असाधक कर्म तो दोनों ही करते हैं, किन्तु दोनों के भाव में अन्तर होता है। एक के लिये कर्म पूजा स्वरूप होते हैं या ज्ञान को विकसित अथवा परिष्कृत करने के साधन। दूसरे के लिये कर्म होते हैं— पदार्थोपलब्धि, आजीविका, सम्मान या प्रसिद्धि प्राप्त करने के साधन।
- दूसरों के साथ व्यवहार तो साधक और असाधक दोनों को ही करना होता है। एक के केन्द्र में प्रेम होता है दूसरे के 'स्वार्थ'। इसी प्रकार सम्बन्ध भी दोनों के क्रमशः प्रेम व स्वार्थ आधारित होते हैं।
- साधकों के लिये धन व दूसरे भौतिक पदार्थ साधन स्थानी या साधन रूप होते हैं जबकि असाधकों के लिये साध्यरूप।
- साधक आन्तरिक शुद्धि, मुक्ति, आनन्द व पूर्णता को सर्वोपरि स्थान पर रखते हैं, असाधक धन-वैभव, सम्मान, प्रसिद्धि, शक्ति इत्यादि को।
- साधक दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति को प्रमुखता देते हैं असाधक सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान व वैषयिक सुखों की अधिक से अधिक प्राप्ति को।
- साधक भूतकाल के बड़े से बड़े अशुभ से भी मुक्त हो कर जीते हैं और भविष्य के लिये कोई चिन्ता नहीं करते। असाधकों को या तो भूतकाल का अशुभ सताता रहता है या फिर भविष्य के लिये चिन्तित रहते हैं। अर्थात् साधक वर्तमान का पूर्ण सदुपयोग करते हैं असाधक वैसा नहीं कर पाते हैं।
- साधक किसी के द्वारा किये गये अपव्यवहार को, अपमान को गाँठ बाँधकर नहीं रखते, असाधक गाँठ बाँध लेते हैं।
- साधक अपने लिये न्याय और दूसरों के लिये प्रेम चाहते हैं, असाधकों की चाह विपरीत होती है— अपने लिये प्रेम व दूसरों के लिये न्याय।
- साधक अपने कर्तव्य और दूसरों के अधिकारों को देखते हैं, असाधक

अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य।

- साधक दूसरों से अधिकाधिक निरपेक्ष रहते हैं, असाधक दूसरों से बहुत सारी अपेक्षाओं व आशाओं को पाले रहते हैं।
- साधकों का धन उनके हृदय में होता है, असाधकों का बैंक में।
- साधक सृजन का आनन्द लेते हैं, असाधक उपलब्धि पर केन्द्रित होते हैं।
- साधक संतोष की शान्ति में जीते हैं, असाधक असंतोष की आग में।
- साधक दूसरों से निरपेक्ष रहते हुए ही अपनी ऊर्जा का सदुपयोग करते रहते हैं, असाधक दूसरों के साथ स्पर्द्धा करते हुए आगे बढ़ पाते हैं।
- साधक सदा समता में प्रतिष्ठित रहते हैं, असाधक विपरीत परिस्थितियों में ऊपर-नीचे होते रहते हैं।
- साधक अपने भीतर देखते हैं; असाधक बाहर, केवल बाहर।
- साधक सदा सहज जीवन जीना पसन्द करते हैं और वैसा जीते भी हैं, असाधक सदा ही खिंचाव-तनाव में रहते हैं।
- साधक प्रतिक्रिया (React) नहीं करते बल्कि प्रत्युत्तर (Response) देते हैं, असाधक प्रायः प्रतिक्रिया में रहते हैं।
- साधक कभी भी किसी के प्रति क्रोध या द्वेष अथवा प्रतिशोध का भाव मन में नहीं लाते, असाधकों का प्रतिशोध भाव बहुत प्रचण्ड होता है।
- साधक सदा सत्य-करुणा-प्रेम रूपी त्रिवेणी में नहाता रहता है, असाधक को असत्य-निर्दयता व घृणा रूपी गन्दे नाले में ही डुबकी लगाने को मिलती है।
- साधक दैवी सम्पदा (गीतोक्त १६ वाँ अध्याय) का मालिक होता है, असाधक आसुरी सम्पत्ति का।
- गीतोक्त १३ वें अध्याय में मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, आत्म संयम, इन्द्रिय विषयों से वैराग्य,

अहङ्कारशून्यता, जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था व व्याधि सम्बन्धी दुःखों व दोषों को समझना, असक्ति (आसक्ति का अभाव) पुत्र, स्त्री और गृहादि में मोह का न रहना (तादात्म्य का अभाव), इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति होने पर सदा चित्त को एकाग्र रखना, ईश्वर में अनन्यभाव से अनन्यभक्ति रखना, एकान्त स्थान में प्रसन्नता, भीड़ को पसन्द न करना, नित्य ही अध्यात्म ज्ञान में स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ का आलोचन इत्यादि ज्ञानी के २० गुण साधक में सदा अवस्थित रहते हैं, असाधक में इन सब से विपरीत स्थिति होती है।

• साधक में २२ अध्याय में गीतोक्त स्थिरप्रज्ञ के समस्त लक्षण घटित होते हैं, किन्तु असाधक में तो एक-आधा लक्षण भी देखने को नहीं मिलता।

यहाँ नीचे लिखे कुछ बिन्दु श्रीमद्भगवद्गीता के १७ वें और १८वें अध्याय के आधार पर दिये जा रहे हैं। जो जिज्ञासु श्रद्धादि के सात्त्विक, राजस व तामस स्वरूप को जानना चाहते हैं उन्हें मूल ग्रन्थ देखना चाहिये।

- साधक गुणातीत अवस्था में, असाधक गुणों के प्रवाह में। (१४.२२-२६)
- साधक की श्रद्धा सात्त्विक होती है, असाधक की राजसिक तामसिक। (१७.२-६)
- साधक का आहार सात्त्विक, असाधक का राजसिक तामसिक। (१७.८-१०)
- साधक का यज्ञ सात्त्विक, असाधक का राजसिक तामसिक। (१७.११-१३)
- साधक का जीवन शारीर-वाचिक व मानस त्रिविध सात्त्विक तप से युक्त, असाधक का जीवन इन तीनों तपों के राजस तामस रूप से युक्त। (१७.१४-१९)
- साधक का दान सात्त्विक, असाधक का राजस तामस। (१७.२०-२२)
- साधक का त्याग सात्त्विक, असाधक का राजस तामस। (१८.७-११)
- साधक का ज्ञान सात्त्विक, असाधक का ज्ञान राजस तामस। (१८.२०-२२)
- साधक के कर्म सात्त्विक, असाधक के राजस तामस। (१८.२३-२५)
- साधक एक सात्त्विक कर्ता, असाधक राजस तामस। (१८.२६-२८)

- साधक की बुद्धि सात्त्विकी, असाधक की राजसी तामसी। (१८.३०-३२)
- साधक की धृति सात्त्विकी, असाधक की राजसी तामसी। (१८.३३-३५)
- साधक का सुख सात्त्विक, असाधक का राजस तामस। (१८.३६-३९)
- साधक में एक भक्त के सभी लक्षण, असाधक में एक भी नहीं। (१२.१३-२०)
- साधक के जीवन में धी धृति स्मृति भ्रंश रूप प्रज्ञापराध के लिये कोई स्थान नहीं, असाधक का जीवन प्रज्ञापराध का मूर्तरूप। (द्र० इसी पुस्तक में पृ० १६९)
- साधक किसी भी कारण से आहत होता है, दुःखी होता है, uneasy feel करता है, किसी भी क्रोधादि विकार में होता है तो इसका कारण वह बाहर व्यक्तियों, परिस्थितियों में नहीं ढूँढता बल्कि अपने भीतर खोजता है। दूसरों को या परिस्थितियों को ठीक करने की बजाय अपने आपको ठीक करना चाहता है। असाधक तो बाहर को ही ठीक करना जानते हैं।
- साधक की कृषि— श्रद्धा बीज, तप वृष्टि और प्रज्ञा हल। काय संयम, वाक् संयम और आहार संयम कृषि क्षेत्र की मर्यादाएँ। पुरुषार्थ बैल और मन जोत। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्व का फल मिलता है।
- असाधक शारीरिक श्रम करना तो जानते हैं किन्तु मन का विश्राम नहीं। साधक दोनों को साथ-साथ लेकर चलते हैं। या यह भी कह सकते हैं मन का विश्राम साधकों की प्रथम आवश्यकता है, उन्हें यह निश्चय होता है कि इसी से समस्त धर्म-ज्ञान-वैराग्य-पुरुषार्थ की प्राप्ति की जा सकती है।
- असाधक अपने में डरा-डरा सा रहता है, साधक निर्भय। असाधक के अपने कर्म ही उसे भयभीत रखते हैं।
- राष्ट्रिय, सामाजिक या आर्थिक समस्याएँ तो साधक और असाधक की समान होती हैं किन्तु इनके अतिरिक्त साधक की सब की सब समस्याएँ उसके भीतर और असाधक की बाहर। समाधान भी साधक का उसके अपने भीतर असाधक का बाहर।

- साधक का धर्म, वेद, आप्तवचन में पूर्ण विश्वास, असाधक का अविश्वास।
- साधक अपने भविष्य के प्रति पूर्ण निश्चिन्त, असाधक सर्वथा अनिश्चित।
- साधक की खोज का विषय सत्य, भगवान् व शान्ति तथा भूतकाल, अज्ञान व दुःख से मुक्ति, असाधक की खोज का विषय, मन व इन्द्रियों का सुख।
- साधक अपनी सतत खोज के द्वारा अपने सभी संशयों को मिटा देता है जब कि असाधक के समस्त अतीन्द्रिय विषयों में संशय ही संशय बने रहते हैं।
- साधक का रस उसके अपने भीतर, असाधक के रस के आलम्बन बाहर।
- साधक के विजय रथ का रामचरितमानस में सन्त तुलसीदास ने श्रीराम के मुख से जो वर्णन किया है वह देखने योग्य है— जिस रथ से जय होती है उस रथ के शूरता-धीरता दो पहिये हैं, सत्य और शील दृढ़ ध्वजा और पताका हैं। बल, ज्ञान, इन्द्रियदमन और परोपकार घोड़े हैं, ये घोड़े क्षमा, कृपा और समता रूपी रस्सी से जुड़े रहते हैं। ईश्वर का भजन अत्यन्त चतुर सारथी है, वैराग्य ढाल और संतोष तलवार है। दान फरसा और बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है। श्रेष्ठ विज्ञान कठोर धनुष है। निर्मल अचञ्चल मन तरकस के समान है। शम, दम और नियम अनेक प्रकार के बाण हैं। विप्र और गुरु का पूजन अभेद्य कवच है। हे मित्र! जिसके पास ऐसा धर्ममय रथ है उसको जीतने के लिये कहीं भी शत्रु नहीं है। हे मतिधीर मित्र! सुनिये, अत्यन्त अजेय संसार रिपु को वही वीर जीत सकता है जिसके पास ऐसा रथ हो। (लंका काण्ड)
- व्यक्ति का सम्बन्ध व्यवहार में साधक व असाधक दोनों प्रकार के लोगों के साथ होता है। साधकों के साथ व्यवहार करना अति सरल होता है, क्योंकि वे दूसरों का ध्यान रखते हैं, दूसरों को कष्ट पहुँचाने से बचते हैं। जब कि असाधक अपना ही ध्यान रखते हैं, उन्हें इसकी परवाह नहीं होती कि कौन आहत हो रहा है। अतः असाधकों के साथ व्यवहार में अत्यन्त जटिलता होती है।
- साधक निरहङ्कार होते हैं, असाधक अहङ्कार से भरे हुए। साधक कभी किसी

को नीचा नहीं दिखाना चाहते, असाधक का तो एक ही काम होता है कि ले-देकर दूसरे को नीचा दिखाना। साधक ऐसा कुछ करते ही नहीं कि उन्हें नीचा देखना पड़े। असाधक नीचा देखने के कार्य करते हुए भी किसी भी रूप में नीचा नहीं देखना चाहते।

- असाधक बहुत ही स्वार्थी होते हैं। जब-जब उनका कोई प्रयोजन सिद्ध हो रहा हो— सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान या ऐसा ही कुछ अन्य तो उनसे ज्यादा नम्र भी कोई नहीं होता। उनकी यह नम्रता केवल और केवल प्रयोजनवशात् ही होती है, जबकि साधकों की नम्रता किसी प्रयोजन से नहीं होती बल्कि वह उनका स्वभाव होती है।

- साधक का जीवन खुली किताब की तरह होता है, असाधक सदा ही लुकाव-छिपाव में रहता है। साधक अन्दर-बाहर से एकरूप होते हैं, असाधक अन्दर कुछ बाहर कुछ। असाधक को बहुत जोड़-तोड़ करना पड़ता है।

- साधक 'काम-क्रोध-लोभ' नरक के इन तीन द्वारों से पार चले गये होते हैं, असाधक कहीं न कहीं इनमें अटके होते हैं।

- साधक अपने लिये निरपेक्ष रहते हुए भी दूसरों के प्रति तो करुणा व प्रेम से भरे हुए होते हैं। असाधक कभी भी निरपेक्ष हो ही नहीं सकते, उनका हृदय क्रूरता से भरा हुआ होता है, करुणा व प्रेम का तो वहाँ दर्शन ही नहीं होता।

- साधक अपने लिये वज्र से भी कठोर और दूसरों के लिये फूलों से भी कोमल (वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।) असाधक इससे सर्वथा विपरीत दूसरों के लिये वज्र से भी कठोर और अपने लिये फूलों से भी कोमल।

- साधक सरल होता है क्योंकि उसमें अहङ्कार होता ही नहीं, किन्तु वह सरलता कृत्रिमता से सर्वथा मुक्त होती है, वह सरलता आरोपित नहीं होती। जबकि असाधक का जीवन कृत्रिमता और दिखावे से ओत-प्रोत होता है। क्योंकि दिखावा मात्र अहङ्कार के कारण होता है और असाधक का अहङ्कार स्वभाव

होता है, अहङ्कार अपने वेग में जो वह नहीं होता उसे भी या उसे ही दूसरों के समक्ष दिखाना चाहता है।

- साधक एक तरफ से सबका भला चाहता है, असाधक में तेर-मेर रची-पची रहती है।

- साधक भूल होने पर स्वीकार कर लेता है, असाधक भूल को भूल स्वीकार नहीं कर पाता, तत्काल कोई न कोई हेतु प्रस्तुत कर देता है।

- साधक सदा ही 'सत्या बुद्धि' से युक्त रहता है, असाधक को इसका दर्शन ही नहीं होता।

- साधक के जीवन का आधार सत्य होता है— देखने में सत्य, विचार में सत्य, भावना में सत्य, आचरण में सत्य, ज्ञान में सत्य, बोलने में सत्य, जीने में सत्य। असाधक का जीवन असत्य पर ही टिका होता है।

- साधक के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित असाधक का जीवन अधर्म-आधारित।

- साधक का जीवन शिकायत मुक्त, असाधक का जीवन शिकायतों का ढेर।

- साधक के जीवन में वाक्संयम, असाधक की वाणी बेलगाम, वह ऐसी वाणी बोलता रहता है कि बोलने के बाद सदा उसे पश्चाताप करना पड़े।

- साधक के जीवन में अप्रमाद, सजगता, होश सदा जागरित, असाधक बेहोश।

- साधक आँख के गोलक की तरह संवेदनशील, असाधक गेंडे की चाम की तरह कठोर।

- असाधक को अपना पहड़ जैसा दोष भी दिखाई नहीं देता, जबकि दूसरे का राई जितना दोष भी स्पष्ट दिख जाता है, साधक स्वदोष दर्शन में कुशल, असाधक परदोष दर्शन में।

- साधक का जीवन आत्म-केन्द्रित, इसलिये किसी से कोई तुलना नहीं, असाधक का अहङ्कार केन्द्रित इसलिये दूसरों के साथ सदा तुलना।

- साधक राग-द्वेष से मुक्त, असाधक सदा राग या द्वेष में ही जीता है।

- साधक के सुख का आधार उसके अपने भीतर— ज्ञान, ध्यान, श्रद्धा-भक्ति-प्रेम। असाधक का सुख सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, पदार्थ और बाह्य क्रियाओं व बाह्य अनुकूलताओं में।
- साधक की दृष्टि भूमा पर, असीम पर, असाधक की अल्प पर, परिच्छिन्न पर।
- साधक का जीवन अन्तर्विरोध से मुक्त, असाधक का सदा अन्तर्विरोध में। साधक की चाहत और जीवन में एकरूपता जबकि असाधक की विरूपता।
- असाधक केवल अपना और अपनों का, साधक सभी का।
- असाधक की खुशियाँ दूसरों के हाथों में जबकि साधक की अपने ही हाथों में।
- असाधक पूर्ण पराधीन (इन्द्रियों के अधीन) साधक पूर्ण स्वाधीन (आत्मा के अधीन)।
- असाधक किसी न किसी रूप में अपना महिमा गान गाता रहता है साधक अपने बारे में कम से कम कह पाता है।
- असाधक अपने किसी भी विकास का श्रेय अपने पुरुषार्थ को देता है, जबकि साधक कृपा को।
- असाधक भगवान् की इच्छा बताकर अपने अहङ्कार की ही तुष्टि व पुष्टि करना चाहता है, इसलिये सफलता-असफलता में सुखी-दुःखी होता है, साधक सब स्थितियों में सम रहता है।
- असाधक साधक की बहुत ही उपेक्षा करते हैं, कभी-कभी अपमान भी कर देते हैं तो भी साधक उस सब को अमृत समझ कर पीता रहता है। असाधक केवल भयवशात् असाधकों के साथ ठीक व्यवहार करते हैं, साधकों से तो उन्हें कोई भय होता नहीं कि ये भी कुछ हमारे लिये विपरीत कर सकते हैं अतः असाधक प्रायः साधकों के साथ ठीक व्यवहार नहीं करते, किन्तु साधक फिर भी अपनी शालीनता नहीं छोड़ते।
- साधक को अपने सच्चे स्वरूप, अपनी आत्मा का परिचय होता है असाधक की पहुँच केवल अपने मन, बुद्धि अहङ्कार की इच्छाओं तक।

- साधक सदा ध्यान सम्पन्न, असाधक को इसकी कुछ भी खबर नहीं।
- साधक का जीवन सदा कृतज्ञता से भरा हुआ, कभी कृतघ्न नहीं।
- साधक की दृष्टि अपना सुधार या परिष्कार करने में, असाधक की दुनिया को ठीक करने में।
- साधक का जीवन कठिनाइयों से मुक्त, असाधक का सदा कठिनाइयों में, विशेषकर आन्तरिक कठिनाइयों में रचा-पचा।
- साधक का जीवन पूर्ण निर्भर, असाधक का अनेक प्रकार के बोझ से लदा हुआ।
- साधक सदा अपने में आश्वस्त-विश्वस्त, असाधक सदा संशयग्रस्त।
- साधक सदा प्रसन्न, असाधक अनुकूलताओं में प्रसन्न प्रतिकूलताओं में अप्रसन्न।
- असाधक का पूरा जोर कार्य पर, साधक का कार्य के साथ-साथ ज्ञान-ध्यान-शान्ति-निर्भयता-स्वाधीनता-सहजता पर भी।
- साधक सदा स्वरक्षित, असाधक बाह्य रूप से सुरक्षित पर अन्दर से असुरक्षित।
- साधक कामनाओं के जाल से मुक्त, असाधक उनमें फंसा हुआ।
- साधक का धन चित्तशुद्धि, असाधक का मान-बड़ाई-ईर्ष्या-रुपया-पैसा जमीन-जायदाद।
- साधक प्रकृति प्रदत्त भोग साधनों का अपने लिये सीमित प्रयोग करता है, असाधक जितना बने प्राप्त साधनों का अधिकाधिक उपयोग करना चाहता है।
- साधक का धन शान्ति, असाधक का उसकी कामनाओं की पूर्ति।
- साधक न किसी को क्लेश देते हैं न किसी से क्लेशित होते हैं। असाधक क्लेश देते भी हैं और क्लेशित भी होते हैं।
- यद्यपि साधक भूलें कम करता है तो भी कभी प्रमादवश व्यवहार में साधक से कहीं वाणी या आचरण की भूल हो गई तो असाधक कभी भी उसे क्षमा नहीं

करेगा। किन्तु असाधक से तो रोज ही भूल होती रहती हैं तो भी साधक तो उसे क्षमा करता ही रहता है।

- साधक विकट से विकट प्रत्येक परिस्थिति में अपने उत्साह का विलोप नहीं होने देता। असाधक का उत्साह छोटी-छोटी बातों में भी टूटता रहता है।
- साधक और असाधक का यह एक प्रमुख भेद है कि साधक का भरोसा, आश्रय या शरण भगवान् होता है, जो कि उसके अपने भीतर ही होता है, जो उसे सदा उपलब्ध होता है। जबकि असाधक के सहारे एक या अनेक व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ होते हैं, जो कि बाहर होते हैं, जो कभी उसे उपलब्ध होते हैं और कभी अनुपलब्ध।
- कोई भी घटना घटती है— अनुकूल या प्रतिकूल। साधक तो तत्काल उससे अपना पीछा छुड़ा लेता है, किन्तु असाधक बहुत समय तक भी उससे अलग नहीं हो पाता। वह घटना उसका पीछा करती ही रहती है।
- अपने किसी प्रिय व्यक्ति की नाराजगी से असाधक तो अन्दर तक हिल जाता है, किन्तु साधक 'जो है' उसे स्वीकार कर सहज बना रहता है।
- एक व्यक्ति अपने चिरकाल के मित्र को छोड़कर किसी दूसरे को मित्र चुन लेता है, साधक तो इसे आराम से सहन कर लेगा किन्तु असाधक से यह सहन नहीं हो पायेगा।
- यदि कोई सच्चा साधक है तो कोई भी असाधक उसे उसके अपने रास्ते से विचलित नहीं कर सकता या यूँ कहें कि असाधक अपनी सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान या वैषयिक सुखों के प्रलोभनों से साधक को प्रभावित नहीं कर सकता। असाधक यदि विचारशील है तो वह स्वयं ही साधक से प्रभावित हो जाता है या हो सकता है। हाँ! जो विचार ही नहीं कर रहा वह तो किसी अच्छे साधक के सम्पर्क में भी कैसे प्रभावित होगा।
- साधक केवल और केवल किसी की सरलता, निश्छलता, सत्यनिष्ठा व पवित्रता से प्रभावित होते हैं, असाधक जिन चीजों से प्रभावित होते हैं वे सब

बाह्य होती हैं— भीड़, बड़ा आश्रम, लाखों शिष्य, अपार सुख-सुविधाएँ, बड़े-बड़े राजनेताओं का आवागमन इत्यादि।

- साधक जानता है कि जीवन में आने वाली समस्याओं का समाधान कैसे किया जाये, जब कि असाधक को उस युक्ति का ही ज्ञान नहीं होता। समस्या के उपस्थित होने पर साधक या तो सब तरफ से अपने को समेट कर कछुवे की तरह अपने भीतर, अपने मन, बुद्धि व अहंकार से पार अपनी आत्मा में जाकर ठहर जाता है, दूसरे शब्दों में अपने अन्तर्यामी भगवान् में शरण ग्रहण करता है या फिर बुद्धि को रजस् या तमस् से मुक्त कर विशुद्ध सत्त्व से ओत-प्रोत होकर शुद्ध बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा से मार्गदर्शन लेता है। समस्या मात्र ही चञ्चलता या जड़ता से पैदा होती है और प्रकाश की वृद्धि होने से जब चञ्चलता और जड़ता कम हो जाती है तो समस्या भी नहीं रहती। असाधक उपर्युक्त इन दोनों ही उपायों से अपरिचित रहता है अतः समस्याओं से पीछा नहीं छुड़ा पाता।
- साधक का अपना एक ही लक्ष्य होता है— एक सूत्री कार्यक्रम, कैसे भी अपने स्वभाव का रूपान्तरण किया जाये— जटिलता और कुटिलता से सरलता में, काम से अकाम में, क्रोध से अक्रोध में, लोभ से अलोभ में, मिथ्यात्व से सत्य में, कृत्रिमता से सहज स्वाभाविकता में, सभयता से अभयता में, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य में, छल से निश्छलता में, मृत्यु से जीवन में, अज्ञान से ज्ञान में, घृणा से प्रेम में, क्रूरता से करुणा में, अधैर्य से धैर्य में, अशान्ति से शान्ति में, मनुष्यत्व से देवत्व में इत्यादि।
- साधक कभी भी भगवान् को खोकर संसार को नहीं पाना चाहते जबकि असाधक संसार के लिये भगवान् को आराम से छोड़ देते हैं।
- साधक के साथ जो भी अच्छा-बुरा घटित होता है उसका सहज स्वीकार भाव। असाधक को अच्छा स्वीकार बुरा अस्वीकार।
- साधक जो सत्यनिष्ठ, शुद्ध एवं पवित्र जीवन जीता है, वह सब उसके अपने आत्मसन्तोष के लिये होता है न कि किसी को प्रभावित करने के लिये। असाधक कोई अच्छा कर्म करता भी है तो वह अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिये।

- साधक के किसी भी क्रिया कलाप, किसी भी सेवादि कार्य का लक्ष्य स्वान्तःसुखाय जबकि असाधक का उद्देश्य भौतिक उपलब्धि, चाहे तो वह रुपये-पैसे के रूप में हो या प्रसिद्धि अथवा यश-कीर्ति आदि के रूप में, चाहे कोई पद-प्रतिष्ठा पाने के लिये हो या शक्ति (power) प्राप्त करने के लिये।
- किसी व्यक्ति को एक अच्छे साधक के रूप में कोई एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों का समुदाय स्वीकार न करे तो इससे साधक के मन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता, न निराशा-हताशा आती है, न कोई हल्की सी अपेक्षा ही उत्पन्न होती है। साधक शान्त भाव से स्वकर्म व स्वधर्म में निरत रहता है जबकि असाधक को उसके कार्यों का समर्थन (appreciation) न मिले तो वह निराश-हताश हो जाता है, असाधक के कर्मों को सतत जारी रखने के लिये बाह्य समर्थन अत्यावश्यक होता है।
- जो लोग साधक के किसी पूर्व विपरीत आचरण के कारण उसे स्वीकार नहीं कर पाते, साधक उनसे किञ्चित् भी न तो क्रुद्ध होता है और न ही वह अपने को प्रतिष्ठापित करने के लिये किसी रूप में यत्नवान् होता है, जबकि असाधक दूसरों के बीच अपने को स्थापित करने के लिये बहुत कोशिश करता है। असाधक की जब लोगों के बीच में किसी रूप में अच्छी पहचान बनती है तो वह फूलों नहीं समाता, मानो कि उसकी अपनी प्रियतम वस्तु उसे मिल गयी हो।
- साधक की अपनी छवि का मॉडल अपनी अन्तरात्मा द्वारा निर्धारित जबकि असाधक की आदर्श छवि का निर्धारक समाज।
- साधक का आदर्श— ‘सर्वं जिह्मं मृत्युपदम् आर्जवं ब्रह्मणः पदम्।’ (महाभारत) किसी भी प्रकार की कुटिलता मृत्युपद है और सरलता ब्रह्म का पद है। जबकि असाधक का आदर्श ‘येन-केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।’ किसी भी उपाय से व्यक्ति प्रसिद्ध, ताकतवर बन जाये।
- साधक यह चाहता है कि उसकी अन्तरात्मा उसे स्वीकार कर ले, फिर बेशक उसे कोई भी स्वीकार न करे किन्तु असाधक की चाहत है कि मैं किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा कैसे भी स्वीकार कर लिया जाऊँ।

- असाधक का सम्पूर्ण जीवन ही एक या अनेक व्यक्तियों को खुश करने में जाता रहता है, बेशक उसकी आत्मा अन्दर तड़फती रहे। साधक आत्मा को नहीं तड़फाता क्यों न सारी धरती ही नाखुश रहे।
- व्यक्तियों की स्वीकृतियाँ-अस्वीकृतियाँ असाधक के लिये बहुत बड़ी अहमियत रखती हैं, साधक के लिये उनका कुछ विशेष अर्थ नहीं है, उसे चाहिये अपने अन्तरात्मा की स्वीकृति।
- साधक चाहता है मैं अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध किसी पाप का आचरण न करूँ, असाधक पाप करने से नहीं डरता, बल्कि इस बात से डरता है कि पाप करता हुआ पकड़ा न जाऊँ।
- साधक की कार्यस्थली उसके अपने मन व इन्द्रियों का रूपान्तरण, असाधक की कर्मभूमि बाह्य जगत् में परिवर्तन।
- साधक अपने दोषों को अपनी आँखों से देख पाता है, असाधक अपने भीतर विद्यमान दोषों को देख ही नहीं पाता कि मुझ में दोष भी हैं।
- असाधक ढिंढोरा तो सत्य का ही पीटता है किन्तु करता सब असत्य ही है, भगवान् के नाम पर अहङ्कार के मुख में ही आहुतियाँ डालता रहता है, असाधक की यह मुख्य कमजोरी है, साधक इस कमजोरी से मुक्त होता है।
- असाधक के भीतर यह विश्वास ही नहीं होता कि सत्य, धर्म या भगवान् के विधान पर अडिग रहूँगा तो सत्य, धर्म या भगवान् मेरी रक्षा करेगा, उसे अपनी बुद्धि के द्वारा निर्मित योजनाओं पर, अपने पुरुषार्थ पर, अपनी बौद्धिक क्षमताओं पर, अपनी मनःशक्ति और अपनी वाक्शक्ति पर ही भरोसा होता है, बेशक वह असत्य या अर्द्धसत्य से युक्त ही हो, साधक का तो एकमात्र सत्य ही शरण होता है।
- साधक कभी भी असत्य के साथ समझौता नहीं करता, असाधक को इसमें कोई आपत्ति नहीं होती।
- साधक अपना स्वभाव बिगाड़कर कुछ भी करना नहीं चाहता, असाधक की दृष्टि लोगों के बीच कुछ अच्छा करके दिखाना चाहता है, स्वभाव बिगड़े तो बिगड़े।

४. प्रभो! वर दो

- प्रभो! वर दो कि समता पर गति प्रतिष्ठित हो। सन्तुलित गति, सन्तुलित क्रियाशीलता।
- प्रभो! वर दो कि तेरे लिये मेरे हृदय में सतत प्रेम ऐसे ही बढ़ता रहे जैसे अनुकूल विषय पाकर लोभी की लोभ-तृष्णा, कामी का काम, क्रोधी का क्रोध, अहङ्कारी का अहङ्कार, ईर्ष्यालु की ईर्ष्या, द्वेषी का द्वेष, रागी का राग बढ़ता रहता है।
- प्रभो! वर दो कि सदा मुझ में सद्बुद्धि, संतोष, संयम, सद्भाव व समता जागरित रहे, सदा-सदा के लिये प्रतिष्ठित ही हो जाये।
- प्रभो! वर दो कि मैं सदा सर्वदा राग-स्थानों में अशुभ / अमङ्गल / अशिव का तथा द्वेष-स्थानों में शुभ / मङ्गल / शिव का दर्शन कर सकूँ और इस प्रकार राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ।
- प्रभो! वर दो कि मैं कभी प्रज्ञापराध का शिकार न होऊँ। यह अद्भुत मनुष्य जीवन का अपमान होगा।
- प्रभो! वर दो कि मैं अपने भावों को सदा शुद्ध रखूँ। पवित्रता, शुद्धि मेरा स्वभाव बन जाये।
- प्रभो! वर दो कि जैसे मैं एकान्त में तेरे साथ एकत्व में रहता हूँ, वैसे ही कर्म करते समय, सम्बन्धों का निर्वाह करते समय, किसी के साथ कोई व्यवहार करते समय भी वह एकत्व बना रहे।

प्रभो! तेरे साथ एकत्व में जीना कितना सुखद, कितना अभयप्रद, कितना भारमुक्त, कितना क्लेश-भय-बन्धन से रहित, कितना प्रेम व करुणा से ओत-प्रोत, कितना देहात्मभाव से रहित कर देता है और शुद्ध ज्ञान में कितना सराबोर रखता है, यह मैंने भली भाँति जान लिया है। प्रत्येक को ही यह खोज अपने-अपने लिये कर लेनी चाहिये।

- यदि हम सचेत हैं, ग्रहणशील हैं, अधिक से अधिक सीखने के इच्छुक हैं, अपना परिष्कार करना चाहते हैं तो इस सृष्टि की अनेकानेक घटनायें, शास्त्र, गुरु-आचार्य, हमारी अपनी गलतियाँ, दूसरों का व्यवहार, कोई एक शब्द, एक वाक्य हमारा ध्यान दिलाता रहता है कि यह ठीक है, यह गलत है। जब किसी बिन्दु पर हमारा ध्यान पूरा का पूरा चला जाता है तो वह बिन्दु, वह तथ्य हमारे हृदय में बैठ जाता है, हमारे हृदय को छू जाता है और तुरन्त ही सदा-सदा के लिये हमारे हृदय से चिपक जाता है। परिणामतः हमारा रूपान्तरण हो जाता है।
- प्रभो! वर दो कि वेदों में जो आपकी महिमा वर्णित है वह पूरी की पूरी मेरे हृदय में बैठ जाये। उसका कुछ भी शेष न छूटे।
- प्रभो! वर दो कि आपके सिवाय मुझे कुछ भी न दिखाई दे। सर्वत्र-सर्वदा सब रूपों में मैं आपके ही दर्शन करना चाहता हूँ। मुझ में यह निष्ठा, यह श्रद्धा और अच्छे से जम जाये यह प्रार्थना है।
- प्रभो! वर दो, आपकी कृपा से मुझे जो ऊर्जा मिलती है उसका थोड़ा सा भी अपव्यय न करूँ। इस धरती पर आपकी यह अनुपम देन आपको अभिव्यक्त करने में आपके काम के लिए ही काम आये। आपके इस दिव्य उपहार का मैं अपने सुख के लिए थोड़ा सा भी उपयोग न करूँ।
- प्रभो! वर दो कि मेरी सत्ता की एक-एक कोशिका में आपका दिव्य तेज व्याप्त हो जाये।
- प्रभो! वर दो, देवगण जिस अमृत का पान करके सदा तृप्त रहते हैं, मैं भी उस अमृतपान से उन्हीं की तरह सदा तृप्त रहूँ।
- प्रभो! वर दो, मेरी सत्ता का कोई भी अङ्ग आपसे विमुख न हो। मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व सदा आपकी ओर उद्घाटित रहे।
- प्रभो! वर दो कि मैं अन्तर्विरोध में न जीऊँ। मेरी आन्तरिक माँग व बाह्य जीवन में किसी प्रकार का विरोध न हो, पूर्ण सामञ्जस्य हो।
- प्रभो! वर दो कि मैं सृजन का आनन्द ले सकूँ। किसी भी लौकिक कामना

से प्रेरित होकर कोई कर्म न करूँ। प्रभो! जब मेरा मन आपके साथ एकतानता (Tuning) में रहता है तो सब कुछ कितना सहज लगता है।

- प्रभो! वर दो कि अनुकूल-परिस्थितियों के समान विषम-परिस्थितियों को भी आपका उपहार समझूँ। मेरी श्रद्धा व निष्ठा प्रतिकूलताओं के झञ्झावात में भी अकम्पित बनी रहे। ये प्रतिकूलताओं की आँधियाँ मेरे ज्ञान-दीप को बुझा न पायें। यह बाह्य उथल-पुथल मेरी मनःशान्ति को भंग न करे। कोई भी बाधा मेरी गति में अवरोध पैदा न कर सके। मैं सदा धीर स्थिर बना रहूँ।
- प्रभो! वर दो कि मैं बाह्य शासन के बजाय अन्दर के अनुशासन में जीऊँ।
- प्रभो! वर दो कि सब शास्त्रों व गुरु-आचार्यों के विधि-निषेध मेरे मस्तिष्क तक ही न रहें। मेरे अन्दर की, मेरे दिल की माँग बन जायें। प्रभो! मेरा तात्पर्य यही है कि मैं बाहर से निर्देशित इस विधि-निषेध की उहापोह (खींचाताण) में बिल्कुल पड़ना नहीं चाहता, मैं तो बस आपकी सहज स्फुरणा, सहज बोध, सहज अन्तः प्रेरणाओं में जीना चाहता हूँ।
- प्रभो! मुझे वर दो कि मैं सदा ज्ञान-समाधान, शील, सन्तोष, श्रद्धा, तप व दीक्षा को अपना सम्बल बनाऊँ, अपनी धीरता को कभी न त्यागूँ।
- प्रभो! वर दो कि मैं अपने भीतर पूर्ण स्वराज्य, पूर्ण शान्ति, पूर्ण समता को स्थापित कर सकूँ। आपके ज्ञान-बल-आनन्द को बाहर फैलाने के लिए एक सशक्त यन्त्र बन जाऊँ।
- प्रभो! तू है ना! तेरे जैसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वसुहृत्, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर, सर्वाधार के प्रत्येक मनुष्य के अंग-संग रहते हुए भी यदि कोई अपने लिए चिन्ता करे तो इसे उसके अज्ञान के अतिरिक्त और क्या नाम दें?
- प्रभो! वर दो कि मेरे जीवन में हर रोज वही उत्साह हो जो सांसारिक लोगों में किसी उत्सव, किसी सफलता या किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के समय कभी-कभी देखने में आता है।

- प्रभो! वर दो कि मैं समस्त भूतकाल अर्थात् अमङ्गल, अशुभ, अनिष्ट, पाप व पुराने संस्कारों के प्रति मरता रहूँ।
- प्रभो! वर दो कि प्रतिदिन एक नये जन्म के रूप में मेरा धरती पर प्रादुर्भाव हो। प्रतिदिन एक नयी उषा का दर्शन करूँ।
- प्रभो! वर दो 'कृतज्ञता-धन्यवाद' मेरा स्वभाव बन जाये। कृतज्ञता मेरे हृदय के अन्तिम छोर तक पहुँच जाये। कृषकों के लिये कृतज्ञता...। गायों के लिये कृतज्ञता...। ज्ञानदाता गुरु आचार्यों के लिये कृतज्ञता...। शास्त्रों के लिये कृतज्ञता...। प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोगियों के लिये कृतज्ञता...। प्रत्यक्ष व परोक्ष विरोधियों के लिये भी कृतज्ञता। सम्मान देने वालों के लिये कृतज्ञता व अपमान देने वालों के लिये भी। अनुकूल परिस्थितियों के लिये भी और प्रतिकूलताओं के लिये भी। खुशियों के लिये भी और गमियों व आँसुओं के लिये भी। भूमि माता के लिये, वृक्ष-ओषधि-वनस्पति के लिये, पर्जन्य व समुद्र देवता के लिये, पर्वत और नदियों के लिये, दुःख, नरक, कष्ट, पीड़ा, अशुभ व अमङ्गल के लिये, यज्ञस्वरूप भगवान् के लिये और सम्पूर्ण अस्तित्व के लिये कृतज्ञता! कृतज्ञता! धन्यवाद!
- प्रभो! वर दो कि माधुर्य से भरा रहूँ। किसी भी व्यक्ति, घटना, परिस्थिति व्यवहार से गिला-शिकवा न हो।
- दाता ने हमको इतना कुछ दिया है उसको सतत याद करते रहें, यदि हम थोड़ी सी भी समझ रखते हैं तो निश्चित ही कभी भी कृतघ्न नहीं हो सकते।
- प्रभो! वर दो कि मैं कृतघ्न न रहूँ। शिकायत, गिला-शिकवा तेरे प्रति कृतघ्नता का ही तो रूप है, क्योंकि हम देख ही नहीं पा रहे कि आप के दान अनन्त हैं।
- प्रभो! वर दो कि तेरा ज्ञान, बल, आनन्द, तेरी कृपा, तेरी रहमत मेरे जीवन की प्रथम और अन्तिम आवश्यकता बन जाये। तुझ से आने वाले दिव्य ज्ञान के प्रति मैं सदा अपने आपको उद्घाटित रख सकूँ।
- प्रभो! वर दो कि मैं जीवन के इस सत्य रूपी पर्वत पर सतत आरोहण

करता रहूँ। इस यात्रा में कुछ मुझसे आगे चल रहे हैं कुछ पीछे। पीछे वालों को देख कर अहं भावना, तुष्टि या विशेषता अनुभव न हो तथा आगे चलने वालों के कारण निराशा-हताशा, हीन भावना न आये। सुस्थिर मन से निरन्तर चलता रहूँ।

- प्रभो! वर दो कि मैं ईर्ष्या से सर्वथा मुक्त रहूँ। यह ईर्ष्या क्यों होती है? व्यक्ति दूसरे की तुलना में अपने को कम मूल्यवान् समझने लगता है, अपने को असुरक्षित महसूस करने लगता है। एक अर्थ में ईर्ष्या भय का ही एक उत्पाद है। जो कोई वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, विचार या सम्बन्ध हमारे सुख में हमें बाधक लगने लगता है उससे हमें ईर्ष्या हो जाती है।

- प्रभो! वर दो कि मैं पराप्रकृति में ही जीऊँ। विकार मात्र ही अपरा प्रकृति का सत्य है। जहाँ अपरा प्रकृति का नेतृत्व 'अहङ्कार' के हाथ में है वहीं पराप्रकृति का नेतृत्व कर रहा है स्वयं सच्चिदानन्द भगवान्। अहङ्कार के राज्य में प्रायः जिन मीठे या कड़वे फलों का बोलबोला है वे हैं— खण्डित सुख, दुःखमिश्रित सुख, इन्द्रियों की पराधीनता, मात्र सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान या वैषयिक सुख में तृप्ति, देहात्मभाव इत्यादि। सच्चिदानन्द भगवान् के राज्य के सत्य हैं— पूर्णबोध, पूर्ण तृप्ति, पूर्ण समाधान, चैत्यतत्त्व में अवस्थिति और जड़ता से मुक्ति।

- प्रभो! वर दो कि मैं किसी विषय पर चर्चा प्रसङ्ग में अपनी आन्तरिक शान्ति को न खोऊँ, धीर बनकर रहूँ। मेरे मुख पर खिंचाव-तनाव न आये। मेरी आँखों का प्रेम गायब न हो। क्योंकि मेरी यह समझ में आया कि जब मैं अन्दर से अधीर होता हूँ तो उस अधीरता के चिह्न मेरे मुख, वाणी और आँखों में स्पष्ट ही दिखाई देने लगते हैं।

- 'धीर पुरुष सचेतन रहते हुए मन के पूर्ण होश के साथ अपनी वाणी का प्रयोग करते हैं'। (यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत) हे प्रभो! वर दो कि इस वैदिक आज्ञा को अपना स्वभाव बना लूँ।

- प्रभो! वर दो कि मैं दूसरों के साथ अपनी वाणी के व्यवहार एवं किसी भी

क्रिया-कलाप में अपनी आन्तरिक प्यास से इधर-उधर न होऊँ।

- प्रभो! वर दो कि वैदिक ऋषि जिस ऊँचाई पर मनुष्य को प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं वहाँ सुप्रतिष्ठ हो सकूँ— धीर, विप्र (धर्मात्मा, ज्ञानी), कवि (क्रान्तद्रष्टा), दध्यङ् (ध्यान सम्पन्न), अथर्व (सब परिस्थितियों में अडोल अर्थात् स्थिर), व्रती, दीक्षित, वाचस्पति, बृहस्पति, सुदाः (जिसके दान अद्भुत हैं), त्रित (दुःख सागर को जिसने पार कर लिया या बुद्धि से आगे बढ़ा हुआ), नर (जो विषयों में रमण नहीं करता 'न रमते'), भरद्वाज (अपने अन्दर शक्ति को भरने वाला), शंयुः (शरीर के दृष्टिकोण से नीरोग व स्वस्थ और मन से निर्भीक 'शमनं च रोगाणां यावनञ्च भयानाम्'), मेधातिथि (निरन्तर मेधा की ओर चलने वाला, 'मेधाम् अतति'), मधुच्छन्दाः (मधुर उत्तम इच्छाओं वाला), विश्वामित्र (जिसके सभी मित्र हैं, जो किसी से भी द्वेष करने वाला नहीं है), जेता (विजयशील जो कभी पराजित नहीं होता), काण्व (कण-कण करके ज्ञान का संचय करने वाला), गोतम (अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों वाला), आप्त (जिसने प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है, जो अपने लक्ष्य पर पहुँच गया है), इन्द्र (ऐश्वर्यशाली होता हुआ शत्रुओं का संहार करने वाला, साक्षात् बल का पुञ्ज, जैसा कि इन्द्र मरुतों से कहता है— अहं हि उग्रस्तविषस्तुविष्मान् विश्वस्य शत्रोरनमन् वधस्मैः ऋ० १.१६५.६ अर्थात् मैं उद्गूर्ण बल वाला बलवान् और अतिबलवान् हूँ, मैं वध कौशलों से शत्रु को वश में करता हूँ), मरुत् (ये मर जाते हैं किन्तु पीठ नहीं दिखाते, ये इन्द्र से कहते हैं— हमारे अनुप्राणित करने वाले बलों से युक्त होकर ही हे शक्तिशालिन् इन्द्र! तूने बहुत से कर्म किये हैं। ऐ इन्द्र! हम मरुत् जो काम करना चाहते हैं उन अनेकानेक कार्यों को शक्ति द्वारा कर ही डालते हैं), बृहद्दिवा (ऊँचे ज्ञान वाला), विहव्य (विशिष्ट पुकार वाला, उसकी पुकार है— 'एनो मा नि गां कतमच्चनाहम्' मैं कभी पाप नहीं करूँगा), परमेष्ठी (परम स्थान में स्थित), मान्धाता (इन्द्र जिसके लिये यह कहे कि यह मुझे धारण करेगा, 'मां धास्यति'), सुकीर्ति (उत्तम यश वाला), अत्रि ('अविद्यमानास्त्रयः कामक्रोधलोभा यस्मिन्, जो काम-क्रोध-

लोभ से अतीत है), ऋतजुरम् (ऋत में ही जीर्ण हो जाने वाला), तापस (तपस्वी, तपोमय), अग्नि (आगे ले चलने वाला), पावक (पवित्र करने वाला), जरिता (स्तोता जो प्रभु के अतिरिक्त अन्य को आप्तव्य नहीं मानता 'न हि अन्यद् अस्ति आप्यम्'), ताक्ष्य (निरन्तर गतिशील), सत्यधृति (सत्य पर दृढ़ता से चलने वाला), वृषभ (वृषा, शक्तिशाली, शक्तिपुत्र), अधमर्षण (अघ अर्थात् पापों का मर्षण करने वाला), तपुर्मूर्धा (तपस्वियों का मूर्धन्य) कत (कं तनोति कतः— 'सुख को फैलाने वाला', कत की घोषणा— 'मा नो अने अमतये मावीरतायै रीरधः । मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदे मा द्वेषांस्याकृधि' ।। ऋ० ३.१६.५ हमारे अन्दर अमति अर्थात् Evil mindedness न हो, हम अवीर अर्थात् Coward न हों, हमारी इन्द्रियाँ प्रशस्त हों, हम निन्दा के लिये न हों, सब प्रकार के द्वेष हमारे से दूर रहें), भृगु (तप से भुना हुआ), कूर्म (करोति इति कूर्मः, कूर्म की चार प्रार्थनाएँ— (१) मेरे से Sins of omission अर्थात् कर्तव्य अपालन न हो (२) मैं निरन्तर नदीवत् ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्य करने वाला बनूँ (३) अस्वस्थ होकर कर्मतन्तु को विच्छिन्न न होने दूँ (४) वृद्धावस्था में भी मेरी क्रियाशक्ति क्षीण न हो।), कुशिक (अर्थों का प्रकाशक, प्राप्त ज्ञान को औरों को देने वाला)। केतु (ज्ञानी), देवजामयः इन्द्रमातरः (देवताओं को जन्म देने वाली इन्द्र की माताएँ), शासः (जो अपना शासन करता है, इन्द्रियों का गुलाम नहीं), पृथुः (जो अपने हृदय को विशाल बनाता है), वेनः (चमकता हुआ मेधावी)। ये सब दिव्यताएँ मुझमें प्रतिष्ठित हो जायें।

- प्रभो! वर दो मैं स्वयं को भी प्रकाशित करूँ और अन्यो को भी। पहले अपने को समझाऊँ फिर दूसरों को।
- प्रभो! मैं यह कभी न भूलूँ कि शान्ति के आधार पर या शान्ति की नींव पर सत्य का भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। दूसरों की मदद करने के लिये पहले अपने अन्दर अपने हृदय में शान्ति को स्थापित करना होगा, फिर उस शान्ति को वाणी, आँख और मुँह पर लाना होगा। इसके बिना सत्य की बातें तो हो सकती हैं, सत्य की स्थापना या प्रतिष्ठा नहीं।

- प्रभो! वर दो कि मैं सत्य का सच्चा अनुयायी बनूँ कहीं सत्य की स्थापना के नाम पर सत्य का विध्वंसक और भञ्जक न बन जाऊँ।
- प्रभो! यह समझ में आया कि जब तक मुझ में अहङ्कार सक्रिय है तब तक प्रेम, विश्वबन्धुत्व, वसुधैव कुटुम्बकम्, एकत्व की केवल कोरी बातें ही होंगी। अहङ्कार के प्रति सचेतन हुए बिना न तो अहङ्कार समझ में आता है और न ही उससे मुक्ति मिल सकती है।
- प्रभो! वर दो कि मैं अहङ्कार की सूक्ष्मतम क्रियाओं को जान सकूँ। यह बुद्धिमान् मनुष्य सत्य के पोषण के नाम पर अहङ्कार का ही पोषण क्यों करता चला जा रहा है? इसी का तो नाम है— 'बेहोशी'।
- प्रभो! वर दो कि जो मैं जानता हूँ, किसी के ध्यान दिलाने से या स्वयं के ही विचार से या किसी ग्रन्थ से, जिस को भी मैंने हितकर-अहितकर जाना या हितकर-अहितकर माना, उसके प्रति पूर्ण सचेत होकर जीऊँ, बेहोशी में न जीऊँ। ठीक-ठीक जानने व मानने से अवश्य ही रूपान्तरण घटित होता है, किन्तु तभी जब व्यक्ति उसके प्रति क्षण-क्षण में सचेत रहता है।
- प्रभो! तेरे प्रति आत्म-समर्पण, अविचल श्रद्धा, अनन्य प्रेम तथा अव्यभिचारिणी भक्ति निरन्तर बढ़ती ही रहे। मेरे जीवन की यह प्रथम व अन्तिम अभीप्सा बन जाये।
- प्रभो! वर दो कि मैं मित्रों से अभय रहूँ, अमित्रों से भी अभय रहूँ। जो परिचित हैं उनसे भी और जो परोक्ष हैं उन सब से भी अभय रहूँ। दिन में और रात में सदा अभय रहूँ। सब दिशाएँ मेरी मित्र बन जाएँ। मेरा जीवन ऐसा हो कि किसी से भी मुझे भय न लगे। ज्ञान व आचरण की कमी से ही तो मनुष्य के मन में भय का संचार होता है। (अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।) यह अभय होना क्या है? शुद्ध जीवन, पवित्र जीवन, पूर्ण जीवन, धर्मनिष्ठ जीवन, इच्छामुक्त जीवन, सुख के प्रति वितृष्ण जीवन, निरपेक्ष जीवन, किसी के भी कार्य में या जीवनचर्या में हस्तक्षेप रहित जीवन, स्पृद्धारहित जीवन, समस्त

भूतकाल के प्रति मरा हुआ जैसा जीवन, ध्यानमय जीवन, ज्ञान से आलोकित जीवन, अपनी अन्तःसत्ता से जुड़ा हुआ जीवन, खुली किताब जैसा जीवन, कानून-समाज-गुरु-शास्त्र की मर्यादाओं के अनुकूल जीवन या सबके साथ सामञ्जस्यपूर्ण प्रेममय जीवन का ही दूसरा नाम अभय होना है।

प्रायः व्यक्ति अपने आप को दूसरों की नजरों में अच्छा सिद्ध करना चाहता है। वह हमेशा इस बात से भयभीत रहता है कि अमुक व्यक्ति तेरे बारे में कहीं विपरीत तो नहीं सोच रहा। किसी की भी गलत टिप्पणियों से व्यक्ति को भय लगना एक आम बात है, क्योंकि व्यक्ति बहुत ही ऊपरी सतह पर जीता है। दूसरों के द्वारा किया गया उसके व्यक्तित्व का आकलन बहुत बड़ी अहमियत रखता है। अब चूँकि यह अहंकारकेन्द्रित जीवन सदा ही दूसरों के समक्ष अपने को विशेष सिद्ध करना चाहता है। उसमें बाधा आते ही भय प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः व्यक्ति को पूर्ण निर्भय होने के लिये अपने आन्तरिक मनोवैज्ञानिक ढाँचे को ठीक से समझना होता है। इसके बिना कोई कुछ भी करे भय पीछा नहीं छोड़ेगा। भय के उन समस्त कारणों को जो अहंकार से सम्बन्धित हैं, उन्हें ठीक से समझना होगा। किसी असत्य को असत्य के रूप में देख लिया जाता है तो वह असत्य छूट ही जाता है या दूसरी तरफ से कहें तो जब किसी सत्य को सत्य के रूप में देख लेते हैं तो वह सत्य हमें मुक्त कर देता है। पूर्ण निर्भय जीवन का अन्तिम उपाय तो अपनी आत्मा में स्थित होना या सत्य में स्थित होना ही है।

किसी भी प्रकार की न्यूनता अपूर्णता भय को जन्म देगी ही। किसी को किसी के विपरीत आचरण का पता चल गया, अब यह व्यक्ति स्वयं से ही डरता रहता है कि यह क्या हो गया? किसी के जीवन के गोपनीय तथ्य किसी को ज्ञात हैं, वह व्यक्ति उससे सदा भयभीत रहता है कि कभी यह किसी को मेरी गुप्त बातें बता न दे? कोई व्यक्ति दुर्भाव के साथ किसी संस्था को छोड़ता है, संस्था के अधिकारियों को सदा उस व्यक्ति से भय बना रहता है कि कहीं हमारी निन्दा न करे। इसी प्रकार दो मित्र परस्पर एक दूसरे की कमियाँ जानते

हैं, किन्तु आगे चल कर एक दूसरे से विरोध पूर्वक अलग हो जाते हैं तो सदा परस्पर एक दूसरे से डरते हैं कि मेरी कमजोरियों का किसी को पता न चल जाये। किसी के अन्यथा आचरण का बालक को भी पता चल जाये तो भय प्रारम्भ हो जाता है। चित्त यदि निर्मल है तो अपनी ही भूलों से अपने को भय लगता है। अतः पूर्ण अभय होने के लिये सब प्रकार की पूर्णता चाहिये।

- प्रभो! आपका ध्यान, आपकी कथा-श्रवण तथा आपकी इस सृष्टि के बारे में चिन्तन-मनन कितना शान्तिदायक है, कितना अद्भुत है, जीवन में कितना हल्कापन ला देता है, इसकी मैं कैसे व्याख्या करूँ, अपने हृदयगत भावों को प्रकट करने के लिये शब्दों की अपनी एक सीमा आ जाती है।

- प्रभो! वर दो कि मैं अपनी मंजिल की तरफ सतत आगे बढ़ता रहूँ। मेरी यह यात्रा किसी भी भय-बाधा-प्रलोभन से न तो रुके और न झुके। बिना दाएँ-बाएँ देखे आगे ही आगे देखता रहूँ। यात्रा में बेशक कितनी ही खड़ी चढ़ाईयाँ हों, किन्तु आपका सहारा लेकर बिना थके, बिना हार माने, झाड़-झंखाड़ में बिना उलझे, प्रसन्नतापूर्वक, आशा-ऊर्जा व उत्साह से भरपूर होकर यात्रा का आनन्द लेता हुआ आगे ही आगे बढ़ता रहूँ।

- प्रभो! वर दो कि चाहे मित्र हों या अमित्र, ज्ञात हों या अज्ञात, दिन हो या रात किसी भी अवस्था में मुझे भय न हो। प्रायः व्यक्ति अपनी उचित बात भी किसी के सामने रखते समय झेंप खाता रहता है कि अगला व्यक्ति नाराज न हो जाये, कहीं बुरा न मान जाये। ऐसे प्रसङ्गों के लिये यह प्रार्थना है कि किसी से भी मुझको भय न हो, सारी दिशाएँ मेरी मित्र बन जायें। अर्थात् मैं ऐसा प्रेममय होकर जीऊँ कि मेरे प्रेम पर किसी को सन्देह न हो कि वह मेरा अशुभ चिन्तक है।

या तो दूसरा व्यक्ति तब बुरा मानता है या नाराज होता है जब उसे संशय होता है कि मैं उसका हितैषी हूँ भी या नहीं या फिर हम उससे अपने आप को विशेष सिद्ध करना चाहते हैं, दूसरे को नीचा दिखाना चाहते हैं। दूसरे व्यक्ति को तब भी अच्छा नहीं लगता जब हम छोटे मुँह बड़ी बातें बोलते रहते

हैं। हमारा अपना जीवन तो निर्दोष या पूर्ण होता नहीं और दूसरों को ठीक करना चाहते हैं तो कोई भी इसे पसन्द नहीं करता।

यदि दूसरे को हम से किसी रूप में भय मालूम पड़ता है तो वह या तो उसका अहङ्कार छोटा पड़ने के कारण या किसी दौड़ में पिछड़ जाने के कारण या हमारे कारण उसके सुख में, सम्मान में, पद-प्रतिष्ठा में, व्यापार आदि में बाधा पहुँचने के कारण होता है। ऐसे में निश्चित ही वह भी हमें वैसा ही प्रत्युत्तर देगा, वह भी अपनी शक्ति के अनुसार हमें भय प्रदान करेगा ही।

ऐसी स्थिति में निर्भय होने का एक ही रास्ता है, एक ही उपाय है कि इस भय की शृङ्खला को तोड़ने का उपक्रम हम अपने से ही करें। तात्पर्य यह है कि दूसरों को अभय करने के लिए हम अपने अन्दर प्रेम का विकास करें, अपने व्यवहार को शुद्ध करें, अपने राग-द्वेष का क्षय करें, दूसरों के जीवन में अधर्म व अन्यायपूर्ण अनावश्यक हस्तक्षेप बन्द करें, दूसरों से अपनी अपेक्षाओं को समाप्त करें, किसी भी रूप में अपने अहङ्कार को सिर न उठाने दें। ऐसा करने से दूसरे 'दूसरे' रहते ही नहीं, वे हमारे मित्र बन जाते हैं, हमसे एकरूप होकर जीने लगते हैं। इस प्रकार हमसे जैसे उनका भय समाप्त हो जाता है वैसे ही हमें भी उनसे किसी प्रकार का भय नहीं होता। मित्र को मित्र से कैसा भय? क्योंकि 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। स्वयं को स्वयं से कभी भी भय नहीं होता। हाँ! कभी-कभी स्वयं को भी स्वयं से भय लगता है वह तभी होता है जब व्यक्ति दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक हिस्सा कुछ अन्य चाह रहा है और दूसरा कुछ अन्य कर रहा है। यदि कोई अपने भीतर अखण्ड एकरूप होकर जी रहा है तो उसे कभी भी भय नहीं होता। प्रभो! वर दो कि मैं अपने भीतर अखण्ड रहूँ।

• हे प्रभो! मुझे साधन-साध्य का ऐसा निर्मल या स्वच्छ विवेक चाहिए जो कभी भी विपर्यास को प्राप्त न हो।

• हे प्रभो! मुझे ऐसा बल चाहिए जो ज्ञान को कर्म में, आचरण में या व्यवहार में बदल डालने की सामर्थ्य रखता हो, जो चल रही हानिकारक गलत शृङ्खलाओं को तोड़ डाले।

• हे प्रभो! मुझे ऐसा ज्ञान-चाहिए जो निर्भ्रान्त हो, सत्य व असत्य का स्वरूप ठीक-ठीक मेरे समक्ष उद्घाटित कर दे, जिसे पाकर मैं अपिपास हो जाऊँ। कुछ भी पाना शेष न बचे।

• हे प्रभो! मुझे ऐसा प्रेम चाहिए जो स्वार्थ, आसक्ति, तुलना, अधिकारभाव आदि दोषों से मुक्त हो।

• हे प्रभो! मुझे ऐसी शान्ति चाहिए जो किसी भी परिस्थिति में, किसी भी प्रतिकूलता में भङ्ग न हो।

• हे प्रभो! मुझे ऐसा धैर्य, धृतिशक्ति या धीरता चाहिए जो कभी भी मुझ को भागवत सत्य व भागवतविधान से इधर-उधर विचलित न होने दे।

• हे प्रभो! आपके साथ एकत्व में रहना कितना सुखद है फिर भी इस दिव्य सुख में जीने की सतत प्यास क्यों नहीं जगती? इस एकरस निर्मल सुख का त्याग कर खण्डित सुख की चाह क्यों?

• हे प्रभो! मुझे ऐसी जागृति चाहिए जिसमें एक क्षण के लिए भी झपकी न आये। मैं ऐसा जागरित रहना चाहता हूँ जैसा कि तू स्वयं है।

• हे प्रभो! मुझे हठात् पकड़कर तू अपने पास रख। मैं कितना भी छुड़ाकर भागने की कोशिश करूँ, अपने अपरिमित बल का प्रयोग कर मुझे इधर-उधर हिलने भी न दे। अपने वैभव, अपने तेज, अपनी ज्योति से मेरे मन को अभिभूत रख। प्रभो हर क्षण मैं तो तुम्हारे साथ रहना चाहता हूँ।

• जीवन की गम्भीरतम समस्या लोक में या तो आजीविका को माना जाता है या परस्पर सामञ्जस्य अथवा तालमेल के अभाव को। किन्तु मूलभूत समस्या है— अपने सच्चे स्वरूप को न पहचानना या यों कहें सम्पूर्ण अस्तित्व के ही स्वरूप को न पहचानना। यदि व्यक्ति को अपने असली स्वरूप का और समूचे अस्तित्व का ठीक-ठीक बोध हो जाये तो न आजीविका की समस्या रहेगी और न ही परस्पर तालमेल की। ज्ञान के अभाव में ही तो अमहत्त्वपूर्ण चीजें महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं और महत्त्वपूर्ण अमहत्त्वपूर्ण। प्रभो! वर दो कि विशुद्ध ज्ञान का आलोक मुझे अमहत्त्वपूर्ण को अमहत्त्वपूर्ण और

महत्वपूर्ण को महत्वपूर्ण दिखाता रहे। कहीं भी संशय या भ्रान्ति पैदा न हो।

- प्रभो! वर दो कि मुझे अपने जीवन में किसी भी व्यक्ति के कारण चाहे वह मित्र है, अमित्र है, ज्ञात है, अज्ञात है असुरक्षा महसूस न हो (अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्)।
- हे प्रभो! वर दो कि सब दिखाएँ मेरी मित्र बन जाएँ, मैं कभी भी अपने को असुरक्षित महसूस न करूँ (अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु)।
- प्रभो! मुझे ऐसी बुद्धि चाहिए जो सदा धीर-गम्भीर व शान्त रहे। कभी भी जिसमें हलन-चलन या विचलन न हो। स्वर्ग व नरक को ठीक-ठीक देख सके। ऐसा कभी न हो कि स्वर्ग के चुनाव में नरक का चुनाव कर बैठे।
- एक तरफ स्वर्ग की लम्बी शताब्दियाँ दूसरी तरफ नरक के कुछ क्षण। विचार करने का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है— स्वर्ग की लम्बी शताब्दियाँ इष्ट हैं या नरक के कुछ क्षणों से बचना। शुभ कर्म या पुण्यों का यह सामर्थ्य है जो हमें स्वर्ग तक ले जाता है। किन्तु उन पुण्यों का भुगतान होने पर फिर उसी अज्ञानमय लोक में आना पड़ता है। अज्ञान है तो नरक के कुछ क्षण ही सही पर होंगे अवश्य। प्रभो! वर दो कि यह अज्ञान एक क्षण के लिये भी न आये। जितना गहरा अज्ञान उतना बड़ा नरक। अज्ञान ही तो नरक है।
- जिस अज्ञान से मनुष्य का आत्मा घिरा रहता है उसे वेदों में हिरण्मय पात्र (सुनहरा ढक्कन) कहा है। सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान व यौवन की चमक ही वह सुनहरा पात्र है, जिसके कारण नरक के दर्शन होते हैं। हे प्रभो! इस आवरण को हटाने में मेरी मदद करो।
- जितने क्षण अज्ञान उतने क्षण नरक- यह एक पक्का समीकरण है।
- हमारे भीतर शाश्वत सत्य मौजूद है, हाँ! शाश्वत प्रकाश, किन्तु वह तर्कशील बुद्धि से आवेष्टित है। यही वह सुनहरा ढक्कन है जिसे साधक को हटाना होता है। प्रभो! अपने इस दीन व असहाय बालक की मदद करो।
- मनुष्य जीवन का लक्ष्य अज्ञान की निवृत्ति करना है या पुण्यसंचय? अज्ञान की

निवृत्ति से स्थिर शान्ति, अमिश्र आनन्द, सहज अन्तःप्रकाश उपलब्ध होता है जबकि पुण्यसञ्चय से शारीर व मानस सुख मिलता है। प्रभो! मार्गदर्शन कीजिए।

- हे प्रभो! मुझे ऐसा ध्यान चाहिए जो प्रतिपल अन्तःसत्य पर टिका रहे। यह अज्ञान ही है जो व्यक्ति को ध्यान की अपेक्षा पदार्थ में अधिक सुख दिखा देता है। प्रभो! इस आवरण को दूर करो।
- कभी-कभी जब माँ सामने नहीं होती तो यह अज्ञानी बालक झूठे मायावी खिलौनों के बहकावे में आकर माँ से दूर चला जाता है। क्या बालक के लिये माँ से भी अधिक कोई सुखदायक वस्तु हो सकती है। यही तो है अज्ञान की महिमा। प्रभो! इस आवरण को दूर करो।
- लौकिक पदार्थों की चाह सतत ध्यान व ज्ञान से ही मिट सकती है। जो कि कृपा साध्य है— भागवत कृपा या फिर सद्गुरु की कृपा। कृपा भक्तिसाध्य है। भक्ति प्रेमसाध्य है। प्रेम गुणों में प्रीतिसाध्य है। गुणों में प्रीति विचारसाध्य है। विचार विवेकसाध्य है। विवेक वैराग्यसाध्य है। वैराग्य विषयों में दोषदर्शन या दुःखदर्शनसाध्य है। विषयों में दोषदर्शन या दुःखदर्शन संवेदनशील मनःसाध्य है। संवेदनशीलमन सहृदयतासाध्य है। सहृदयता तन्मयतासाध्य है। तन्मयता अप्रमादसाध्य है। अप्रमाद जागरणसाध्य है। जागरण जागरित लोगों के संग व जागृति के लिए की गई सतत अभीप्सा से साध्य है। अभीप्सा प्रार्थनासाध्य है। प्रार्थना प्रार्थ्यमान विषय का सतत अनुभव करना रूप क्रिया से साध्य है। प्रार्थनीय विषय के अनुभव प्रार्थनीय विषय में श्रद्धा से साध्य है। श्रद्धा श्रद्धेय विषय में समर्पण से साध्य है। समर्पण स्व-आग्रह व स्वकामना के त्याग से साध्य है। कामनात्याग अपने ही द्वारा अपने में तृप्त रहने से साध्य है (आत्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश। यजु० ३२.११) प्रभो! मदद करो इस शृंखला को जारी रख सकूँ।
- हे प्रभो! मुझे ऐसी भक्ति चाहिए जो अखण्ड हो, सब देश और सब काल में हो, कभी-भी व्यभिचार अर्थात् विचलन को प्राप्त न हो, स्थिर हो।
- हे प्रभो! वर दो कि तुझ में मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे। तुझे ही मैं

अपनी परमगति, परम शरण समझूँ। तीनों लोकों में तुझसे उत्कृष्ट मुझे कुछ भी दिखाई न दे।

- हे प्रभो! मैं तुझ पर पूर्ण निर्भर रहूँ। अपनी रक्षा के लिये कहीं भी इधर-उधर न देखूँ। ज्ञान, बल, आनन्द शान्ति, समता, दृढ़ता, स्थिरता, धृति, करुणा व प्रेम क्या तुझसे भी अधिक कोई देने वाला है? फिर मैं क्यों इधर-उधर देखूँ।
- हे प्रभो! वर दो कि मैं पूर्ण आश्वस्त रहूँ कि तुम मेरी हर प्रकार से देख-भाल कर रहे हो। पदार्थ तो मुझे मेरे शारीर कर्मों के अनुसार कम या ज्यादा मिल ही जाते हैं। किन्तु कर्म से मैं ज्ञान, बल, आनन्द व मेधाशक्ति को कैसे पाऊँ? वह सब तो केवल और केवल आपकी कृपा से ही सम्भव है।
- हे प्रभो! मुझे आपकी ऐसी कृपा चाहिए कि मैं सदा समाधान की स्थिति में रहूँ। कभी भी संशय, भ्रान्ति, व्यामोह, अहङ्कार, राग-द्वेष, भय का स्पर्श न हो। आपके सिवाय कहाँ से मुझे यह सब कुछ मिल पायेगा?
- हे प्रभो! मुझे आपका दिव्य दर्शन चाहिए जिससे सभी नाशवान् भौतिक आकर्षक पदार्थों के प्रति मेरी आँखों का राग समाप्त हो जाये।
- हे प्रभो! मुझे आपका वह दिव्यस्पर्श चाहिए जिसके समक्ष सारे भौतिक स्पर्श फीके पड़ जाते हैं।
- हे प्रभो! मुझे आपका दिव्य श्रवण चाहिए जिससे बाह्य शब्दों से मेरा मन उपरत हो जाए।
- हे प्रभो! मुझे आपका दिव्य रस चाहिए जिससे ये सभी बाह्य रस सारहीन प्रतीत होने लगें।
- हे प्रभो! मुझे ऐसी दिव्य गन्ध चाहिए जिससे किसी भी गन्ध की अपेक्षा ही न रहे।
- हे प्रभो! मेरे संकल्पों में बस एकमात्र तू ही बस जा जिससे अन्य किसी भी संकल्प के लिये स्थान ही न बचे।
- हे प्रभो! जो कुछ तूने मुझे ज्ञान या समझ दी है या दे रहा है, उसे इच्छुक लोगों में बस बाँटता रहूँ। मैं इस बात की क्यों चिन्ता करूँ कि किसका कैसा स्वभाव है? कौन कैसे जीता है? कौन किन चीजों को महत्त्व या अहमत्त्व देता

है? कौन किस रास्ते पर जा रहा है?

- हे प्रभो! मुझे ऐसी दिव्य चेतना चाहिए जो मुझको पाशविक चेतना से ऊपर उठा दे।
- प्रभो! वर दो कि जैसे मैं अपने शरीर को प्रतिदिन विश्राम देता हूँ उसी प्रकार कुछ समय जागरित अवस्था में अपने मन को भी विश्राम देता रहूँ। वैसे मन के विश्राम की यह एक अच्छी युक्ति है कि मन भय-बाधा-भ्रान्ति-काम-क्रोध-लोभ आदि विकारों से मुक्त रहे। मुझे यह समझ में आया— विकारों से मन थक जाता है, यह कहना चाहिए कि टूट ही जाता है।
- प्रभो! वर दे कि वस्तु-व्यक्ति व विचार के साथ मेरे सम्बन्ध विद्यापूर्वक हों। मेरी प्रवृत्ति-निवृत्ति भी विद्यापूर्वक हो। मेरे कर्म भी विद्यापूर्वक हों।
- प्रभो! वर दो कि मेरे मन की ऐसी तन्मयता बनी रहे कि मुझे लक्ष्य से अन्य कुछ भी दिखाई ही न दे।
- प्रभो! वर दो कि मैं अपनी वाणी व व्यवहार, आचरण से किसी के दिल को न दुखाऊँ। साथ में किसी की वाणी या किसी के व्यवहार व आचरण से अपने दिल को भी दुःखी न करूँ।
- प्रभो! वर दो कि मेरी वाणी एक धीर पुरुष की वाणी बन जाये।
- हे प्रभो! वर दो कि मैं तेरा संदेशवाहक बनकर जीऊँ, तेरा दूत, तेरा सेवक, तेरा प्रिय बालक। यह अन्तिम पुकार है, यदि उचित है तो पूर्ण कीजिए।
- प्रभो! वर दो कि मैं अपने लक्ष्य और पथ के विषय में एकदम निर्भ्रान्त, संशयरहित, विचलन रहित हो जाऊँ।
- प्रभो! वर दो कि मैं आपके आशीर्वाद को ग्रहण करने के लिये अपने हृदय में दृढ़ व अभङ्ग अभीप्सा जगाऊँ।
- प्रभो! वर दो कि मुझे इस परिवर्तनशील जगत् में आपके सिवाय कुछ भी अच्छा न लगे। सब रूपों में आपको ही देख सकूँ, आपको ही चाहूँ।
- प्रभो! आपसे अधिक सुखदायी, शक्तिदायी, शान्तिदायी व तृप्तिदायी और क्या हो सकता है? आप पूर्ण के साथ रहना, जीना कितना सौभाग्यप्रद है, जीवन को कितना ज्योति या प्रकाश से आलोकित कर देने वाला है। जीवन

को कितना सहज बना देता है, यह ठीक से समझ आ रहा है।

- प्रभो! वर दो कि मैं अपने अनुभवों का आनन्द ले सकूँ। अनुभवों के आनन्द से तात्पर्य है— अनुभवों ने जो सिखाया उसके प्रति सचेत रहना अर्थात् उसके अनुसार जीना।
- प्रभो! वर दो कि जो मुझे स्वीकार कर रहा है या जो नहीं कर रहा है, दोनों के प्रति मैं सहज रहूँ। और इस प्रकार राग-द्वेष के बन्धन से सदा मुक्त रहूँ।
- जो सत्य हमारे स्वभाव में आ जाते हैं, वहाँ हम सहज हो जाते हैं। सहज अवस्था में ही बाधारहित सुख का प्रस्फुटन होता है। प्रभो! वर दो कि सब देश, सब समय, सब परिस्थितियों में सहज रहूँ। सहजता मनुष्य जीवन का दिव्य उपहार है।
- कोई किसी के साथ अपव्यवहार कर रहा है, दुःख कष्ट-बाधा पहुँचा रहा है। अन्याय कर रहा है, पद-पद पर झगड़ा करता है, चोरी कर रहा है, क्या इन सब परिस्थितियों में 'सम' रहा जा सकता है, क्या शान्तिपूर्वक उसका प्रतिवाद किया जा सकता है? इसके लिये बड़ा आत्मबल चाहिए। ऐसे प्रसङ्गों में धीर-गम्भीर रहते हुए प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार विरोध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। प्रभो! वर दो कि ऐसी-ऐसी अग्निपरीक्षाओं में मैं उत्तीर्ण हो सकूँ।
- किसी ने एक ज्ञानी पुरुष से पूछा— वस्तु, व्यक्ति, सम्बन्ध व क्रियाओं में दुःखदर्शन से आध्यात्मिक प्रगति शीघ्रता से हो सकती है या भगवान् के प्रति अखण्ड प्रेम व अनन्य समर्पण से? ज्ञानी ने उत्तर दिया— साधक लोग सामान्य रूप से दोनों ही साधनों का सम्मिलित रूप से उपयोग लेते हैं किन्तु यदि भगवान् के प्रति प्रेम व पूर्ण समर्पण घटित हो रहा हो तो अकेला यह साधन भी इतना अद्भुत है कि व्यक्ति को संसार से उपराम करने में पूर्ण सक्षम है। प्रभो! मुझे आपका प्रेम चाहिए।
- व्यक्ति प्रायः मन, बुद्धि, अहं के स्तर पर जीता है। अज्ञान अवस्था में वह अपने देह को ही अपना स्वरूप समझे हुए होता है। ऐसे में प्रतिक्रिया, प्रतिशोध, संघर्ष, वैर-विरोध, युद्ध इत्यादि का होना स्वाभाविक है। देहात्मभाव के तो ये सहज फल हैं। प्रभो! वर दो कि मैं देह को ही आत्मा समझने की इस भूल से ऊपर उठूँ।

• व्यक्ति जब आत्मा को प्राप्त कर लेता है तो सब कुछ कितना सहज हो जाता है। आत्मा शान्तस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, बलस्वरूप है। आत्मोपलब्धि किये हुए साधक में शनैः शनैः अनन्त ज्ञान-बल-आनन्द व शान्ति सहज रूप से प्रकट होने लगते हैं। प्रभो! वर दो कि यह अभीप्सा पूरी हो।

- आत्मा को बिना पाये दुःखों की अन्तहीन शृंखला कभी भी रुक नहीं सकती। प्रभो! वर दो कि आत्मा को पाने की आवश्यकता को सतत महसूस करता रहूँ।
- मनुष्य का मन अपनी गलतियों से वैसा विक्षुब्ध नहीं होता जैसे दूसरे की गलतियों से तत्काल विक्षुब्ध (disturbed) हो जाता है। दूसरे की गलतियों को ठीक करने के लिये व्यक्ति में अपार धैर्य (धृतिशक्ति) की आवश्यकता होती है। प्रभो! वर दो कि मैं धीर (आत्मस्थ) बनकर इस कठिन काम को भी कर सकूँ।
- जीवन को सुन्दर बनाने के लिये मुख्य-मुख्य आधारभूत तत्त्व कौन-कौन से हैं? परमशान्ति, ज्ञान, श्रद्धा-भक्ति-प्रेम, पूर्ण समर्पण, शास्त्र, कर्म में समता, प्रतिदिन कुछ समय एकान्त, सेवा, दान, करुणा, सहृदयता, दृढ़ अध्यवसाय, परम-पुरुषार्थ, धी-धृति-स्मृति, निषेध वर्ग का त्याग। प्रभो! वर दो कि मेरे जीवन के निर्माण में उपयोगी सभी सत्त्यों के प्रति मैं पूर्ण सचेतन हो जाऊँ। सदा ही मुझे ध्यान रहे कि केवल जानकारीयाँ इकट्ठी करना पर्याप्त नहीं है। वे मेरी आवश्यकताएँ या मेरी अन्तिम माँग बन जाएँ। श्रुतज्ञान को अनुभव में बदलने का इसके सिवाय और कोई उपाय सूझ नहीं रहा है।

• व्यक्ति का आचरण उसके अपने ज्ञान के अनुसार सुनिश्चित होता है। यह जानते हुए कि 'सच बोलना चाहिये झूठ नहीं, किसी भी प्रकार की चोरी नहीं करनी चाहिये, ब्रह्मचारी रहना चाहिये इत्यादि' व्यक्ति विपरीत आचरण कैसे कर बैठता है? शराब व धूम्रपान स्वास्थ्य के लिये हानिकर हैं यह जानते हुए भी क्यों पीता है? इन या ऐसी सभी समस्याओं का एक ही उत्तर है कि जिस समय व्यक्ति अन्यथा आचरण कर रहा है उस समय उसका ज्ञान अलग होता है। अपने ज्ञान के अनुसार तुलनात्मक दृष्टि से वह उस समय अपने उस आचरण में अधिक सुख या लाभ देख रहा होता है। इसलिये महान् पुरुष एक

ही प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! वर दो कि हर क्षण त्याज्य का त्याग और ग्राह्य का ग्रहण होता रहे।' अर्थात् व्यक्ति का ज्ञान जब कभी व्यक्ति के समक्ष त्याज्य को ग्राह्य सिद्ध कर देता है और दूसरी तरफ ग्राह्य को त्याज्य, चाहे दो-चार क्षण के लिये ही सही तो भी विपरीत घटना तो घटेगी ही। उसे कौन रोक सकता है। सारे शास्त्र, सब महान् पुरुष, व्यक्ति के अपने अनुभव, सभी मर्यादापालन एक ही बात के लिये हैं कि ज्ञान निखर कर इस कोटि में पहुँच जाये कि त्याज्य और ग्राह्य का एक क्षण के लिये भी विपर्यास न हो, त्याज्य 'ग्राह्य' न बने और ग्राह्य 'त्याज्य' न बने।

- मनुष्य का परिचय अधिक से अधिक शरीर, प्राण, मन, अहङ्कार और स्थूल बुद्धि (पदार्थों को खण्ड-खण्ड करके देखने वाली बुद्धि) से होता है। न तो उसे उस सूक्ष्मबुद्धि से परिचय होता है जो सब चीजों को यथायथरूपेण देख सके और न ही बुद्धि से अतीत 'आत्मा' का। मनुष्य आत्मा के बारे में बहुत कुछ सुनता रहता है, दूसरों के समक्ष उस सुने हुए को दोहरा भी देता है, पर दुर्भाग्य से उसे यह नहीं पता होता कि यह आत्मा है क्या? जन्म के बाद जन्म बीतते चले जाते हैं पर वह यह नहीं जान पाता कि इस अभेद्य किले में कैसे प्रवेश किया जाये? आत्म ज्ञान के बिना मनुष्य को इस अज्ञान और उससे समुद्भूत नरक रूप दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। हाँ! आत्मज्ञान के बिना भी वह शास्त्रोक्त उत्तम कर्म करके स्वर्ग सुख तो पा सकता है। किन्तु हे प्रभो! मुझे तो स्वर्ग का सुख नहीं, नरक से मुक्ति चाहिए।

- प्रभो! वर दो कि जीवन के कठिनतम प्रसङ्गों से लेकर रोज-मर्रा के सामान्य जीवन में सदा सहज रहूँ। एक क्षण के लिए भी कहीं आसक्ति, आकर्षण-विकर्षण (राग-द्वेष), प्रतिक्रिया, दीनता-हीनता, अधीरता, खिंचाव-तनाव, भय-बाधा, काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या आदि का अनुभव होता है तो इसका सीधा सा अर्थ कि मैं सहज नहीं रहा। पूर्ण निर्विकार, शान्त, प्रेममय अवस्था ही सहज अवस्था है।

५. साधकों से....

• ज्ञान महिमा

देखो! ज्ञान (परा-विद्या) की कितनी बड़ी महिमा है, जो मनुष्य की इच्छाओं का ही आमूल-चूल परिवर्तन कर देती है, किन्तु मात्र श्रुत-ज्ञान व अनुमित-ज्ञान अर्थात् अपराविद्या से ऐसा नहीं हो पाता। अन्दर अनुभूत होना चाहिये।

• जीवन के निर्माण में कम से कम की भूमिका

अन्तिम छोर है मुक्ति अर्थात् भूतकाल के संस्कारों से मुक्ति, क्लिष्ट कर्म व क्लेशसंस्कारों से मुक्ति; लेकिन एक छोर इस तरफ का भी है— 'कम से कम' (Minimum)। यदि इतना नहीं कर पा रहे हैं तो कभी भी सुख-शान्ति-संतोष महसूस नहीं होगा बल्कि सदा दुःखी रहेंगे, पश्चात्ताप का भाव घेरे रहेगा। हम सब को पता होता है 'कम से कम' की सीमा कितनी है, इसके लिए किसी दूसरे से पूछने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के विकासक्रमानुसार आज की सीमा भी कल के लिये बदल सकता है। यह सीमा अलग-अलग होती है। यह जो जीवन व्यर्थ जाता हुआ नजर आता है (माया मिली न राम) या जो असन्तोष का भाव आता रहता है या किसी प्रकार का पश्चात्ताप होता है, इन सब के मूल में कारण 'कम से कम' का आचरण न होना ही है। पदार्थ के विषय में भी एक 'कम से कम' होता है। वहाँ साधक को अपने लिये यह विचार करना होता है कि 'क्या इसके बिना भी मेरा निर्वाह हो सकता है' इसका जो उत्तर हमें मिलता है वह हमारे लिये न्यूनतम सीमा का दिग्दर्शक होता है।

• मन का स्वास्थ्य

मन के स्वस्थ रहने से शरीर भी स्वस्थ हो जाता है और शरीर के स्वस्थ रहने से मन को बल मिलता है, यह प्रमाणित (proved) बात है। जरा आप

अपने को सदा उत्साह, प्रेम-करुणा, सरलता व पुरुषार्थ से भरे रखिये और फिर देखिये क्या परिणाम आता है।

• पश्चात्ताप

आप को एकान्त में होने पर बहुत अधिक खुशियाँ मिलती हैं और दूसरों के साथ गप-शप करते समय भले ही अच्छा लगे किन्तु बाद में पश्चात्ताप होता है तो समझ लेना प्रगति के रास्ते पर चल पड़े हैं। यदि व्यर्थ बातों में मजा आता है किन्तु बाद में किसी प्रकार का कोई दुःख, कष्ट या पश्चात्ताप नहीं होता तो इसका अर्थ है अन्तःकरण रूपी भूमि में अध्यात्म के बीज नहीं हैं।

• आँखें गीली हो जायें

बहुत अच्छा हो यदि हम प्रतिदिन ऐसी पुस्तकों का स्वाध्याय करें कि आँखें गीली हो जायें या एक आध आँसू आ जाए, क्योंकि तब प्रगति सुनिश्चित है। स्वाध्याय करते हुए एकान्त में यह घटना खूब घट रही हो तो समझें कि शुद्ध हो रहे हैं। इसका मतलब है कि हमारा हृदय कोमल होता जा रहा है। कोमल हृदय अपने आप को या दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहता। कोमलता (Humility) से विनम्रता भी आने लगती है।

• बुद्धि के आठ रूप

बुद्धि के आठ रूप हैं— धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य तथा अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य, इनमें से किसी भी रूप को बुद्धि धारण करके रह सकती है। कभी हमारी बुद्धि धर्मरूप होती है कभी अधर्मरूप, कभी ज्ञानरूप कभी अज्ञानरूप, कभी वैराग्यरूप कभी रागरूप, कभी ईश्वरतारूप अर्थात् ऐश्वर्यरूप अर्थात् दृढसंकल्पशक्ति से युक्त कभी अनैश्वर्यरूप अर्थात् मन्द-इच्छाशक्तिरूप। सांख्यकारिका व सांख्यदर्शन में यह सब विषय उपलब्ध है। वृत्तियाँ सभी दृश्यस्वरूप हैं। जो भी प्रकाशक है वह द्रष्टा है, स्वयंप्रकाश है, चिन्मय तत्त्व है, चेतन है, समस्त दृश्य धर्मों से रहित है।

• बुद्धि धर्मरूप है अर्थात् धृति-क्षमादिधर्मों से युक्त है या यम-नियमादि और

दया-दानादि धर्मों से युक्त है। सभी सदगुण (Virtue) धर्म के ही रूप हैं। दान अर्थात् हमारे पास जो है उसका निःस्वार्थ त्याग।

• बुद्धि के चार सात्त्विक भाव हैं (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य) और चार तामस भाव (अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य)। यहाँ ऐश्वर्य-अनैश्वर्य को समझना चाहिये। सब ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वरतायुक्त चित्त का अन्तिम चरम बिन्दु तो ईश्वर में ही घटित हो पायेगा जो अपनी योगमाया से सहज रूप से (बिना किसी प्रयास के) सब कुछ करने में सक्षम है। चित्तस्थैर्य के अनुपात में चित्तगत ईश्वरता उद्भूत हो जाती है। **जिसके जीवन में जितनी सहजता है उतना ही उसका चित्त ईश्वरता धर्म से युक्त है।** इस प्रकार चित्त में ईश्वरता धर्म की वृद्धि का पहला परिणाम है सहजता, दूसरा परिणाम है स्वाधीनता (पराधीनताओं से पूर्ण मुक्ति), तीसरा परिणाम है निर्भयता। इस प्रकार चित्तगत अनीश्वरता के स्वाभाविक परिणाम हैं असहजता, पराधीनता, दुर्बलता व भय। जितनी चञ्चलता होती है उतना ही चित्त अनीश्वर होता है।

• ब्रह्मविद्या

समस्त ब्रह्माण्ड, सब जड़ चेतन चीजें, सभी शरीर, हमारा व्यक्तित्व द्रष्टा-दृश्य का समुदाय हैं। यह ब्रह्मविद्या है, सब विद्याओं से सूक्ष्म है। ब्रह्मविद्या का लक्ष्य है— हमको दुःख से पार पहुँचाना। इसके लिए यह जानना आवश्यक होता है कि दुःख क्या है, दुःख के कारण क्या हैं, सच्चा सुख क्या है और उसकी प्राप्ति के उपाय क्या हैं? ब्रह्मविद्या में इन्हीं सब बातों की चर्चा है।

• गुणविद्या

सत्त्वगुण में हल्कापन, सौमनस्य, प्रसन्नता व सुख रहता है; रजोगुण में चञ्चलता, दुःख, खिंचाव-तनाव-टेन्शन, समस्त काम, क्रोधादि विकार होते हैं; तमोगुण में प्रमाद-आलस्य-निद्रा, कुछ भी प्रगति के लिए अनिच्छा, प्रकाश अर्थात् ज्ञान व क्रिया दोनों का शैथिल्य। मैंने अच्छे से अनुभव करके देखा है, देखता रहता हूँ— जब भी किसी कारण से (वे कारण बाह्य आलम्बन भी हो

सकते हैं और हमारे भीतर की किसी इच्छा की अपूर्ति इत्यादि भी) चित्त सामान्य क्रिया से अधिक क्रियाशील हो जाता है तो उसी क्षण दुःख महसूस होता है और यदि बढ़ी हुई उस क्रिया को रोक देते हैं (यह अन्दर से अन्दर ही रोकना होता है) तो तत्क्षण सुख शुरू हो जाता है। यह गुर मिल जाये तो जब-जब भी कोई दुःखी होवे उससे शीघ्र ही बाहर हुआ जा सकता है। इस गुणविद्या को समझना और उसका उपयोग लेना है। इसे जाने बिना यह समग्र जीवन ही एक अन्तहीन दुःखों की श्रृंखला मात्र ही रहेगा।

• जागृति

मनुष्य जीवन 'जागृति' के लिए है। जागृति के बाद ही हमें आत्मसाक्षात्कार (Enlightenment/Realization), ईश्वरसाक्षात्कार, संस्कार-मुक्ति, कर्मक्षय, परम वैराग्य, जीवन की सार्थकता इन सबका अर्थ समझ में आ सकता है। किसी भी कारण से बेहोशी टूटे और जाग जायें।

• संवेदनशीलता

हम बाह्य चीजों- साधन-सुविधा, मान-अपमान, लाभ-हानि, काँटे और फूल के प्रति कितने संवेदनशील हैं। इसी अनुपात में हम अपने आभ्यन्तर के प्रति संवेदनशील क्यों नहीं हैं?

• विकास के सोपान

विकास के बहुत सारे सोपान हैं, जैसे पञ्चभूत, पेड़-पौधे, पशु, पशुमानव (पशुओं जैसा मानव), मानव, ऋषि, देवता। इन सबके अपने कितने ही स्वगत भेद हैं। अभी जो हमारा स्वभाव है वहाँ तक हमारा विकास हुआ है। स्वभाव से तात्पर्य है जो बिना किसी प्रयास के हो रहा है। हम जब इस संसार से जाते हैं तो जो कुछ हमने पढ़ा या सुना या देखा है अर्थात् मस्तिष्क में जो कुछ इकट्ठा किया है वह सब अन्य सामानादि की तरह यहीं रह जाता है, किन्तु जो हमारे स्वभाव में आ गया है वह अवश्य ही हमारे साथ जाता है।

• ज्ञान से ही रूपान्तरण

हमारा एक स्वभाव से दूसरे स्वभाव में परिवर्तन कैसे होता है? सचेतन प्रयास से। ज्ञान से ही चीजें बदलती हैं। सुनना या पढ़ना ज्ञान प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। पढ़ या सुनकर मनन करना उससे अगली सीढ़ी, निदिध्यासन (एकाग्रध्यान) उससे भी अगली सीढ़ी। निश्चय किया हुआ जितना बार-बार अनुभव में आता है, उतना-उतना वह स्थिर होने लगता है। एक बार आगे बढ़ने पर भी बार-बार नीचे आते हैं, किन्तु एक ऐसी भी स्थिति आती है कि आगे ही आगे बढ़ते जाते हैं— यह स्थिति जल्दी नहीं आती। उच्च स्तर का अनुभव ले लेने पर (चाहे आंशिक ही सही) नीचे आने पर भी वहाँ ठहर नहीं पाते। पुनः पहले वाले स्तर पर पहुँचना चाहते हैं। वहाँ पहुँचकर फिर थोड़ा आगे बढ़ते हैं, नीचे खिसकते हैं, फिर-फिर वही चक्र दोहराया जाता है। किन्तु इस पौनःपुनिक प्रयास (आगे बढ़ना, वापस खिसकना) में अवश्य कुछ-कुछ आगे भी बढ़ते रहते हैं। मनुष्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपना बार-बार अतिक्रमण करना चाहता है। गुरु, वेद, शास्त्र, प्रामाणिक पुरुषों, प्रकृति, स्वयं के अनुभव व ईश्वरीय प्रेरणा आदि से जैसे-जैसे हमारा ज्ञान शुद्धतम होता जाता है वैसे-वैसे उस ज्ञान से हमारा हृदय व हमारा आचरण भी शुद्धतम होता जाता है और अन्ततः हम अपने व परमात्मा के शुद्धतम ज्ञानमय स्वरूप तक पहुँच जाते हैं।

• पदार्थ से सुख, व्यक्तियों से सुख, ज्ञान से सुख

यह स्पष्ट है कि पदार्थ से हमें सुख मिलता है, पर तभी जब उसकी आवश्यकता हो, पदार्थ विषयक चाहत हो। जो पदार्थ हमें चाहिए ही नहीं वह हमें क्या सुख देगा? कुछ पदार्थ (सुरा इत्यादि) ऐसे भी होते हैं जो किसी की आवश्यकता हैं फिर भी उन्हें दुःख देते हैं। व्यक्तियों से भी हमें सुख मिलता है। लेकिन उन्हीं से जिनके प्रति हमारा लगाव है, मोह या प्रेम है, जिनसे हमारा कोई स्वार्थ है, हमारा कोई प्रयोजन पूरा हो रहा है या जिनसे हमारे गुण-कर्म-स्वभाव मिलते हैं या जिनसे हमारा अकेलापन दूर होता है या हमें किसी प्रकार

की सुरक्षा मिलती है। इसकी विपरीत अवस्था में व्यक्तियों से हमें दुःख भी मिलता है, जैसे कि जिनके साथ हमारे विचार नहीं मिलते, जो हमारे प्रति कठोरहृदय हैं, हमारी भावनाओं को नहीं समझते या अन्यथा समझते हैं, जो हमारी कोई वस्तु चुरा लेते हैं, हमारा अपमान करते हैं, हमसे कठोर बोलते हैं, हमारे प्रति जिनकी सद्भावना नहीं है इत्यादि। **एक तीसरा ज्योतिर्मय तत्त्व** भी है जिससे हमें बेहद सुख मिलता है और उसका महत्त्व यदि हमारे अनुभव में आने लग जाये तो सुखदायी चीजों में जो सर्वातिशायी सुखदायी है, या यों कहे पदार्थ व व्यक्ति से मिलने वाले सुखों की तुलना में जो हजारों गुणा बढ़कर सुखदायी है, प्रारम्भ में तो वह पदार्थ और व्यक्ति की तरह ही अनित्य दिखाई देता है, आता है जाता है लेकिन कालक्रम में से गुजरते हुए सुप्रतिष्ठ भी हो जाता है। जिसके प्रतिष्ठित होने से व्यक्ति की भूतकाल की समस्त स्मृतियाँ भस्म हो जाती हैं। ऐसे उस ज्योतिर्मय तत्त्व का नाम है— ‘ज्ञान’।

यह समझ में आया कि सचेत व्यक्ति को दो चीजें हमेशा ही सताती रहती हैं— **‘मैंने यह बुरा काम क्यों किया या यह अच्छा काम क्यों नहीं किया’**; लेकिन इस ज्ञान के प्रतिष्ठित होते ही ये दोनों भाव ऐसे लुप्त हो जाते हैं जैसे प्रकाश के आते ही अन्धकार। इसकी सुप्रतिष्ठा में दीनता-हीनता-क्रूरता, धीरता-वीरता-उदारता में बदल जाती हैं, निर्बलता बल में, किसी भी चीज का अभाव भाव में, दुःख-दर्द व पीड़ा शान्ति में, समस्त कुरूपता सौन्दर्य में, मूर्खता बुद्धिमत्ता में, मस्तिष्क की उष्णता एक अद्भुत शीतलता में, समस्त लोभ उदारता में, घृणा प्रेम में, निराशा व हताशा आशा और ज्योति में, मृत्यु अमरत्व में, एक शब्द में कहे तो सारी अपूर्णता पूर्णता में बदल जाती है। जीवन में जब इस अद्भुत तत्त्व का अभाव रहता है तो सब अभाव, सब अपूर्णताएँ, सब कुरूपताएँ, सब दुःख-दैन्य, जीवन में सूनापन और अकेलापन, सारी निर्बलताएँ ही व्यक्ति को सदा घेरे रहती हैं और केवल मात्र अनुकूल वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति से ही सुखी होने का भाव, सक्रिय रहता है। सार रूप में कहे तो इस अद्भुत तत्त्व के अभाव में मनुष्य इस पुण्य धरा पर पशु के रूप

में विचरण कर रहा है, ऐसे उस ज्योतिर्मय तत्त्व की जितनी महिमा गाई जाये उतनी ही थोड़ी है। यह वह तत्त्व है जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बल्कि देवता बना देता है। जब-जब मनुष्य ज्ञान की स्थिति में होता है कितना हल्कापन, कितना सहज, कितना प्रफुल्लित, कितना आराम में होता है, यह सब हमारे द्वारा अनुभव करने योग्य तथ्य है।

• अन्दर की पवित्रता

यदि हम अन्दर से पूर्ण स्वस्थ हैं, पवित्र हैं, धर्मशील हैं व शान्त हैं किन्तु यदि हमें बाहर से कोई दूषित भी कर रहा है, तो सारा जगत् भी हमें आगे बढ़ने से कैसे रोक सकता है? अर्थात् यह बाह्य संसार झूठे दोषारोपण से कैसे हमारी आत्मा को नष्ट कर सकता है या गिरा सकता है।

• सृजन में सम्पूर्ण आनन्द

ध्यान में लीन योगी या प्रयोगशाला में अपनी किसी खोज में डूबा हुआ वैज्ञानिक वस्तुतः सृजन का सम्पूर्ण आनन्द ले रहा होता है। सृजन वह है जहाँ काल का हस्तक्षेप नहीं, पर आनन्द परिपूर्ण हो। बच्चे अपने खेल में जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, ओलम्पिक में खेलने वाले खिलाड़ियों को उसका शतांश भी अनुभव नहीं होता, सृजन का यह कैसा सजीव उदाहरण है।

• जीवन का कठिनतम कार्य ‘दुःखों का आत्यन्तिक नाश’

जीवन के कठिनतम कार्यों में से एक है— अनुभव के स्तर पर स्वयं के भीतर द्रष्टा और दृश्य की पृथक् स्थिति को निर्धारित कर पाना। सामान्यतया मनुष्य का जीवन द्रष्टा-दृश्य (चैतन्य व बुद्धि) की एकत्वमय स्थिति में चल रहा है। इसी का नाम अविवेक है। ‘दुःख’ अविवेक का सहभावी है। यह कहे कि वह अविवेक के साथ छाया की तरह चलता है। चितिशक्ति और बुद्धि (दूसरे शब्दों में चैतन्य व अन्तःकरणत्रय) की पृथक्ता की उपलब्धि ही विवेकख्याति है। द्रष्टा व दृश्य (पुरुष व बुद्धि) का संयोग प्रवाह से अनादि है, संयोग का कारण अविवेक भी प्रवाह से अनादि है। अविवेक-प्रत्यय से अविवेक-

संस्कार, अविवेक-संस्कार से अविवेक-प्रत्यय यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। अविवेक को हटाने के लिए नियत कारण 'विवेक' की आवश्यकता है। विवेक बुद्धि में उत्पन्न एक धर्म विशेष है जो बुद्धि से चैतन्य की सत्ता को बुद्धि में ही पृथक् दिखा देता है। जब वह विवेकख्याति अभङ्ग हो जाती है तो दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है। एक सच्चे साधक की समस्त ऊर्जा इस दुरूह काम में लगनी चाहिये कि वह अपने भीतर बुद्धि अर्थात् बुद्धिवृत्ति अर्थात् बुद्धि में उठने वाले प्रत्ययों से पृथक् चैतन्य को सुनिश्चित कर सके।

• चाहत में अनन्यता

साधक तू कहता है कि मुझे परम शान्ति चाहिए, शुद्धज्ञान चाहिए, भीतर का पूर्ण स्वराज्य चाहिए, अविकृत प्रेम चाहिए, पूर्ण निर्भयता व विनम्रता चाहिए, परम सन्तोष व तृप्ति चाहिए, सत्ता के सभी भागों में पूर्ण सामञ्जस्य व सन्तुलन चाहिए, अन्तर्विरोध का अन्त चाहिए तो तू जो चाहता है वह सब कुछ मिलेगा किन्तु अपनी चाहत में तुझे एक तरफ होना होगा। अपनी चाहत को मिलावट से मुक्त करना होगा। जो कुछ या जितना कुछ तुझे मिलेगा वह तेरी चाहत के अनुपात में मिलेगा, न उससे ज्यादा और न उससे कम। चाहत में अनन्यता यह किसी भी सत्य की उपलब्धि हेतु अत्यावश्यक प्रथम व अन्तिम सूत्र है।

• साधक का पूर्ण दायित्व

किसी भी साधक के ऊपर अपने ज्ञान को शुद्ध व स्थिर करने का पूर्ण दायित्व होता है। आगे की यात्रा तो ज्ञान स्वयं तय करता है। ज्ञान के शुद्ध होने पर सभी आन्तरिक संवेदनाओं या भावों की तथा आचरण की शुद्धि और अन्ततः आत्मकाम व आत्मरति होने तक की दिव्य स्थिति का मार्ग ज्ञान की शुद्धता व स्थिरता से ही होकर गुजरता है।

• ज्ञान शुद्धि के साधन

ज्ञान को शुद्ध व स्थिर करने के लिए अनुभवी लोगों के द्वारा बताये गये

कुछ आवश्यक साधन हैं— गुरु-आचार्यों का मार्गदर्शन, सत्य शास्त्रों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन, जीवन को समझने की गहरी अभीप्सा, स्तुति-प्रार्थना-उपासना, अन्तर्दृष्टि, शुद्ध आचरण, वैषयिक भोगों के प्रति उदासीनता।

• सत्य की खोज

ज्ञान-धर्म-सत्य की खोज तब तक नहीं होती जब तक समस्त बाह्य साधनों में असन्तोष घटित नहीं होता। जो मात्र बाह्य उपलब्धियों से सन्तुष्ट हो रहा है, वह क्यों सत्य की खोज करना चाहेगा ?

• ज्ञान के बिना पीछा नहीं छुटेगा

स्वर्ग मिलने से सदा के लिए नरक से या सुख मिलने से सदा के लिए दुःख से पीछा नहीं छुटेगा। नरक या दुःख से सदा के लिए पीछा छुड़ाने का तो एक ही उपाय है— ज्ञान की प्राप्ति।

• अन्तरात्मा की शान्ति व विचार की शान्ति

‘अन्तरात्मा (Psychic-being) में स्थित होकर अर्थात् विचार मुक्त होकर अपने आप में शांत रहना तथा विचार के द्वारा अपने अन्दर शान्ति बना कर रखना’ इन दोनों बातों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

• समस्याओं का समाधान

अपनी अन्तरात्मा की मूल प्रकृति या मूल स्वभाव में स्थित रहने से स्वतः ही सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है। समस्याओं की प्रसवभूमि मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, शरीर व इन्द्रियाँ हैं। इन से पार जाते ही समस्यायें ढूँढे नहीं मिलती।

• आन्तरिक विकास

समस्याओं से घिरा व्यक्ति यदि अपने आपको टूटने न दे, अडिग खड़ा रख सके, धैर्य न छोड़े तो ये समस्यायें ही व्यक्ति के आन्तरिक विकास का एक बहुत बड़ा सशक्त साधन बन सकती हैं।

• अन्तर्यामी की प्रेरणाएँ

अन्तर्यामी की प्रेरणाएँ बहुत धीमे से उठती हैं; विचारों, इच्छाओं और कामनाओं के प्रचण्ड कोलाहल में वे सुनायी नहीं देतीं।

• शुभ की तैयारी

निश्चय ही सुख में मनुष्य का मन सुस्त हो जाता है किन्तु जब अन्दर अशान्ति, कन्प्यूजन, संशय, दुःख, पीड़ा, कष्ट या चञ्चलता होती है तभी व्यक्ति में ऐसे-ऐसे प्रश्न उठते हैं कि भगवान् ने यह दुनिया क्यों बनायी? हम किस उद्देश्य को लेकर यहाँ धरती पर आये हैं? जो भी चीजें सत्य की खोज करने के लिये मानव को प्रेरित करती हैं, फिर बेशक वे कितनी भी कष्टदायक ही क्यों न हों, बाह्य रूप से चाहे घोर नरक ही क्यों न उगल रही हों— मनुष्य के अन्तर्विकास में शुभ की तैयारी बन सकती हैं।

• संवेदनशीलता व भावुकता

प्रज्ञावान् पुरुष अवश्य ही अतिसंवेदनशील व अत्यन्त नमनीय हो जाता है। किसी भी वस्तुस्थिति का गहराई से अनुभव करके उसका विवेकपूर्ण समाधान खोजना यही तो संवेदनशीलता है। बाह्य सुविधाएँ, भौतिक वस्तुएँ (सामान), लोगों से प्राप्त हो रहे सम्मान, ऐन्द्रियिक विषयों से मन की सन्तुष्टि, बाह्य कार्मिक जीवन की कामनापूर्ण व्यस्तता इन्हीं सब चीजों से प्रसन्न रहने वाला मन कभी भी संवेदनशील नहीं हो सकता। जीवन के सम्पूर्ण अर्थ की खोज में लगा हुआ मन ही संवेदनशील होता है। भावुकता में व्यक्ति के प्रवाह या अवेगों में बहने व बहकने की सम्भावना बनी रहती है।

• संवेदनशीलता व सजगता एक दूसरे की पूरक

संवेदनशील मन आंतरिक रूप से अत्यन्त सजग हो जाता है। यह सजगता, यह जागरूकता ही फिर आगे संवेदनशीलता की वृद्धि में निमित्त बनती रहती है। इस प्रकार ये दोनों (संवेदनशीलता और सजगता) एक दूसरे की पूरक होती हैं, एक दूसरे को बढ़ाने वाली होती हैं।

• व्यक्ति का शान्ति में अवस्थान

अपने चिन्मय स्वरूप में ठहरते ही व्यक्ति का शान्ति में अवस्थान हो जाता है। अपनी अविचल शान्ति में अवस्थित होना ही ब्रह्म में अवस्थित होना है।

• कामना का त्याग

कामना का त्याग ही शान्ति है, ध्यान है, अहंकारमुक्ति है, ब्रह्मप्राप्ति है, सच्चा ज्ञान है, निष्काम कर्म (नैष्कर्म्य) है, परम आनन्द है, अपने चिन्मय स्वरूप में अवस्थान है, निर्भयता है, सहजता है, पवित्रता है, ध्येय की सम्प्राप्ति है, गम्भीर मौन है, परम स्थिरता है, दिव्य कर्म की आधारभित्ति है।

• निष्कामकर्म

कामना मात्र का जिसने त्याग कर दिया है वही निष्कामकर्म हो सकता है। निष्कामकर्म भगवान् की ही प्रेरणा के अनुरूप भगवान् का यन्त्र बनकर निमित्त भाव से कार्य करता है।

• कामना त्याग

कर्म का त्याग कामना त्याग नहीं है। कर्म में आसक्ति का त्याग या कर्म के मनोअनुकूल फल की आशा का त्याग ही कामना त्याग है।

• ऋषित्व प्राप्ति का साधन

ऋषित्व प्राप्त करने का साधन है 'धीः', जिसकी प्राप्ति होती है अपनी गहराई में गोता लगाने से।

• जीवन में पूर्णता

जीवन में पूर्णता आती है श्रद्धा और मेधा से। न तो अकेली श्रद्धा से और न ही अकेली मेधा से। वेदों में कहीं अकेले-अकेले और कहीं एक ही जगह पर दोनों की इकट्ठी माँग (प्रार्थना) की गयी है।

• जीवन की पूर्णता

जीवन की पूर्णता श्रम व विश्राम में छिपी है। श्रम से समृद्धि अर्थात्

अभ्युदय, विश्राम से निःश्रेयस अर्थात् शान्ति; श्रम से बाह्य पूर्णता, विश्राम से आन्तरिक पूर्णता। व्यक्ति चूँकि दोनों का समुच्चय है इसलिये व्यक्ति को बाह्य-आभ्यन्तर दोनों की ही पूर्णता चाहिये।

• **क्या प्रारब्ध को पुरुषार्थ से बदला जा सकता है?**

क्या कोई व्यक्ति अपने प्रारब्ध को पुरुषार्थ से बदल सकता है? प्रारब्ध का अर्थ है— भूतकाल में किये हुए वे कर्म जिन्होंने अपना फल देना आरम्भ कर दिया है। कर्म का फल दो रूपों में मिलता है— एक संस्कार के रूप में, दूसरा सुख-दुःख के रूप में। चालू जीवन में तो कर्म अपना फल 'आयु और भोग' के रूप में देता ही रहता है। मृत्यु के बाद भी पूरे जीवन भर किये गये कर्मों का फल मिलता है— और वह मिलता है जाति, आयु, भोग के रूप में। जो भी कर्म किया जाता है— इसी प्रक्रिया से वह आगे-आगे हमें बढ़ाता रहता है। पिछले कर्म से आज जो फल मिल रहा है वह तो मिलेगा ही, उसे हम कैसे हटा सकते हैं। किन्तु मनुष्य बिना कर्म कभी रहता ही नहीं अतः नये-नये कर्म करने की शृंखला में नये-नये संस्कार और उनका फल भी साथ-साथ चलता रहता है। अतः यदि नया कर्माशय बन रहा है और वह पूर्व कर्माशय का विरोधी भी है अर्थात् यदि पहला कर्माशय क्रोधज, लोभज, मोहज, द्वेषज था किन्तु अभी सदुपदेश व स्वयं के विचार से उन विकारों से मुक्त हो रहा है तो अवश्य ही वह धीरे-धीरे प्रबल भी होता जायेगा और कालान्तर में वह व्यक्ति एक नया ही व्यक्ति बन जायेगा। कर्म बीजों की तरह होते हैं। यदि पहले वाले बीज बहुत प्रबल हैं पूरा जंगल ही बन गये हैं तो नये बीजों को डालने के लिये अत्यन्त पुरुषार्थ तो अपेक्षित रहेगा ही, इसमें तो क्या संदेह है।

• **परमात्म-प्राप्ति का परम साधन**

यह मानव शरीर परमात्म-प्राप्ति का परम साधन है— यह दैवी वीणा है, दैवी परिषद् है, दैवी सभा है, दैवी संसद् है, दैवी नौका है, दिव्य रथ है, ब्रह्मपुरी है, देवपुरी है, क्षेत्रज्ञ आत्मा का क्षेत्र है। हाय! अज्ञान से मनुष्य इसे भोग का साधन मान बैठता है।

• **ज्ञान से यथार्थ-दर्शन**

अज्ञान अवस्था में जो भी चीजें जिस रूप में दिखायी देती हैं, सम्यक् ज्ञान होने पर उनका अर्थ ही बदल जाता है।

• **अस्तित्व ही खो बैठते हैं**

अज्ञान अवस्था में व्यक्ति को जिस भौतिक ऐश्वर्य और विषयसुख से आगे कुछ दिखाई ही नहीं देता, ज्ञान होने पर वे अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं।

• **बाह्यजीवन व आन्तरिक जीवन**

बाह्यजीवन की पूर्णता अर्थ पर, कानून पर, व्यवस्था (System) आदि पर केन्द्रित है तो आन्तरिक जीवन धर्म, ज्ञान, सत्य, न्याय, प्रेम, सहयोग आदि पर केन्द्रित है।

• **ज्ञेय विषय— यह, वह और मैं**

जानने के लिए तीन क्षेत्र हैं— 'यह, वह और मैं'। समस्त भौतिक विज्ञान, गणित व भाषाओं के ज्ञान आदि का क्षेत्र 'यह' है। मनोविज्ञान (मनोमय पुरुष और विज्ञानमय पुरुष) का क्षेत्र है 'मैं' और मन व बुद्धि से परे एक साक्षिपुरुष है 'वह'। 'मैं' और 'वह' के अध्ययन की गणना अध्यात्म विद्या में की गयी है। भौतिक विद्याओं से जीवन में अभ्युदय व समृद्धि बढ़ती है जब कि अध्यात्मविद्या से निःश्रेयस व शान्ति ।

• **दृश्य के साथ सम्बन्ध-विच्छेद**

सामान्य व्यवहार में ज्ञाता की ज्ञेय (दृश्य, प्रकृति) के बारे में यथार्थ जानकारी को ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान की उपलब्धि में ज्ञाता का ज्ञेय (दृश्य) से सदा अभेद बना रहता है; समस्त दृश्य की उपलब्धि इसी तरीके से होती है, किन्तु अपने भीतर के परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञाता को उस सत्य (चेतन-आत्मा/परमात्मा) के साथ अभिन्न होना होता है जो समस्त दृश्य का प्रकाशक है। अन्तःसत्य (चेतना) के साथ इस अभिन्नता को साधित

करने के लिए ज्ञाता का समस्त दृश्य से सम्बन्ध विच्छेद होना चाहिए। अंशतः भी यदि दृश्य के साथ सम्बन्ध बना हुआ है तो समझना होगा कि ज्ञाता परम सत्य से अभिन्न नहीं हुआ है।

• अभिन्नता ही एकत्व है

उपासक की उपास्य से अभिन्नता ही एकत्व का अनुदर्शन है। इस अवस्था में साधक के शोक-मोह तिरोहित हो जाते हैं।

• पूजा की सच्ची पात्रता चिन्मय होना

‘मेरा’ यह दृश्य के साथ भेदात्मक सम्बन्ध है और ‘मैं’ यह दृश्य के साथ अभेदात्मक सम्बन्ध। इन दोनों सम्बन्धों का त्याग होते ही ज्ञाता अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही ज्ञाता की चिन्मय अवस्था है। ‘शिवो भूत्वा शिवं भजेत्’ अथवा ‘देवो भूत्वा देवान् यजेत्’ इत्यादि वाक्यों से इसी अर्थ की ओर संकेत किया गया है कि शिव या देव के साथ एकरूप होकर अर्थात् चिन्मय होकर ही शिव या देव का भजन-पूजन होना चाहिए, अन्यथा तुम्हारा यह भजन-पूजन सच्चा नहीं होगा।

• स्वस्थ दृष्टि

साधक के लिए दृष्टि का स्वस्थ होना परम आवश्यक है। शास्त्र व गुरुपदेश दृष्टि को निखारते हैं। तर्क व युक्तिपूर्ण चिन्तन-मनन से भी दृष्टि में निखार आता है। संसार भर के विविध महापुरुष जिन्होंने सत्य को उपलब्ध किया है उनके अनुभवों को जानने-मानने-समझने से भी दृष्टि में स्पष्टता आती है। दृष्टि का सम्बन्ध आत्मा की ज्ञानशक्ति (बुद्धि) से है। बुद्धि के स्वस्थ, निर्मल व सूक्ष्म होने से दृष्टि का परिमार्जन व शोधन हो जाता है। दृष्टि को ‘मनुष्य की अन्दर की आँख’ इस नाम से भी पुकारते हैं। जिनके पास यह दृष्टि नहीं है वे बाहर की आँखें होते हुए भी अन्धे हैं।

• दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति

आत्मा-परमात्मा, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, यज्ञ-योग, कर्म, कर्म

का प्रेरक हेतु, कर्म के संस्कार, वासनाएँ, क्लेश, दुःख, दुःख-हेतु, सुख (सर्वथा दुःखमुक्ति), दुःखमुक्ति के उपाय, यम-नियम और उनके फल, प्रतिपक्ष भावना, प्रत्याहार, मैत्री-करुणा-मुदिता भावनाएँ, क्रियायोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञान, सकाम व निष्काम कर्म, वेदज्ञान, सम्बन्ध, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, साधना (साध्य-साधन विवेक), सिद्धि, शरीर और जीवात्मा की पृथक्-पृथक् माँगें, ये सब और ऐसे ही शतशः सहस्रशः तत्त्व हैं जो दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति को साफ-साफ दिखाई देते हैं।

• उसका रास्ता साफ

यदि किसी को सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान का रस चाहिए तो बिना झटके खाये इसकी पूर्ति नहीं होगी। इसके लिए कोई तैयार है तो उसका रास्ता साफ है।

• आत्मा के लिए संसार

शरीर ही बाह्य संसार से सन्तुष्ट हो सकता है, पूर्ण आत्मा तो पूर्ण परमात्मा से ही सन्तुष्ट होगा। शरीर अनेकानेक पदार्थों और क्रियाओं पर आश्रित है, पदार्थों और क्रियाओं से शरीर की पूर्ति हो सकती है किन्तु आत्मा के लिए यह बाह्य संसार सर्वथा अपर्याप्त है।

• कामना की पूर्ति

किसी भी कामना की पूर्ति में जो सुख होता है उसे तो कोई भी मनुष्य देख लेता है या और भी सशक्त शब्दों में कहें तो सामान्यतः किसी को भी कामना पूर्ति का सुख तो सहजरूप से स्वतः ही दिख जाता है, किन्तु कामना की अपूर्ति से उत्पन्न दुःख कितना भयंकर, कितना पीड़ादायक, कितना अन्दर तक झकझोर देने वाला होता है तो भी असंवेदनशीलता के कारण दिखाई नहीं देता। इस कारण यह अज्ञानी मनुष्य कामना पूर्ति की राह पर ही आगे-आगे बढ़ता रहता है, कामना त्याग या कामना से ऊपर उठने के मार्ग की ओर उसका ध्यान नहीं जाता, अतः वह उसे स्वीकार नहीं होता। कामना-अपूर्ति से उत्पन्न दुःख को जो महसूस कर पाते हैं, जिनके दिल व दिमाग पर

इसका प्रभाव होता है, केवल वे ही इस महाभयंकर आग से बच पाते हैं।

• **केवल एक ही नियम**

साधक ! जो कुछ तू पाना चाहता है, उसका केवल एक ही नियम है कि अविकल रूप से अपना दिल व दिमाग अपनी चाहत को दे डालना, फिर देख ! कैसे तेरी चाह पूरी नहीं होती ?

• **ऐ साधक ! कोई तेरी प्रतीक्षा कर रहा है**

साधक ! तू असमय में कैसे विश्राम करने लग जाता है, तुझे तो बहुत दूर जाना है। जरा देख तो सही तेरा स्वामी तेरी यात्रा के अन्त में तेरी बाट जोह रहा है। 'मुसाफिर शन्न (रात्री) से उठते हैं जो जाना दूर होता है'।

• **ज्ञान सच्चा पथ-प्रदर्शक**

हमारे ज्ञान के द्वारा जब हमें निश्चय हो जाता है कि यह हमारे लिए सत्य है, शुभ है, शिव है, सुन्दर है, मङ्गल है, सुखप्रद है, लाभप्रद है तो हमारी सम्पूर्ण ऊर्जा उस वस्तु को पाने में जुट जाती है और इसके विपरीत जब हमें यह दिखाई देता है (वह हमारे अपने उपलब्ध पूर्व ज्ञान के द्वारा भी दिख सकता है या वर्तमान में किसी के द्वारा समझाने से भी) कि अमुक तथ्य, अमुक वस्तु, अमुक कर्म, अमुक क्रिया, अमुक घटना या परिस्थिति हमारे लिए दुःखप्रद है, अमङ्गल है, अशुभ है, कुरूप है, हानिप्रद है तो मन, प्राण, शरीर, इन्द्रियाँ व अन्तरात्मा, यह कहना चाहिए सम्पूर्ण सत्ता ही उससे बचने, उसमें हटने या उसे हटाने, उसे नष्ट करने में प्रवृत्त हो जाती है। इसलिए यह कहा जाता है कि जिस ज्ञान के द्वारा हम शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, लाभ-हानि, मङ्गल-अमङ्गल, सुख-दुःख का निर्धारण करते हैं उस ज्ञान को शुद्ध, निर्मल, यथार्थ, प्रामाणिक व सत्य पर आधारित बनाने का सम्पूर्ण प्रयास करना चाहिए। यदि इस काम को करने के लिए हम अपने आप को असक्षम, अपूर्ण पाते हैं तो प्रामाणिक महापुरुष, गुरु-आचार्य या प्रामाणिक शास्त्रों से सहयोग ले सकते हैं। यह पूर्णतः सत्य है कि ज्ञान ही हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शक है। भ्रान्त-ज्ञान सदा

भ्रान्तियुक्त-पथप्रदर्शन तथा सत्य- ज्ञान सदा सत्य-पथप्रदर्शन करता है, अतः ज्ञान प्राप्ति के जो स्रोत हैं उन्हें शुद्ध करते रहना चाहिए।

• **सोमपान क्या है ?**

इन्द्र सोमपान से अमर हो जाता है। यह सोमपान क्या है ? ज्ञानरस का पान ही सोमपान है अथवा हेतुरहित भक्ति-रस का पान ही सोमपान है (अपाम सोमममृता अभूम)।

• **सबसे अधिक दुर्लभ**

मनुष्यत्व दुर्लभ है। सच्चे पथ-प्रदर्शक गुरु-आचार्यों का सान्निध्य और भी दुर्लभ है। बन्धन से छूटने की इच्छा उससे भी अधिक दुर्लभ है। शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति सबसे अधिक दुर्लभ है।

• **मुझे क्या करना है ?**

किसी ने किसी से पूछा— यदि आपको जंगल में शेर का आमना-सामना हो जाए तो क्या करोगे ? उसने उत्तर दिया मुझे क्या करना है ? अब तो जो कुछ करना है, शेर को ही करना है। इसी प्रकार यदि किसी को शुद्धज्ञान प्राप्त हो जाता है तो अब आगे उसे कुछ करने की आवश्यकता नहीं, अब तो जो कुछ करना है ज्ञान को ही करना है।

• **जीवन के सन्दर्भ में वैदिक दृष्टि**

'अन्दर से पूर्ण शान्त और बाहर से पूर्ण क्रियाशील' जीवन के सन्दर्भ में यह वैदिक दृष्टि है। किन्तु यहाँ यह सदा ही ध्यातव्य है कि क्रियाशील होने का अर्थ रफ्तार का अनियन्त्रित रूप से तेज होना कदापि नहीं है। साधक की क्रिया का वेग तो सदा सन्तुलित ही रहना चाहिए, न कम न ज्यादा। क्रिया की अनियन्त्रित या अव्यवस्थित रफ्तार होते ही अन्दर का सन्तुलन, अन्दर की ज्योति, अन्दर का धैर्य, अन्दर की शान्ति भंग होने लगती है, यह सभी साधकों का प्रतिदिन का अनुभव है।

• साधक और सिद्ध में अन्तर

साधक और सिद्ध में यह अन्तर है कि साधक प्रयासरत रहता है, सिद्ध सब प्रकार से सहज हो जाता है। साधक का ज्ञान कभी-कभी अस्थिर भी हो सकता है किन्तु सिद्ध में ज्ञान सुप्रतिष्ठित रहता है। साधक के क्लेश तनु-अवस्था में रहते हैं जबकि सिद्ध में दग्धबीजभाव-अवस्था में। उच्च साधक के जीवन में योगान्तरायों में से ९वाँ अन्तराय (अनवस्थितत्व अर्थात् अंतिम स्थिति में पूर्ण स्थिर न रह पाना) अभी शेष बचा रहता है जबकि सिद्ध के सभी अन्तराय समाप्त हो जाते हैं। साधक की एकाग्र व निरुद्ध भूमि अभी प्रयास साध्य होती है सिद्ध की सहज। साधक को यत्नमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय रूप वैराग्य भूमियाँ तो प्राप्त हो जाती हैं, वशीकार-भूमि के लिए वह प्रयासरत रहता है पर सिद्ध को अपर व पर-वैराग्य सहज हो जाता है। साधक यम-नियमों के सार्वभौम महाव्रतों का पालन करने के लिए प्रयासशील रहता है तो सिद्ध सहज। साधक संस्कारों का क्षय करने के लिए प्रयत्न कर रहा होता है जबकि सिद्ध संस्कारमुक्त होता है। साधक बन्धनों को काटने के लिए प्रयासरत होता है जबकि सिद्ध अपने समस्त बन्धन काटकर मुक्त हो जाता है।

• खुशियाँ हमारे हाथ में हैं

हमारी खुशियाँ हमारे हाथ में हैं। अपनी खुशियों के लिए जो दूसरों पर, परिस्थितियों पर, साधनों पर, दूसरों के द्वारा हमारे साथ किये गये अच्छे-बुरे व्यवहारों पर, दूसरों के द्वारा हमारे लिए दिये गये सम्मान पर आश्रित हैं, वे कभी भी खुश नहीं रह सकेंगे, क्योंकि मन के अनुकूल ये सब बातें कैसे पूरी हो सकती हैं?

• अपने आपको पकड़ो!

किसी भी असफलता, पराजय या दुःख के लिए साधक को किसी दूसरे व्यक्ति को या किसी परिस्थिति को जिम्मेदार नहीं ठहराना चाहिए, बल्कि अपने आपको ही पकड़ना चाहिए।

• गहराई में केवल शान्ति है

हमारे व्यक्तित्व की गहराई में न कामनाएँ हैं, न तृष्णाएँ हैं, न दुष्टभाव, न जड़ता, न पराधीनता, न भय, न विकार; ये सब केवल सतह पर हैं। जैसे समुद्र में लहरें सतह पर ही होती हैं, गहराई में केवल शान्ति होती है।

• भगवान् के इष्ट रूप की उपासना

भगवान् के जिस रूप की हम उपासना करते हैं वही हमारे दिल-दिमाग में प्रकट हो जाता है। प्रेम, सहनशीलता, शान्ति, आनन्द, ज्ञान, धैर्य, बल-पराक्रम, उदारता चाहे जिस किसी रूप की हम अभीप्सा करें।

• गहराई में प्रवेश

किसी ने पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य के बारे में कहा— मुझे तो महाभाष्य में कोई दिक्कत नहीं होती, क्या हुआ कहीं एक-आध स्थल ऐसा हो जहाँ अस्पष्टता हो। एक दूसरे व्यक्ति ने कहा— अजी! मुझमें तो कोई बुराई नहीं है, हाँ! एक धूम्रपान तो जरूर करता हूँ। कई बार व्यक्ति अति उत्साह में वस्तु स्थिति का ठीक आकलन किये बिना ऐसी भाषा बोल देता है। यहाँ हम यह नहीं कह रहे हैं कि ये लोग झूठ बोल रहे हैं किन्तु यह बात जरूर है जीवन हो या शास्त्र, इन लोगों को दिखाई ही उतना दे रहा है, जब गहराई में प्रवेश करेंगे तो कुछ और भी दिखने लगेगा।

• भ्रान्त पुरुषार्थ

हमने किसी प्रामाणिक व्यक्ति से पूछा— किसी प्रदेश के मुख्यमंत्री या किसी राष्ट्राध्यक्ष (प्रधानमंत्री) को तो बहुत सारे कष्ट हैं— कहीं कुछ बिगड़ रहा है, कहीं शासन के विरुद्ध कुछ हो रहा है, कहीं जनता में वर्ग संघर्ष चल रहा है, कोई कुछ बोल रहा है, कहीं मीडिया विरोध में प्रदर्शन कर रहा है, कहीं अखबारों में गलत खबरें छप रहीं हैं फिर भी उस पद को पाने के लिए इतना संघर्ष क्यों? इतना जोड़-तोड़ क्यों?

उस प्रामाणिक व्यक्ति ने उत्तर दिया— सत्ता में रहते हुए जो सुख प्राप्त

होता है उसकी तुलना में वह दुःख नगण्य जैसा मालूम होता है।

इस पर हमने विचार किया कि साधक और सांसारिक व्यक्तियों में यही भेद होता है कि सांसारिक व्यक्ति की दृष्टि सुख पर होती है— कैसे भी सुख मिलना चाहिए, साथ में दुःख मिले तो मिलने दो; किन्तु साधक की दृष्टि दुःख पर होती है कि किञ्चित् भी दुःख नहीं होना चाहिए, सुख मिले या न मिले। साधक दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति चाहता है। साधक की दृष्टि में ‘मुझे अधिकाधिक लौकिक सुख हो’ यह भावना भ्रान्त पुरुषार्थ है, ‘मुझे दुःख न हो’ यह पुरुषार्थ है। ‘मुझे सदा-सदा के लिए दुःख न हो’ यह परमपुरुषार्थ है। साधक लौकिक सुख को ‘भ्रान्तपुरुषार्थ’ इसलिए कहता है कि ऐसा कोई लौकिक सुख है ही नहीं जो दुःखमिश्रित न हो, जो जीव को चिन्मय अवस्था से जड़ता में न पहुँचा दे।

• ऐ साधक! सावधान

साधक! तुझे सावधान रहना चाहिए— साधना के नाम पर इस जीवन यज्ञ में तेरे द्वारा दी गयी आहुति भगवान् के मुख में जा रही है या अहंकार के। क्योंकि व्यक्ति यदि ईमानदारी से इस साधना-पथ पर चलता है तो निश्चित रूप से उसकी आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन, दृष्टि (vision) में परिवर्तन, दूसरों के साथ बाह्य व्यवहार में परिवर्तन, समझ (understanding) में परिवर्तन तो घटित होता ही है किन्तु ये सब अन्तिम उपलब्धियाँ नहीं हैं। अन्तिम उपलब्धि है चिन्मय हो जाना या दूसरे शब्दों में अहंकार से पूर्ण मुक्त हो जाना। बाह्य परिस्थितियाँ, सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान आदि के आधार पर दूसरों से यदि कोई अपने आप को विशेष समझ रहा है तो निश्चित ही अहंकार सक्रिय है। चेतना का जड़ के साथ तादात्म्य हुए बिना अपने आपको विशेष समझने की अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि चिन्मय स्वरूप में तो कोई भेद है ही नहीं। भेद है बाहर से अर्जित ज्ञान का, विविध क्रियाओं का, पद का, किसी हुनर का, उपार्जित योग्यता, धन, सम्पत्ति इत्यादि का। बुद्धिगत इन उपलब्धियों

को त्यागकर चिन्मय हो जाने को ही शास्त्र में ‘परवैराग्य’ यह नाम दिया गया है। जिसका फल है— मुक्ति, आनन्द, शाश्वत-सुख, अपने चिन्मय स्वरूप या ईश्वर में स्थिति।

• अपर वैराग्य व पर-वैराग्य

अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य में क्या भेद है? वैराग्य का अर्थ है सब विषयों से पूर्ण उदासीन होकर जीना। सो बुद्धि के द्वारा या यँ कहे चित्त की अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा सांसारिक विषयों से, इच्छाओं से अर्थात् तीनों एषणाओं से अर्थात् लौकिक कामनामात्र से ऊपर उठ जाने का नाम है ‘अपर-वैराग्य’ तथा बुद्धि को भी त्यागकर या दूसरे शब्दों में विवेक-वृत्ति अर्थात् विवेकख्याति से भी ऊपर उठकर पूर्ण शान्ति में रहना है— ‘पर-वैराग्य’। अपने परमात्म स्वरूप में अवस्थान पर-वैराग्य के द्वारा ही होता है।

• अभिमान और स्वाभिमान

अभिमान और स्वाभिमान में क्या भेद है? हर मनुष्य में उसके भीतर घुसकर देखा जाए तो एक देवता का वास है, एक अन्तर्निहित पूर्णता है, स्वधर्म, स्वबोध, स्वराज्य है, सम्पूर्ण ज्ञान व समाधान है; यह है ‘स्वाभिमान’! अपने आप को किसी बाह्य योग्यता, पद-प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति इत्यादि के आधार पर किसी से बड़ा और किसी से छोटा समझने का नाम है ‘अभिमान’।

• समर्पण की अनन्यता

कोई भी व्यक्ति ‘मैं हमेशा प्रसन्न रहूँगा’ इतना सोचने मात्र से प्रसन्न नहीं रह सकता। उसके लिए ज्ञान की शक्ति या समर्पण की अनन्यता चाहिए। हृदय की शुद्धि व पवित्रता चाहिये। दृष्टि स्वस्थ होनी चाहिए जो कि सब चीजों को ठीक-ठीक देख सके। जीवन की सम्पूर्ण समझ चाहिए। कर्म भी स्वस्थ होने चाहिएँ। एक वाक्य में— प्रसन्नता बहुत सारी चीजों का परिणाम है।

• अपनी नजरों में गिरना महापाप

किसी भी साधक को अपनी नजरों से नहीं गिरना चाहिए। ईश्वरीय

विधान, शास्त्र का विधान, ऋतनियमों का विधान, समाज का विधान या कानून का विधान; इन सब को साधक कहीं तोड़ रहा है तो समझना होगा कि अपनी स्वयं की ही नजरों में गिर रहा है।

• ज्ञान के साथ कर्म का सुसंवाद

साधक के अपने ज्ञान के साथ यदि कर्म का सुसंवाद चलता रहे तो साधक की आन्तरिक रूप से प्रगति भी होगी और प्रसन्नता, शान्ति, संतोष, निर्भयता, स्वाधीनता आदि भी प्राप्त होगी।

• अनुभवात्मक ज्ञान ही सुरक्षा कवच

सूचनात्मक ज्ञान कितना भी रहे, साधक का वह बहुत दूर तक साथ नहीं दे पाता। भय प्रलोभन या किसी मनोगत कामना के उपस्थित होने पर तो अनुभवात्मक ज्ञान ही सुरक्षा कवच का काम करता है।

• आत्मा में अवस्थान

किसी भी अशुभ से, अमङ्गल से, पापभाव से, अहंकारादि विकारों से व प्रतिक्रिया मात्र से मुक्त होने के दो रास्ते हैं— सतत दुःख दर्शन व आत्मा में स्थिति। जिस भी किसी वस्तु, व्यक्ति, विचार या क्रिया से मुक्त होना चाहते हैं उस में निरन्तर दुःख ही दुःख देखते रहें अथवा बाहर से सिमट कर अन्तर्मुखता के द्वारा अपनी आत्मा में अवस्थित हो जाएँ। आत्मा में अवस्थान वह चुम्बकीय चट्टान है जिससे टकराकर वृत्तियों के जहाजी बेड़े चकनाचूर हो जाते हैं, उसके कील काँटे ऐसे बिखर जाते हैं कि कहीं देखने को ही नहीं मिलते, कहीं ढूँढे ही नहीं मिलते।

• साधक! सावधान! पाप घात लगाए बैठे हैं

निरोध करने योग्य वृत्तियों में ही समस्त दुरित अशुभभाव, पाप, प्रतिशोध, प्रतिक्रिया आदि दुर्भाव घात लगाए छिपकर बैठे रहते हैं, मौका मिलते ही वे साधक पर टूट पड़ते हैं।

• अक्लिष्टवृत्तियाँ

कुछ वृत्तियाँ ऐसी भी हैं जिनका निरोध नहीं करना होता, उनका नाम है 'अक्लिष्टवृत्ति', किन्तु ईश्वर-साक्षात्कार होने पर निर्बीज समाधि में तो उनका भी निरोध स्वतः हो जाता है।

• एक से दूसरे की पूर्ति नहीं

किसी ने हमसे पूछा कि क्या आध्यात्मिक उन्नति के लिए धन-सम्पत्ति सर्वथा त्याज्य है? हमने कहा— हमारे शरीर को जितनी चाहिए उतनी तो कैसे त्याज्य हो सकती है। किन्तु धन-सम्पत्ति का उपयोग हमारे अन्तरात्मा की आवश्यकता 'सम्मान' (अपनी आत्मपरिपूर्णता) की पूर्ति हेतु नहीं होना चाहिए। अज्ञान की दशा में इस सम्मान की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति जैसे संग्रह को साधन बनाता है वैसे ही कभी धनादि के त्याग को भी साधन बनाता है, किन्तु वह ठीक नहीं। इस संदर्भ में सम्यग् दृष्टि तो यही है कि मनुष्यमात्र की इस अन्तर्निहित माँग की पूर्ति केवल दर्शन अर्थात् ज्ञान अर्थात् अपने ठीक मूल्यांकन (मनुष्यमात्र ही न तो कोई किसी से छोटा है और न कोई किसी से बड़ा) के द्वारा करनी चाहिए न कि किसी भी प्रकार के प्रदर्शन (दिखावे) से। सम्मान पाने के लिए यदि ज्ञानी अपने ज्ञान का भी प्रदर्शन करने लगता है तो उस समय वह ज्ञानी नहीं रहता, अज्ञानी हो जाता है। इसी प्रकार कोई सामाजिक कार्यकर्ता यदि समाज सुधार के अपने कार्य के द्वारा बड़ा आदमी बनना चाहता है तो वह भी गलत दिशा में है। अज्ञानी मनुष्य प्रायः सुखी होने की अपनी उपर्युक्त निजी माँग की पूर्ति भी पदार्थों से या क्रियाओं से करना चाहता है जो कि ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थ या क्रियाएँ व्यक्ति को तात्कालिक सुविधाएँ तो दे सकती हैं पर शाश्वत सुख नहीं। शाश्वत सुख तो एकमात्र ज्ञान का ही परिणाम है। पदार्थ, ज्ञान, भाव (सम्मान, विश्वास, स्नेह, वात्सल्य, गौरव, कृतज्ञता, श्रद्धा, प्रेम इत्यादि) और क्रियाएँ, इन सभी का जीवन की पूर्णता के लिए एक उचित स्थान है, अपने-अपने स्थान पर चारों की ही आवश्यकता है। एक दूसरे में एक दूसरे को मिलाना नहीं चाहिए। कभी भी एक से दूसरे की पूर्ति नहीं हो सकती।

• गिलास में चवन्नी

पानी के गिलास में जैसे चवन्नी पड़ी है वैसे अलग से देखो शरीर व चैतन्य को।

• तिजोरी की लूट

अहं व उसकी पार्टी चोर की तरह हमारे अन्दर प्रसन्नता रूपी तिजोरी को लूट लेते हैं, चोर सदा ही मुख्य खजाने पर ध्यान देता है।

• उससे बचने का कोई उपाय नहीं

मनुष्य को कभी भी कानून को नहीं तोड़ना चाहिए। राज्य के, समाज के, गुरुजनों के, शास्त्र के और ईश्वर के कानून का अलग-अलग अपना क्षेत्र है। हो सकता है कोई राज्य, समाज, गुरुजन और शास्त्रों को अनदेखा कर दे किन्तु ईश्वरीय कानून तो सर्वदा-सर्वत्र व्यक्ति की अन्तरात्मा के साथ सटा हुआ रहता है। उसका भंग होते ही तत्काल व्यक्ति उसके द्वारा पकड़ लिया जाता है। वहाँ पकड़े जाने से बचने का कोई उपाय नहीं है। मन के स्तर पर भी यदि कोई साधक यम-नियमों को तोड़ता है तो ईश्वरीय व्यवस्था उसे तत्काल पकड़ कर दण्ड देती है। फिर उससे बचने का कोई उपाय नहीं।

• जहाँ मोह वहाँ शोक

जो भी वस्तु व व्यक्ति हमारे पास हैं उनका वियोग न हो, हमारे पास ही रहें इस आग्रहपूर्ण भाव (माँग) का नाम 'मोह' है। जहाँ मोह है वहाँ शोक भी अवश्य है, जैसे जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष भी रहता ही है या जैसे जहाँ सुख पाने की लालसा है वहाँ भय भी साथ-साथ अवश्य रहता है।

• व्यक्ति का राग

जिस विषय में व्यक्ति का राग होता है वहाँ सुख तो दिखता है, पर किसी प्रकार का दुःख भी है यह नहीं दिख पाता। इसी प्रकार जहाँ द्वेष होता है वहाँ दुःख तो दिखता है पर किञ्चित् भी सुख नहीं दिखाई देता।

• अभीप्सा का स्वरूप व उसकी महिमा

इच्छाएँ (कामनाएँ) यदि पूर्ण होती हैं तो व्यक्ति को सुख होता है, पूर्ण नहीं होती हैं तो दुःख, कष्ट व बाधा महसूस होती है पर व्यक्ति का काम चलता रहता है, किन्तु अभीप्सा के बिना तो साधक का काम ही नहीं चलता अर्थात् उसका उसके पास कोई विकल्प (Substitute) ही नहीं होता। इच्छाएँ किसी दूसरी बलवती इच्छा से समाप्त भी हो सकती हैं पर किसी विषय में यदि अभीप्सा उत्पन्न हो गयी है तो वह पूरी होने से पहले समाप्त नहीं होती। इच्छाएँ काल में सतत नहीं होतीं, पर अभीप्सा सतत बनी रहती है। इच्छाओं को प्रतिशत के हिसाब से जाँचा-परखा जा सकता है कोई ५०%, कोई ३०%, कोई ८०%, किन्तु अभीप्सा होती है तो शत-प्रतिशत होती है या फिर नहीं होती। जैसे पानी में डूबे हुए व्यक्ति को बाहर निकलने की अभीप्सा एक प्रतिशत भी कम नहीं होती। सम्पूर्ण अस्तित्व की माँग, रोएँ-रोएँ की माँग अभीप्सा होती है। किसी भय या प्रलोभन से इच्छाओं की दिशा बदल जाती है, पर अभीप्सा कभी भी अपने लक्ष्य से इधर-उधर नहीं होती। सार रूप में यह कहा जा सकता है— जीवन की मूल माँग को पूर्ण करने की अभीप्सा होती है तथा उससे अन्य होती हैं कामनाएँ या इच्छाएँ।

• जीवन की मूल माँग

जीवन की मूल माँग सम्पूर्ण धरती के मनुष्यों की एक समान है, व्यक्ति-व्यक्ति में मूल माँग का भेद नहीं है। इच्छाएँ अवश्य ही व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग हैं। मूल माँग सब मनुष्यों की पूर्ण हो सकती है किन्तु इच्छाएँ सब की तो क्या एक की भी पूर्ण नहीं हो सकतीं। प्रकृति के पास इतने साधन हैं कि हर एक की मूल-भूत आवश्यकताओं (Basic Needs) को पूर्ण कर सकती है। मूल आवश्यकताओं से आगे इच्छाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं।

• वैश्व-ऊर्जा के साथ एकात्मता

वृत्तियों, इच्छाओं व कर्म में ऊर्जा का व्यय होता है तथा ध्यान में ऊर्जा

का सञ्चय। वैश्व-ऊर्जा के साथ एकात्मता ही ध्यान है।

• अधिकार का प्रयोग

संसार के सब लोग अपने-अपने अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं। कोई ऊँची आवाज में बोलता है, कोई किसी का अपमान करता है, कोई किसी पर क्रोध करता है, कोई अपना अहंकार दिखाता है। साधक को भी अपने अधिकार का प्रयोग ज्ञान-समाधान, प्रेम-करुणा और शान्ति के रूप में करना चाहिए।

• साक्षी भाव में साधक का उद्धार

जो भी घटना चक्र चल रहा है— अनुकूल या प्रतिकूल, शुभ या अशुभ; हर क्षण 'मैं' उन सब परिस्थितियों का साक्षी बना रहे तो साधक के लिए यह बहुत बड़ी बात होगी। इसी उपाय से साधक सदा सहज रह सकता है।

• सृष्टि सबके लिये न कि किसी एक के लिये

विधाता ने यह सृष्टि केवल मेरे को लक्ष्य करके तो बनाई नहीं कि सब कुछ मेरे अनुसार ही चले। यह तो सबको ध्यान में रखकर बनाई गई है। यहाँ जितना मुझे अधिकार है उतना ही अन्यो को भी है। अतः 'यहाँ ऐसा ही होना चाहिए ऐसा नहीं होना चाहिए' या 'सब कुछ मेरे अनुसार चले' यह सोचना ही गलत है।

• परिवार का मुखिया अन्तरात्मा

हमारा व्यक्तित्व परिवार की तरह है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व आत्मा ये सब परिवार के विभिन्न घटक हैं। परिवार के सभी सदस्यों में जितना सुसामञ्जस्य, समस्वरता, तालमेल होता है उतना ही सुख होता है। परिवार में विशेषतः यदि मुखिया का अनुशासन सभी सदस्य मानते हैं तो परिवार की निरन्तर उन्नति होती रहती है। हमारा अन्तरात्मा ही हमारे आन्तरिक परिवार का मुखियास्थानी है जिसके संकेतों व प्रेरणाओं को हमें समझना, सीखना होता है।

• ध्यानाकर्षण

कोई भी महापुरुष, शास्त्र, गुरु-आचार्य ध्यान दिलाने का काम करते हैं। उनके ध्यान दिलाने पर भी कुछ लोग ध्यान दे पाते हैं कुछ नहीं। जो दे पाते हैं उनमें अवश्य ही परिवर्तन घटित हो जाता है। 'ध्यानाकर्षण करना' कोई छोटी-मोटी घटना नहीं है, यह इतनी महत्वपूर्ण चीज है कि जीवन की दिशा ही बदल जाती है। इसलिए जिसके द्वारा भी यह सहयोग मिला, उसके प्रति व्यक्ति को कृतज्ञ होना ही चाहिए।

• मैं बड़ी शक्ति वाला हूँ

यह 'अस्मद्' और 'अहम्' कौन है? वह उत्तम पुरुष है अर्थात् पुरुषोत्तम है। उत्तम पुरुष और पुरुषोत्तम एक ही बात है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ भी यही है कि 'मैं बड़ी शक्ति वाला हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम हूँ, मैं दीन-हीन नहीं हूँ, मैं तुच्छ अथवा उपेक्षणीय नहीं हूँ'। ऐसी भावना मन में आते ही मननशील मानव का मुख कैसे आत्मगौरव की दीप्ति से दीप्यमान हो उठता है? ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैं शक्ति का पुञ्ज हूँ, अदीन हूँ, परोपजीवी नहीं हूँ, परमुखापेक्षी नहीं हूँ, अपने ही बल पर अपने पाँवों पर खड़ा हूँ। संसार में जो भी कुछ है, सब मेरी ही अपेक्षा से है, मैं नहीं हूँ तो उस सबके होने का भी कोई अर्थ ही नहीं है। 'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।' जिस दिन मैं आँखें बन्द कर लूँगा, उस दिन यह सब दृश्यमान जगत् भी नहीं रहेगा, कम से कम मेरे लिए। मैं अब भी आँखें बन्द कर लूँ तो यह संसार कहाँ है? पर मैं? मैं तो हूँ, आँखें बन्द कर लेने पर भी हूँ, मुझे प्रतिक्षण अपने अस्तित्व का आभास होता रहता है। इतना सर्वातिशायी है मेरा अस्तित्व।

• मैं और तू का अस्तित्व

अस्मत् है तभी युष्मत् भी है। उत्तम पुरुष है, तभी मध्यम पुरुष है। यदि अस्मत् न होता, तो युष्मत् कहाँ से आता? अस्मत् की ही बदौलत तो युष्मत् का अस्तित्व है। क्योंकि 'युष्मत्' का अर्थ है 'आयुष्-मत्' मेरे आशीर्वाद से

आयुष्य प्राप्त करने वाला। मैंने ही तुझे अस्तित्व प्रदान किया है। मैं न होता तो तेरा भी अस्तित्व न होता।

• सबसे उच्च शिखर पर

यह जितना अस्तित्वमय दृश्यमान जगत् है उसके सबसे उच्च शिखर पर यदि कोई आसीन है तो वह 'मैं' हूँ, मैं उत्तम पुरुष हूँ, मैं पुरुषोत्तम हूँ, मैं नर के रूप में नारायण हूँ, मैं शक्ति का भण्डार हूँ।

परन्तु पौराणिक काल में अवैदिक विचारधारा भारतवर्ष में फैल गयी। उसी समय सर्वत्र इस भावना का प्रसार हुआ कि— **पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः।** “अर्थात् मैं पापी हूँ, पाप कर्म करने वाला हूँ, पापात्मा हूँ और पाप के कारण ही मेरा जन्म हुआ है”। जो उत्तम पुरुष और पुरुषोत्तम था, उसकी इतनी अवमानना, उसका इतना पतन? समस्त वेदों और उपनिषदों में ऐसा एक भी वाक्य नहीं आया जिसमें मनुष्य के जन्म को पापमूलक बताया गया हो, जिसमें उसका इस प्रकार अपमान किया गया हो। जो 'अमृत का पुत्र' है, जो 'भगवान् का सनातन अंश है' **शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः** (वेद) **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** (गीता) वह पाप की औलाद कैसे होगी?

• रास्ता भटक जाये तो

कोई व्यक्ति रास्ता भटक जाये, तो उसे तत्काल लौट जाना चाहिये, अपने अभीष्ट मार्ग से अपनी यात्रा तय करनी चाहिये। इसी विचार में तो व्यक्ति की मौत छिपी हुई रहती है कि चलो! आगे से धूमकर आ जायेंगे।

• आन्तरिक जगत्

प्रतिक्रियाओं से परिपूर्ण मनुष्य का आन्तरिक जगत् कितना भयावह होता है। इन प्रतिक्रियाओं से मनुष्य को कितना कष्ट होता रहता है इसका क्या कोई हिसाब लगा सकता है?

• दयनीय स्थिति

मनुष्य की यह कितनी दयनीय स्थिति है जो उसका हर क्षण प्रतिक्रिया में गुजरता है। मनुष्य यदि अपने अन्तस् का अवलोकन करे और जिन क्षणों में अपने को प्रतिक्रिया से मुक्त पाये तो वह स्थिति कितनी सुखद अथवा सुहावनी होती है। क्या इसे शब्दों में कहा जा सकता है?

• सुख तो इसी में है

क्या कोई मनुष्य इस सम्पूर्ण सृष्टि को शान्त नजर से नहीं देख सकता? जिसमें न कोई रागात्मक प्रतिक्रिया हो न द्वेषात्मक। अनुभव तो यही बताता है— सुख तो इसी में है। हाय! सुख कितना अच्छा व दुःख कितना खराब, फिर भी मनुष्य परिणाम में दुःख लाने वाले कार्य ही करता है। कभी न कभी तो इस अध्यात्म-जीवन की शुरुआत करनी ही होगी। यह भी सुनिश्चित है कि कोई भी काम करने से ही होता है, बिना किये तो कुछ भी नहीं होगा। बिना किये तो न सरल कार्य होता है न कठिन। करना प्रारम्भ कर देते हैं तो कठिन से कठिन कार्य भी हो ही जाता है। किसी भी क्षेत्र में अन्तिम सिरे तक पहुँचने के लिये भावना, विचार व दीक्षा की प्रक्रिया से गुजरना ही पड़ता है। केवल भावना, विचार व संकल्प लेने मात्र से काम नहीं बनेगा, दीक्षा चाहिए। दीक्षा में भावना, विचार व संकल्प सब के सब क्रिया में परिणत हो जाते हैं। दीक्षित व्यक्ति अपनी भावना, विचार व संकल्प से एक इञ्च भी पीछे नहीं हटता। दीक्षा में प्रलोभन, प्रमाद व भय के लिए कोई स्थान नहीं होता। ये चीजें यदि बीच में आ जाती हैं तो समझना चाहिए अभी दीक्षा ठीक से ग्रहण नहीं की गई है। दीक्षा का अर्थ ही यही है कि व्यक्ति अपने लक्ष्य की तरफ चल पड़ा है अब उसके पास दायें बायें या पीछे देखने के लिए कोई अवकाश नहीं है।

• पिछली चीजें छोड़नी ही पड़ती हैं

एक व्यक्ति कुछ सीखने के लिए अपने घर से चलता है, कुछ दूर पहुँचकर परिवार के लोगों से मिलने की इच्छा जागरित हो जाती है, बीच में ही

वापस आ जाता है, एक दो दिन बाद फिर अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है, कुछ दूर जाने पर फिर वही पुनरावृत्ति हो जाती है। यह और इस जैसा कोई भी व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त कर ही नहीं सकता। आगे बढ़ने वालों को पिछली चीजें छोड़नी ही पड़ती हैं।

• पिछली चीजों का मोह

पिछली चीजों का मोह आगे बढ़ने में बहुत बड़ी बाधा है। अतः उपाय तो चाहे कुछ भी अपना पड़े पर इसके ऊपर विजय प्राप्त करनी ही होगी। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

• समझकर जीवन यापन करना

इन्द्रियों के विषय तथा संसार के भोग मनुष्य को किस प्रकार ललचाते तथा पथ भ्रष्ट कर देते हैं इसे समझकर जीवन यापन करना ही विद्या है।

• विद्या की परिभाषा

विद्या की परिभाषा समझने के लिए आवश्यक है कि जो जान लिया जाये वह कर लिया जाये, तभी विद्या के क्षेत्र में हम गिने जा सकते हैं। हमने जाना कि क्रोध करना बुरा है और क्रोध करते रहे, यह अविद्या है। अर्थात् जो कुछ हम जानते मात्र ही हैं करते नहीं वह अविद्या है।

• अच्छे होने की कसौटी

मैं जो काम कर रहा हूँ उसके अच्छे होने की कसौटी यह है कि उसमें त्याग का पुट है या नहीं, मैं उससे अलग हो सकता हूँ या नहीं। मेरी कर्म के साथ कोई लालसा तो नहीं बंधी, कोई स्वार्थ तो नहीं टंगा, कोई ऐसा स्वार्थ जिसके कारण मैं अनासक्त भाव को नहीं ला सकता। संसार के सभी उपद्रव लगाव के परिणाम हैं, चिपट जाने के, अलग न हो सकने के। मनुष्य जितना मोह-ममता में फंसा है उतना ही अपने आप को खो देता है। त्यागपूर्वक भोग, निर्मोही कर्म, निष्काम कर्म, बेलगावपन या वासनाहीनता इन सबका एक ही अर्थ है।

• एक साधक के लिये क्या आवश्यक ?

किसी भी चीज के प्रति उत्सुकता, बेचैनी या अधीरता एक साधक के लिये अच्छी बात नहीं है। समस्त नाम-रूप के प्रति प्रशान्त मनःस्थिति ही साधक को ध्यातव्य या अभीष्ट होनी चाहिये।

• साधक ! तू लक्ष्य से इधर-उधर मत देख

साधक को वे ही अनुभव करने चाहियें जो उसके मार्ग में सहायक हों, उन अनुभवों से क्या लाभ जो सहायता पहुँचाना तो बहुत दूर की बात है—उलटा बाधा ही उपस्थित कर दें। जाने या अनजाने जिस चीज में भी मन लगने लगता है या लगा दिया जाता है उसी का अनुभव प्राप्त होने लगता है। मन के बहिर्मुख होने पर संसार का, प्रकृति का या माया का अनुभव प्राप्त होने लगता है, इन्द्रिय विषयों का बोध होता है। समस्त नाम रूप से उपरत होकर या उपरत करके जब मन को अन्तर्मुख कर दिया जाता है या अन्तर्मुख हो जाता है तो आत्मा का या भगवान् का अनुभव होने लगता है।

• भय से अशुभ

भय से (किसी भी प्रकार के भय से चाहे वह अपमान का हो या मृत्यु का, सम्पत्ति छिन जाने का अथवा आगे के लिए वृद्धि रुक जाने का, एक शब्द में कहें तो किसी भी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि न हो सकने का), भय मात्र से असत्य उत्पन्न हो जाता है। बच्चे भयभीत होकर ही तो अपने माता-पिता या गुरुओं के समक्ष असत्य बोलते हैं। ईश्वर, धर्म, शास्त्र या गुरुजनों के प्रसङ्ग में जब भय शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका तात्पर्य उनके विधान या अनुशासन को स्वीकारने से है।

• विद्या समर्पण रूप है

हमारे विद्यार्थियों को स्कूल व कॉलेजों में बतलाया जाता है कि विद्या ताकत है, परन्तु प्राचीन आश्रमों में एक गहरी सच्चाई बतलाई जाती थी कि विद्या समर्पण रूप है।

• सत्य ही शरण है

जिस मनुष्य का सत्य ही शरण है वह जैसा अन्दर है वैसा ही बाहर रहता है। यही तो मिथ्याचार, दिखावा, प्रदर्शन, आडम्बर या ढोंग कहलाता है कि अन्दर कुछ है तो बाहर कुछ और है। कुटिलता भी यही है। इसके सर्वथा विपरीत सरलता होती है जिसमें किसी प्रकार का कोई दिखावा नहीं होता।

• जो तूने पाया है वो तेरी ही चाह थी

जिस चीज को एक क्षण के लिये भी जगह नहीं दी जाती, धीरे-धीरे वह दूर हो जाती है। जो कुछ भी हमें मिलता है या मिल रहा है उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुमति पहले ही अवश्य दे दी जाती है।

• अपने अन्दर के देवता की उपेक्षा

मनुष्य अपने अन्दर के मनुष्य की या अन्दर के देवता की उपेक्षा करता रहता है, क्या यह अच्छी बात है? स्वयं उस व्यक्ति का कुशल क्षेम कौन पूछे? कौन उसके मन की व्यथा सुने? कौन उसकी रुचि-अरुचि का ध्यान रखे? इसके लिए उसे स्वयं ही तैयार होना पड़ेगा।

• अपने से प्रेम

व्यक्ति जब अपने से ही प्रेम करना सीख जाता है तो उसका यही प्रेम फिर सभी के ऊपर प्रेम के रूप में बरसने लगता है। उसके व्यक्तित्व में करुणा और दया का अंकुरण हो जाता है।

• तीन प्रकार के साधक

तीन प्रकार के साधक देखने में आते हैं— एक वे जो बुराई को तो नहीं छिपाते, पर अपनी अच्छाई को अधिक से अधिक छिपाते रहते हैं। दूसरे बुराई को नहीं छिपाते पर अपनी अच्छाई या अपनी विशेषता को जितनी उनमें है— उसको अधिक से अधिक फैलाना चाहते हैं। तीसरे बुराई को नहीं छिपाते और अच्छाई को भी नहीं छिपाते, पर अच्छाई को फैलाने का प्रयत्न नहीं करते।

सहज रूप में स्वतः फैलती है तो फैलने देते हैं।

पर जो साधक नहीं हैं वे बुराई को छिपाते रहते हैं और जो अच्छाई, जो गुण, जो विशेषतायें उनमें नहीं हैं या कम मात्रा में हैं उनको भी जनता के समक्ष अधिक से अधिक दिखाने का प्रयत्न करते रहते हैं।

जितनी अच्छाई है उसको बिना बढ़ाये चढ़ाये प्रस्तुत करने में कोई दोष नहीं, पर ऐसा करने से प्रमादवश मन में अभिमान आ जाने की सम्भावना तो हो सकती है।

• सत्य की साधना

किसी ने पूछा साधना किस चीज की करनी होती है? इस प्रश्न का संक्षेप व सारगर्भित उत्तर यह है कि 'सत्य' की साधना। सत्य को मानना, सत्य को जानना, निरन्तर सत्य का शोध या उसकी खोज, सत्य देखना, सत्य सुनना, सत्य बोलना और सत्य ही करना।

जो कुछ अन्दर है वही वाणी और क्रिया में भी रहे— यही सत्य है। अन्दर यदि असत्य है और वाणी तथा क्रिया में भी असत्य तो क्या उसे सत्य कहेंगे? हाँ! अवश्य ही एक अर्थ में वह सत्य है, पर वह सत्य का करना न होकर असत्य का करना कहलायेगा। ब्रती जीवन सत्यकारी है तो अब्रती जीवन असत्यकारी।

• धोखा देना (विश्वासघात) महापाप

हम कभी नहीं चाहते कि हमें कोई धोखा दे तो हमें भी किसी एक व्यक्ति को अथवा पूरे समाज को धोखा नहीं देना चाहिये। समाज का अथवा किसी व्यक्ति का हम पर जो विश्वास है उससे विपरीत करना उस समाज या व्यक्ति को धोखा देना है, अर्थात् विश्वासघात करना धोखा देना ही होता है।

• जितनी स्वतन्त्रता उतनी जिम्मेदारी

हम विषयों की बाढ़ में अपने को बहाने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हैं, पर इस

बात का पहले ही निश्चय कर लेना चाहिए कि फिर उसमें से निकलना बहुत कठिन है।

• अज्ञान का खेल

अज्ञान का खेल कितना विचित्र है— एक व्यक्ति पचास वर्ष तक भी विषयों का सुख लेकर यह नहीं सीख पाता कि इनमें कुछ भी सार नहीं है। भोगों की असारता का बोध जब भी किसी को होगा— विचार से ही होगा। भले ही कोई भोग भोगने से पहले विचार कर ले अथवा बाद में, इनसे उपरत होने के लिए विचार का सहारा तो लेना ही पड़ेगा। विचारहीन व्यक्ति कभी भी इनसे ऊपर नहीं उठ सकता। विचारवान् ही विषयों से मुंह मोड़ सकता है।

• समाज सभी को पहचानता है

मीरा बाई को यह संसार एक अनन्य निष्ठायुक्त उपासिका के रूप में पहचानता है, बिस्मिल, सुभाषचन्द्रबोस आदि को देशभक्त के रूप में, रमण महर्षि को ज्ञानी के रूप में, जे० कृष्णमूर्ति को आध्यात्मिक विचारक के रूप में, गांधी जी को धार्मिक राजनेता अथवा सत्य व अहिंसा के पुजारी के रूप में, राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में, कृष्ण को योगेश्वर के रूप में, श्री अरविन्द को एक महायोगी के रूप में, रामकृष्ण को भक्त के रूप में, ऋषि दयानन्द को वेदज्ञ, समाजसुधारक या ब्रह्मचारी के रूप में, मुन्शी प्रेमचन्द को एक कहानीकार के रूप में, किसी को धावक के रूप में, किसी को उद्योगपति के रूप में, किसी को भाषाविद् के रूप में, किसी को गणितज्ञ के रूप में, किसी को खिलाड़ी के रूप में, किसी को धनवान् के रूप में, किसी को विद्वान् के रूप में, किसी को तपस्वी के रूप में, किसी को त्यागी के रूप में, किसी को सहयोगी के रूप में, किसी को जादूगर के रूप में, किसी को क्रोधी के रूप में, किसी को लोभी के रूप में, किसी को अहंकारी के रूप में, किसी को चोर व डाकू के रूप में; एक न एक रूप में यह समाज सभी को पहचानता ही है।

व्यक्ति को स्वयं अपने लिए निर्धारण करना होता है कि वह अपनी

पहचान का माध्यम किस चीज को चुनता है। अच्छे-बुरे अनेक विषय उपस्थित हैं। उनमें से किसी को भी पकड़ कर अपनी ऊर्जा का विनियोग कर सकता है।

• महान् आश्चर्य!

सामान्य जन जिस (समाज आदि) से बच सकते हैं उस से डरते हैं और जिस (परमात्मा, मृत्यु आदि) से नहीं बच सकते उससे नहीं डरते।

• पाप और महापाप

दूसरे को धोखा देना पाप और स्वयं को धोखा देना महापाप। दूसरे को मारना पाप और अपने को मारना महापाप।

• उद्बोधन

साधक को स्थान से उद्बोधन, शब्दों से उद्बोधन, आलम्बन से उद्बोधन, दृश्य से उद्बोधन ग्रहण करते रहना चाहिए।

• सच्ची कमाई

कुछ व्यक्ति सब कुछ खोकर सब कुछ पाते हैं और कुछ व्यक्ति बाह्य रूप में तो सब कुछ पा लेते हैं पर उन्होंने वस्तुतः सब कुछ खो दिया होता है।

• संसार में कैसे रहें?

नौका जल में रह सकती है किन्तु जल नौका में नहीं रहना चाहिए। उसी प्रकार साधक संसार में रहे, किन्तु संसार का माया-मोह साधक के मन में न रहे।

• शत्रुओं का भक्षण

जिस प्रकार बाघ पशुओं का भक्षण करता है, उसी प्रकार ईश्वर-भक्ति भी मनुष्यों को फंसाने वाले सारे शत्रुओं का भक्षण कर जाती है।

• सब साधनों का हेतु

पुरुष को जागरित करके पुरुषोत्तम बनाना यही सब साधनों का हेतु (प्रयोजन) है।

• घातक भूल

इससे बड़ी और कोई घातक भूल नहीं कि हम पड़ाव को मंजिले-मकसूद समझ लें या किसी पड़ाव पर ही ठहरे रहें।

• 'कर्म'

सर्वोच्च स्थिति में जाने का एक ही उपाय है— 'कर्म', भावपूर्ण कर्म।

• सच्चा पण्डित

जो मनुष्य एकाएक कोई कार्य करता है उससे वह धर्मात्मा नहीं हो जाता। जो अर्थ और अनर्थ दोनों का निश्चय करता है वही सचमुच पण्डित है।

• स्वयं से स्वयं का संयम

आत्मा स्वयं ही आत्मा का स्वामी है और आत्मा स्वयं ही आत्मा की गति है इसलिए जिस प्रकार कुशल अश्वारोही अपने घोड़े को संयत रखता है उसी प्रकार तुम अपनी आत्मा के द्वारा स्वयं को संयत रखो।

• ईश्वर को मानने से लाभ

मन से जब ईश्वर का डर निकल जाता है तो मनुष्य अनुचित कर्म भी करने लगता है। उसे न विधि-निषेध की पहचान शेष रहती है और न पवित्र-अपवित्र का ध्यान रहता है। मनुष्य को पाप कर्म से रोकने वाला केवल ईश्वर का डर है। जब यही मन में शेष न रहे तो मनुष्य न्याय की पकड़ से बचने का तो यत्न करता है परन्तु अपने एकान्त समय में पाप कर्म करने से रुक नहीं सकता। सात पर्दों में छिपे हुए मनुष्य को जो वस्तु पाप कर्म करने से रोक सकती है, वह ईश्वर का डर है। यह अनुभव होना कि मुझे एक ऐसा व्यक्तित्व देख रहा है जो सर्वद्रष्टा और सर्वान्तर्यामी है। मेरे हृदय का कोई भाग उससे छिपा हुआ नहीं है। मेरी हर हरकत उसके सामने है और जो कुछ मैं छिप कर भी करूँगा, एक दिन मुझे उसका उत्तरदायी होना पड़ेगा।

• जीवन की सरलता

यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि जीवन की सरलता दूसरों की नकल करने में नहीं है बल्कि जो अवसर हमको मिला है उसको ठीक-ठीक उपयोग करने में है। जो व्यक्ति अपने काम को तो अच्छे ढंग से नहीं करता और दूसरों के काम की सराहना करता रहता है वह जीवन पथ पर चलते हुये डगमगा जाता है।

• साधक ! तू स्वयं उत्तरदायी

यह बहुत बुरी बात है कि हम अपनी त्रुटियों और असफलताओं के लिये दूसरों को जिम्मेदार ठहरावें।

• सहानुभूति

चाहे एक व्यक्ति कितना ही विद्वान्, कलाकार या शक्तिशाली क्यों न हो, यदि उसमें सहानुभूति का भाव नहीं है तो फिर उसके व्यक्तित्व का मूल्य बहुत कम रह जाता है।

• अवसर मत चूको !

दूसरों के लिए बड़ा त्याग करने का अवसर तो बहुत कम मिलता है परन्तु छोटी-छोटी बातों में त्याग करने के अवसर प्रतिदिन मिलते ही रहते हैं।

• सफलता

सफलता है— उचित निर्णय, अवसरों का लाभ उठाने की योग्यता, अधिकतम सतर्कता एवं परिश्रम का सुन्दर मिश्रण। कई नवयुवक सौभाग्य का गीत गाते नहीं थकते। किसी को असाधारण सफलता पाते देखकर वे एकदम कहते हैं— कितना सौभाग्यशाली है वह। पर किसी भी महान् सफलता पाने वाले व्यक्ति के जीवन चरित्र को यदि पढ़ें तो उसकी सफलता में प्रायः निम्नलिखित कारण दिखलायी पड़ते हैं— स्वस्थ और बलवान् शरीर, परिश्रमी स्वभाव, अथक कार्यशक्ति जो हारना नहीं जानती, दृढ़ निश्चय जिसमें किसी भी प्रकार की दुविधा नहीं; एकाग्रता जो शक्तियों को इधर-उधर बिखरने नहीं

देती; साहस जो कभी साथ न छोड़े; आत्मविश्वास व आत्मवशीकरण जो 'नहीं' कहने व उस पर दृढ़ रहने की शक्ति देता है; निष्ठा, वफादारी, ईमानदारी, अपने व्यवसाय या पेशे के प्रति असीम उत्साह, ऊँचा उद्देश्य व श्रेष्ठ लक्ष्य—ये ही वे दिव्य गुण हैं जिनके सहारे कोई व्यक्ति महान् सफलता पाता है।

• ईश्वर-प्रणिधान

अगर किसी व्यक्ति को यह पूर्ण विश्वास हो जाये कि मेरे हृदय के अन्दर मेरे कर्मों के सत्यासत्य का साक्षी और उसका समुचित फल देने वाला प्रत्यक्षतः विराजमान है, अर्थात् अगर “**कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः**” का पूरा ज्ञान प्राणी को हो जाये, तो वह अपने पथ से कभी स्खलित नहीं हो सकता और न ही विपरीत परिस्थितियों से घबराकर अपने कर्तव्य पथ से दूर जा सकता है। इसके अतिरिक्त वह अपने अन्दर दिव्य ज्योति का प्रकाश देखेगा, जो उसे सत्यपथ पर ले जाने में सहायक होगा। इसी अन्तर्ज्योति का ज्ञानपूर्वक श्रद्धा से अनुसरण करना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है।

• दो प्रकार की शक्तियाँ

हर यन्त्र में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। एक गति बढ़ाने वाली और दूसरी दिशा दिखाने वाली। इनमें से एक भी न हो तो काम नहीं चलेगा। हम पाँव से चलते हैं आँख से नहीं। आँख से तो दिशा मालूम होती है। इसी तरह आत्मज्ञान है आँख और विज्ञान है पाँव।

• मित्र दृष्टि

मैं सहृदय सम्पूर्ण जीव जगत् को क्षमा करता हूँ, सर्व जीव जगत् मुझे क्षमा करे। सम्पूर्ण जीवों के प्रति मेरी मैत्री भावना है अर्थात् सम्पूर्ण जीव मेरे मित्र के समान हैं, किसी के प्रति भी वैरभाव नहीं है।

• आत्मा का विकास

अपनी आत्मा को विकसित करने के लिये आवश्यक होता है—आपराधिक भार को उतार फेंक देना।

• तीन कठोर वस्तुएँ

संसार में तीन वस्तुएँ अत्यन्त कठोर होती हैं— फौलाद, हीरा और आत्मनिरीक्षण।

• विषयरूपी पिंजरा

विषयरूपी पिंजरा चाहे कितना ही सुखदायी हो, है तो आखिर पिंजरा ही। धन्य हैं वे पुरुष जो ब्रह्मानन्द के अनन्त साम्राज्य में स्वच्छन्द विचरण करते हैं। वस्तुतः स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ा सुख है। विषय रूपी पिंजरे में बन्द होकर भले ही कितने ही भोग उपलब्ध हो जावें, पर वे सब हृदय को अशान्त ही करते हैं।

• अपरिग्रह की पूर्णता

साधक को सदा अपने विवेक के प्रकाश में सूक्ष्मता से अवलोकन करते रहना चाहिए कि कौन सी तेरी मूलभूत आवश्यकताएँ हैं और कौन सी मनोवैज्ञानिक (मानसिक) इच्छाएँ। जो भी मनोवैज्ञानिक इच्छाएँ होती हैं वे ही 'परिग्रह' के अन्तर्गत आती हैं। तात्पर्य है— साधक का जिस किसी वस्तु-व्यक्ति-विचार या कार्य से सम्बन्ध होता है, उन सब का उपयोग यदि वह भौतिक रूप से जीवन को बनाए रखने मात्र के लिए करता है या अपने हृत्स्थ प्रेम के निर्वाह हेतु अपने साथी भाईयों का सहयोग करने के लिए करता है तब तक तो साधक के लिए कुछ भी दोषावह नहीं होता किन्तु जब वह इन सब चीजों का उपयोग अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता (अहंकार की तृप्ति) के लिए करने लगता है, अर्थात् वस्तु (पदार्थ, मकान, साधन, धन-सम्पत्ति आदि), व्यक्ति (मनुष्यों के साथ सम्बन्ध), विचार (अपनी मान्यताएँ) या जो भी वह कार्य कर रहा है चाहे वह समाज सेवा है या साधना है या कुछ और, इन सब के आधार पर जब साधक अपने आपको दूसरों से विशेष अनुभव करने में लग जाता है तो वही मनोवैज्ञानिक आवश्यकता परिग्रह का रूप धारण कर साधक के लिए उसकी एक महान् बाधा बनकर उपस्थित हो जाती है। यही है

परिग्रह और अपरिग्रह का वास्तविक अभिप्राय।

• साधक की कसोटी- सन्तोष

योग-शास्त्र में कहा है- ‘संतोषादनुत्तमसुखलाभः’(योग द० २.४२)। किसी भी क्षेत्र में चाहे साधना है या भौतिक जगत्, जब व्यक्ति के द्वारा कुछ पुरुषार्थ किया जाता है तो उसे प्राकृतिक नियम के अनुसार कुछ न कुछ उपलब्धि भी होती ही है। कुछ उस उपलब्धि में सन्तुष्ट रहते हैं, कुछ असन्तुष्ट। साधक सन्तुष्ट रहते हैं तथा असाधक असन्तुष्ट। **साधक देखता है कि मुझे जो मिला है या मिल रहा है वह मेरी पात्रता के अनुसार ज्यादा ही है। यदि अधिक चाहिए तो और भी अधिक पुरुषार्थ करना होगा।** एक सच्चे व अच्छे साधक की दृष्टि में पुरुषार्थ करना कभी भी असन्तोष के अन्तर्गत नहीं आता। जो मिला है उसमें अतृप्ति, असन्तुष्टि या कम मिलने का भाव ही असन्तोष है। साधक और असाधक में यही भेद है कि साधक अपनी न्यून उपलब्धि के लिए किसी को कोसता नहीं है, न तो भाग्य या प्रारब्ध को, न किन्हीं व्यक्तियों या परिस्थितियों को; जबकि असाधक इसको या उस को सदा ही कोसता रहता है, पुरुषार्थ कम करना चाहता है तथा उधर फल अधिक पाना चाहता है और इस वृत्ति के कारण जितना भी मिल जाये उसमें तृप्ति का अनुभव नहीं करता बल्कि बेचैन रहता है। दूसरों की उपलब्धियों से अपनी उपलब्धियों को कम आँकता रहता है। साधक अपनी कम उपलब्धियों में किसी को दोष नहीं देता और अपने पुरुषार्थ को सतत जारी रखता है तथा सदा सन्तुष्ट बना रहता है।

सन्तुष्टः सततं योगी (गीता १२.१४)

• तप करने की आवश्यकता

मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है, केवल तप करने की आवश्यकता है। मरणपर्यन्त तप, अति उग्र तप, निरन्तर तप, श्रद्धापूर्वक तप- ये शब्द कितने प्रिय हैं। तप का अर्थ है- अपने आप को जला डालना। अपने वर्तमान व्यक्तित्व को पूर्णरूप से जला डालना। उसी में से फिर एक नये व्यक्तित्व का निर्माण होता है। हर परिस्थिति में एकरस अर्थात् सम बने रहना ही वह तप

है जो प्रत्येक साधक का कर्तव्य है। हर क्षण अपने अन्दर जागरित रहना।

• सबसे आवश्यक भीतर की शान्ति

संसार में शान्ति की स्थापना करने के लिये अपने अन्दर ही शान्ति को स्थापित करना होगा- क्योंकि हम ही तो संसार हैं।

• वर्तमान

वर्तमान में कोई चाह नहीं होती, कोई विचार नहीं, कोई आलोचना नहीं।

• No Judgement No demand Each & every moment.

• नोबेल पुरस्कार मिलेगा ही

वैज्ञानिक की तरह एक चीज के पीछे पड़े रहना- फिर तो नोबेल पुरस्कार मिलेगा ही।

• जीवन बोलना चाहिए, केवल वाणी के बोल से पूरा नहीं पटेगा।

• दिव्य भाव (स्थिति)

With knowing - without knowing साधक की दो स्थिति हो सकती हैं।

• प्रकृति कहती है- भगवान् के पास अभी मत जाओ- इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो? अभी कुछ और भी मेरे साथ रहो।

• प्रकृति, बिना पुरुष के मूर्छित अवस्था में है।

• कुछ लोग दृश्य के साथ ही रहते हैं- दूसरे सदा द्रष्टा के साथ।

• ध्यान क्या है? मुर्दे की तरह रहना। जीवित-मुर्दा। (कृतार्थ प्रति नष्टम्)।

• जानते हुए चुप होना ध्यान है। totally silence with knowing.

• ध्यान का मतलब कर्पूर, मन तो मार्केट (भीड़-भड़क्का) है।

• Diving within devine is meditation.

• Living in presence is meditation.

- Living with self-Awareness is meditation.
- Self-alertness is meditation.
- To be egoless is meditation.
- Self-Forgetfulness is meditation.
- Don't Announce, act !
- दृश्य के साथ होते ही सहनशक्ति टूट जाती है। It works like within no time.

• एक दम खाली

बच्चे के पास धन नहीं, सम्मान नहीं एक दम खाली— पुनरपि पूर्ण सुखी क्यों ? क्योंकि वह अहंरहित है।

• समाधि

अपराविद्या का अन्त ही समाधि है। पराविद्या क्या है? अमृतत्व का साधन। अमृतत्व क्या है? मुक्ति, विशुद्ध ज्ञान।

• 'नेति-नेति'

संसार के लिए विद्या (दृश्य का ज्ञान) चाहिये। संसार का समस्त ज्ञान अपराविद्या है। उसके लिये ज्ञान को जोड़ना (plus करना) होता है। भगवान् को पाने लिये 'ज्ञान को' minus करना होता है— यही है 'नेति-नेति'।

• द्रष्टा को चाहना योग

दृश्य (मन, बुद्धि) का दृश्य (विषयभूत संसार) को चाहना भोग। दृश्य (मन, बुद्धि) का द्रष्टा को चाहना योग।

• चित्त का बन्धन

अपनी बाह्यरुचियों (मन-प्राण व शरीर की रुचियों) को पालते पोसते रहना, हाँ-हाँ कहते रहना ही भोग है— यही चित्त का बन्धन है।

• प्रारम्भ कर देना ही मुक्ति है

अपनी समस्त बाह्य रुचियों को समाप्त कर देना— ना-ना कहना (नहीं चाहिये, नहीं चाहिये कहना) प्रारम्भ कर देना ही मुक्ति है।

• वर्तमान क्षण का माहात्म्य

वर्षों तक निरन्तर साधना की उत्तम से उत्तम स्थिति में रहने पर भी यदि वर्तमान क्षण (इस-क्षण) के माहात्म्य को नहीं समझा तो कभी भी पतन हो सकता है। यही क्षण है जो व्यक्ति की मुक्ति और बन्धन का हेतु है। इस क्षण से ही निर्धारण होता है कि व्यक्ति स्वतन्त्र है या परतन्त्र। यह क्षण यदि निर्भय है, शान्त है, दैवी सम्पत् से युक्त है तो सब कुछ ठीक है। यदि यह क्षण बिगड़ रहा है, आसुरी शक्तियों के आक्रमण से युक्त है, भय-बाधा-अशान्ति ने घेर लिया है तो समझना चाहिए पतन हो गया है। किन्तु यदि फिर भी अगले ही क्षण होश आ गया है तो कहना होगा साधक अपनी यात्रा में आगे से आगे बढ़ता जा रहा है।

• जीने का सौन्दर्य

सचमुच इस क्षण में जीने का सौन्दर्य बहुत ही अद्भुत है, जीवन सर्वथा हल्का-हल्का अनुभव होता है।

• हार मत मानो !

देवासुर संग्राम में व्यक्ति यदि अपनी हार न माने तो हर बार जब-जब संग्राम होता है तब-तब असुरों के अधिकार से उतना क्षेत्र (Area) जीत लिया जाता है। इस प्रकार असुरों के साथ सैकड़ों-हजारों-लाखों बार युद्ध करके उनको बाहर खदेड़ना होता है और आत्मा का राज्य या देवों का राज्य स्थापित करना होता है।

• असुरों का समूल नाश

असुर भी कोई कम हठीले नहीं हैं, वे भी अन्तिम दम तक अपने पञ्जे जमाने का प्रयास जारी रखते हैं। खदेड़ देने पर भी पुनः पुनः लौटकर आ जाते हैं। समूल नाश होने तक कभी भी देवों को चैन से नहीं बैठने देते।

• असत्य के साथ सतत संग्राम

असत्य के साथ हजारों-लाखों बार लड़ाई लड़नी पड़े और हर बार पराजय हाथ मिले तो क्या निराश हो जाना चाहिये? नहीं, कदापि नहीं। हर युद्ध के बाद और भी ज्यादा तैयारी के साथ युद्ध भूमि में उतरना चाहिये। जब तक भी इस युद्ध को लड़ना पड़े एक क्षण के लिए भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये।

• कर्म का अकाट्य सिद्धान्त

हम जिन चीजों को महत्व देते हैं, जिन चीजों को चाहते हैं— वे ही हमें मिलती हैं। क्या दुःख-कष्ट भी चाहें हुआ ही मिलता है? अवश्य! सो कैसे? देखिये— कर्म का अकाट्य सिद्धान्त है— ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा। ‘ऐसा होगा’ व्यक्ति के हाथ में नहीं होता, ‘करना’ तो हाथ में होता है। करने के बाद व्यक्ति पराधीन हो जाता है। ‘अच्छा’ व ‘बुरा’ दोनों भी मिल सकते हैं। जब हम अपनी इच्छा के प्रतिकूल परिणाम पाते हैं तो इसे ही तो ‘दुःख’ यह नाम दे दिया जाता है। दुःख से बचने का सन्त लोग एक ही उपाय बताते हैं— **‘करने में सावधान, होने में प्रसन्न’**। कोई पूछना चाहेगा— होने में प्रसन्न कैसे रहें? यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति के द्वारा इस या उस परिणाम की इच्छा नहीं की जाती।

• चरैवेति-चरैवेति

मरण पर्यन्त व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहे। यह न कहे कि मैंने अन्तिम चीज प्राप्त कर ली है। बेशक बुराई के ऊपर अन्तिम विजय पा ली हो, पर वाणी में या लेखन में यह न कहे कि अब मुझे कुछ करना शेष नहीं।

• चित्त का रूपान्तरण

रूपान्तरण, परिवर्तन— Trasformation, Complete Change ये शब्द सुनने में कितने अच्छे लगते हैं? जीवन के बाह्य रूप को ही नहीं, बल्कि अन्दर तक समग्र रूप को बदलने की आवश्यकता है। रूपान्तरण के लिये पहला कदम है— समाज से लुक-छिप कर कुछ भी नहीं करना। एकान्त में विकार का हेतु उपस्थित होने पर भी यदि चित्त पूर्ण शान्त बना रहता है तो

समझना चाहिये कि अब चित्त बदल रहा है।

• अनमोल कथन

“तमसो मा ज्योतिर्गमय” इस प्राचीन अनमोल कथन से बेहतर और क्या कहा जा सकता है? तमस् वही है जिसे पूरा समाज, सब शास्त्र, सब महापुरुष तो बुरा बताते ही हैं— साथ में जिसको हमारी अन्तश्चेतना भी बुरा कहती है।

• मनुष्य के अस्तित्व की मांग

मनुष्य का यह अस्तित्व प्रायः दो हिस्सों में बँटा हुआ है— एक बाहरी और दूसरा आन्तरिक। बाह्य अस्तित्व अच्छा-बुरा दोनों भी चाह सकता है, पर आन्तरिक अस्तित्व तो सदा अच्छा ही चाहता है; एक क्षण के लिये भी बुरा नहीं चाहता। जब आन्तरिक और बाह्य विभाजित नहीं होते, एक जैसे ही होते हैं तो व्यक्ति की यह पूर्ण अवस्था होती है। यह बहुत सम्भव है कि कोई बाह्य और आन्तर में भेद ही न कर पाये और बाह्य की मांगों को ही आन्तर की मांगें मानकर चलता रहे। यदि ऐसा है तो अवश्य ही उसके दुष्परिणाम उसे भोगने पड़ेंगे। कर्म का चक्र बहुत कठोर है— उसे कोई नहीं बदल सकता। हाँ! एक अपवाद है— व्यक्ति यदि स्वयं निश्चय कर ले कि इस चक्र को काटना है तो उसके अन्दर वह सामर्थ्य है कि उसे वह काट सकता है।

• लक्ष्य के अनुसार साथी का चुनाव

जैसे कोई खिलाड़ी (Sports man) ओलम्पिक में स्वर्णपदक विजेता के साथ, जैसे राजनीति में आगे बढ़ने का इच्छुक प्रधानमंत्री के साथ, जैसे कोई धनवान् होने का इच्छुक प्रथम श्रेणी के उद्योगपति के साथ, जैसे कोई अभिनेता बनने की कामना वाला फिल्म स्टार के साथ और जैसे शान्ति का इच्छुक किसी सन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है वैसे ही साधक या भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को गहरा करता जाये। जिसके पास जो होता है वह अपने सम्बन्धी को देता ही है।

भगवान् के अनन्त ज्ञान, बल, आनन्द व शान्ति प्राप्त करने का एक ही रास्ता है कि हम उसके घनिष्ठ सम्बन्धी हो जायें। इतने घनिष्ठ कि एक ही हो जायें, भेद नाम की चीज सर्वथा समाप्त हो जाये।

• बुद्धि का काम

बुद्धि का काम है ठीक-गलत को देखना, वह जितनी-जितनी सूक्ष्म व स्थिर होती जाती है उसी अनुपात में उसमें सत्य का अवतरण होता रहता है। सूक्ष्मता व स्थिरता की पराकाष्ठा को प्राप्त बुद्धि के लिए ही 'ऋतम्भरा' इस अन्वर्थ विशेषण का प्रयोग होता है और ऐसी बुद्धि को धिषणा, मेधा या प्रज्ञा यह नाम दिया गया है। बुद्धि के द्वारा ठीक से देखे हुए विषय को आत्मा या तो ग्रहण करता है या त्याग देता है। आत्मा का किसी विषय के प्रति उदासीन होना भी एक अर्थ में त्याग करना ही है।

• क्रिया का फल भावना के अनुसार

एक व्यक्ति अपनी अधिक से अधिक योग्यताएँ बढ़ाता है, जन-हित में अच्छे-अच्छे काम करता है, अपनी रुचि अनुसार विज्ञान की कुछ नई खोज (Research) भी करता है, कुछ ऐसे कार्य भी करता है जिससे उसे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त होती है। इस व्यक्ति की समग्र कार्यप्रणाली अहंकार प्रेरित भी हो सकती है, किसी आदर्श से प्रेरित भी, सेवा से प्रेरित भी तथा यज्ञरूप भगवान् को आहुतिस्वरूप भी हो सकती है। निरहंकारिता से युक्त कर्म तो तभी होते हैं जब व्यक्ति अपने अहं की या 'मैं' की क्रियाओं के प्रति सचेत रहता है।

• अहङ्कार मुक्त जीवन

प्रत्येक महान् व्यक्ति जिसको सब दुनिया जानती है, आवश्यक नहीं कि वह भला ही हो अर्थात् 'निरहम्' हो; किन्तु प्रत्येक भला व्यक्ति तो सच्चे अर्थों में महान् होता ही है। भला होने के लिए व्यक्ति का पूर्ण अहंकारमुक्त होना आवश्यक है।

• महानता का असली परिचायक बिन्दु

संसार में महानता को प्रसिद्धि से आँका जाता है, किन्तु साधक की महानता का असली परिचायक बिन्दु है— सरल होना, भला होना, निरहं होना।

• सरल होने का अन्यतम साधन

'जो है' में स्थिर होना— अहंकार को क्षीण करने का प्रकृष्टतम रूप है, रूपान्तरण की यात्रा में एक महान् प्रयाण है, सरल होने का अन्यतम साधन है। व्यक्ति के सरल होते ही चित्तवृत्तिनिरोध की प्रक्रिया स्वतः ही प्रारम्भ हो जाती है। हाँ! यही है किसी भी साधक के लिए 'जो है' में ठहरना। 'जो है' में ठहरना— आलस्य में डूबना नहीं है, यह तो अपनी जटिल प्रकृति के ऊपर क्रिया करने का उग्रतम रूप है।

• मन की सरलता

मन की या अहं की जटिलताओं को समझना और उससे मुक्ति पाना ही सरल होना है, सरलता के बाह्य प्रदर्शन से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है। साधक को कैसे भी यह बात समझनी ही होगी कि सरल होने का सीधा सा अर्थ है निरहं होना।

• दिव्यता का प्रस्फुटन

'जो है' में ठहरते ही दिव्यता का प्रस्फुटन सहज रूप से स्वतः ही प्रारम्भ हो जाता है। दिव्यता अन्दर से प्रस्फुटित होने वाली चीज है। स्थूल बुद्धि व मन के द्वारा किन्हीं मान्यताओं को अपने ऊपर ओढ़ने का नाम दिव्यता नहीं है।

• सत्य प्राप्ति का उपाय

जीवन की कठिनतम समस्याओं का समाधान केवल मान्यताओं के सहारे नहीं हो सकता, बेशक वे कितनी ही ऊँची से ऊँची या तर्क की कसौटी पर कस कर देखी गई सर्वथा निर्भ्रान्त ही क्यों न हों। जटिल व मुश्किल समस्याओं का समाधान छिपा है— अपनी सच्ची आत्मा को पा लेने और उसी में ठहरे रहने में या दूसरी तरफ से कहें तो निरहं होकर जीने में, एकदम सरल

होकर जीने में। सरल होते ही व्यक्ति सत्य में पूर्णरूप से स्थित हो जाता है।

• एक ही सिक्के के दो पहलू

‘पूर्ण चिन्मय अवस्था में जीना’ या ‘निरहं होकर जीना’ एक ही सत्य को दो ढंग से प्रस्तुत करना है या एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, क्योंकि निरहं होते ही व्यक्ति को चिन्मय अवस्था की प्राप्ति हो जाती है या चिन्मय अवस्था प्राप्त होते ही व्यक्ति निरहं हो जाता है।

• क्षण से क्षण में चिन्मय होकर जीना

चिन्मय अवस्था में जीने का अर्थ है— क्षण से क्षण में चिन्मय होकर जीना। किन्तु योगान्तरायों में से अन्तिम बाधा ‘अनवस्थितत्व’ कभी भी उपस्थित हो सकती है। मन में उत्पन्न अव्यवस्थित गति तत्काल ‘अहम्’ को जन्म दे देती है। पर पुनः सावधान या सजग होते ही वह अनियन्त्रित गति तत्काल नियन्त्रित भी हो सकती है। सजगता के अनुपात में ही नियन्त्रण कारगर होता है।

• शान्ति का इच्छुक

जो शान्ति का इच्छुक है उसे बहस से प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए। बहस के मूल में तो अहंकार ही रहता है।

• सुन्दर वस्तु

कोई कितनी भी सुन्दर वस्तु हो यदि हम किसी को जबरदस्ती देना चाहेंगे तो बहस प्रारम्भ हो जायेगी। जो ऊपर तक ज्ञान से भरा है उसे कैसे कोई कुछ दे सकता है?

• दोनों अवस्थाओं का आकलन

अहंकारमुक्त अवस्था में कितनी शान्ति होती है और दूसरी तरफ अहंकार के सक्रिय होते ही कितनी अशान्ति होने लगती है, साधक को इन दोनों अवस्थाओं का आकलन करते रहना चाहिए।

• एक गहन सत्य

अहंकारी व्यक्ति सामाजिक या नैतिक दृष्टि से एक चरित्रवान् व्यक्ति हो सकता है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि हमारे समक्ष एक गहन सत्य का उद्घाटन करती है कि अहंकारी व्यक्ति जो चाहे कर दिखाए पर वह कभी भी भला नहीं हो सकता। भला होने के लिये व्यक्ति को अहंकार की कुटिल चालों को अच्छे से समझना आवश्यक है।

• बुद्धि से भगवान् की महिमा

हमें बुद्धि से भगवान् की महिमा को देखना चाहिए और आत्मा से या दिल से प्रार्थना व उपासना करनी चाहिए।

• अहंकार के वशीभूत होकर

अहंकार के वशीभूत होकर व्यक्ति स्वयं को भी और अन्यो को भी कितना दुःख देता रहता है यदि इसका ठीक से हिसाब लगाया जाए तो आँकड़े दिल दहलाने वाले होंगे।

• दृष्टि से ओझल हो जाये तो

जो चीज जैसी है उसको वैसा ही जानना ज्ञान है, उससे विपरीत अज्ञान। **आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः।** ‘जितने भी प्राकृत भोग या विषय हैं, वे आरम्भ में रमणीय लगते हैं, पर परिणाम में कष्ट देने वाले हो जाते हैं। यह तो हुआ ज्ञान। इसका एक हिस्सा तो स्मरण रहे कि ‘विषयों में बड़ा सुख है, ये बड़े रमणीय हैं’ और दूसरा हिस्सा ‘परिणाम में अत्यन्त कष्ट देने वाले हैं’— दृष्टि से ओझल हो जाये तो इसे कहते हैं अज्ञान।

• ज्ञान का महत्त्व

शरीर में जो स्थान प्राणों का है वही स्थान जीवन में ज्ञान का है।

• **दुःख पथ-प्रदर्शक**

सत्य के मार्ग में दुःख और आंसुओं का फर्श बिछा हुआ है।

• **चुप रहना ही अच्छा**

जो सत्य को सुनना नहीं चाहता उसके सामने चुप रहना ही अच्छा है।

• **तृप्ति का सच्चा साधन**

पूर्ण ज्ञानी पुरुष अपने ही द्वारा अपने को तृप्त करते रहते हैं। वे किसी भी वस्तु, व्यक्ति या विचार को अपनी तृप्ति का साधन या माध्यम नहीं बनाते।

• **ज्ञान से सहज उपलब्धि**

पूर्ण ज्ञान की स्थिति में सब कुछ सहज हो जाता है। जहाँ कोई प्रयास नहीं है पर सब कुछ व्यवस्थित मर्यादित है— वहाँ कितना सुख होगा; क्या इसकी कल्पना की जा सकती है? जब तक व्यक्ति ज्ञान में रहता है उतनी देर (चाहे वह काल अल्प है या ज्यादा) मन व इन्द्रियाँ उनके अपने विषयों से रोके नहीं जाते या रोकने नहीं पड़ते, बल्कि रुक जाते हैं और रुके रहते हैं। जब मन व इन्द्रियाँ विषयों की तरफ दौड़ने लगें तो समझ लेना चाहिये कि अब ज्ञान की स्थिति नहीं रही।

• **सामान्य व्यक्ति**

सामान्य व्यक्ति कभी ज्ञान में रहता है कभी अज्ञान में। ज्ञान से अज्ञान में जाता रहता है और अज्ञान से ज्ञान में। ज्ञान के प्रवाह में भी कभी-कभी एक क्षण के लिए अज्ञान आ जाता है और अज्ञान के प्रवाह में ज्ञान।

• **ज्ञान प्रकाश के समान है**

ज्ञान प्रकाश के समान है और अज्ञान अन्धकार के। ज्ञान में सुख-दुःख, पवित्र-अपवित्र, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, जड़ व चेतन का स्पष्ट बोध यथावत् बना रहता है। अज्ञान में सब कुछ विपर्यस्त रूप में दिखाई देने लगता है। जो 'संयम' सुख देने वाला है वह दुःख से भरा नजर आता है और 'असंयम' जिसमें निरा-निरा दुःख है वह सुखकर प्रतीत

होने लगता है। यह भौतिक शरीर जिससे हर क्षण मल बह रहा है वह अज्ञान के कारण ही तो अत्यन्त पवित्र व सुन्दर प्रतीत होता है। अज्ञान का ही तो यह खेल है जो विनाशी जड़ तत्त्व के साथ व्यक्ति इतनी घनिष्ठता से आबद्ध हो जाता है कि एक क्षण के लिये भी उससे वियुक्त नहीं होना चाहता। अज्ञान के कारण ही चेतन के प्रति उदासीनता बनी रहती है।

• **ज्ञानोदय होने पर**

काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार-ईर्ष्या-द्वेष की प्रसव भूमि अज्ञान ही है। सूर्योदय के साथ ही जैसे रात्रिकालीन अन्धकार समाप्त हो जाता है वैसे ही ज्ञानोदय होने पर मन का अंधेरा लुप्त हो जाता है।

• **ज्ञानालोक को पाकर**

हजारों साल से बन्द किसी अन्धेरी कोठरी में जैसे दीपक जलाते ही प्रकाश हो जाता है। वह अंधेरा जिसका इतने लम्बे समय से राज्य रहा है प्रकाश के साथ एक क्षण के लिये भी संघर्ष नहीं करता, उसी प्रकार अनन्त काल से अज्ञान में भटकता हुआ यह मन ज्ञानालोक को पाकर जगमगा उठता है।

• **जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि**

जैसा ज्ञान होता है उसके अनुरूप ही व्यक्ति के क्रिया-कलाप विस्तीर्ण होते हैं। यथा दर्शन तथा प्रदर्शन।

• **ज्ञान दीप न बुझे**

घर में चोर चोरी करने के लिये घुसते ही दीपक पर हाथ मारते हैं, उसी प्रकार काम-क्रोध-लोभादि चोर ज्ञान-दीपक को बुझाकर ही अपना काम प्रारम्भ करते हैं या कर सकते हैं उससे पहले नहीं।

• **तेज हवा के झोंकों से**

जैसे तेज हवा के झोंकों से दीपक बुझ जाता है वैसे ही विषयों की आंधी ज्ञान-दीपक को बुझा देती है। दीपक को सतत प्रज्वलित रखने के लिये आंधी

से बचाव करना ही पड़ता है, किसी ओट में दीपक को रखना होता है, उसी प्रकार ज्ञान-दीपक को अपने अन्तरतम की गहराई में जहाँ विषयों की आंधी पहुँच ही न सके, सुरक्षित रखा जाता है।

• दीपक बुझे तो तत्काल जला लो !

कदाचित् दीपक बुझ जाने पर जैसे पुनः उसको प्रज्वलित कर लिया जाता है उसी प्रकार ज्ञान-दीप के बुझने पर भी तुरन्त उसे जला लेना चाहिये।

• लौकिक जन सायंकाल अंधेरा होते ही अपने घर में बेशक कोई निर्धन से निर्धन भी हो दीपक जलाने का उपक्रम करते हैं— अन्धेरे में नहीं रहना चाहते। वहाँ यह एक बहुत बड़ा अशुभ माना जाता है। उसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वालों को भी अपने मन में प्रयत्नपूर्वक ज्ञान-दीप जलाकर ही रखना चाहिये। क्योंकि इस मन के अन्धकार में रहना तो उससे भी ज्यादा अशुभ है।

• सम्बन्ध ही बन्धन

अज्ञानपूर्ण या रागपूर्ण सम्बन्ध ही बन्धन है (सम् बन्ध-बन्धने)।

• वह ठीक काम नहीं है

कोई काम करने के बाद यदि पश्चात्ताप में बदल जाये अथवा उसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़े तो समझ लेना चाहिये कि वह ठीक काम नहीं है।

• पाप और महापाप

दूसरे को मारना पाप है और अपने को मारना महापाप। अपने को मारना यही है— अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करना।

• उससे कुछ नहीं बिगड़ने वाला

अन्दर यदि जय-जयकार है तो बाहर बेशक फिर धिक्कार होता रहे उससे कुछ नहीं बिगड़ने वाला है।

• संस्कृति

जीवन को आन्तरिक रूप से समृद्ध बनाना संस्कृति के अन्तर्गत आता है।

• सभ्य व्यक्ति

सभ्य व्यक्ति संस्कृत हो यह आवश्यक नहीं, पर संस्कृत व्यक्ति सभ्य होता ही है।

• एकान्त में तो हम शान्त होते हैं

एकान्त में तो हम शान्त होते हैं किन्तु कर्म से जुड़ते ही वह शान्ति भंग क्यों हो जाती है? क्योंकि अभी तक कर्म में भगवान् के साथ एकत्व स्थापित हो नहीं पाया है। कर्म में भी जब वह एकत्व स्थापित हो जायेगा, वही शान्ति बनी रहेगी जिसका कि एकान्त में अनुभव करते हैं तो यह हमारी जीवन्-मुक्त अवस्था होगी।

• अब न मरें !

‘इसी जन्म में हजारों बार मर लिये, वह क्या कम है— बस! अब और नहीं मरना चाहते।’ प्रभो वर दो! कि हमारी यह अमृतत्त्व की प्यास पूरी हो।

• ठोकर से सीख

अपने अतीत के अनुभवों से भविष्य को गौरवशाली बनाना है। भविष्य को क्या? यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान को गौरवशाली बनाना है।

• सच्चा सुख

डब्ल्यू० टी० स्टेस ने ‘दि रिलिजन एण्ड दि मॉडर्न माइण्ड’ पुस्तक में लिखा है— “ईसा तथा बुद्ध जैसे नैतिक प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुषों की बड़ी खोज यह थी कि स्वार्थपूर्ण जीवन सुखी जीवन नहीं होता और अपने को सुखी बनाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करें”।

• सत्य का स्वरूप

सत्य वह है जिससे व्यक्ति के अपने अन्दर भी और दूसरों के अन्दर भी सुख की वृद्धि हो— स्पष्ट है जिससे दुःख की वृद्धि हो वह असत्य है।

• सत्य वह है जो कानून व समाज से अलग चाल न चले अर्थात् जो कानून

और समाज के विरोध में जा रहा है वह असत्य है।

- सत्य वह है जो वेदज्ञ गुरुओं के निर्देशों के अनुकूल हो, जो शास्त्रीयमर्यादा के अनुकूल हो, ध्यान से प्राप्त प्रज्ञा के अनुकूल हो।
- सत्य का मार्ग प्रथम स्तर पर प्रश्नों और उत्तरों का मार्ग है। द्वितीय स्तर पर शङ्का और समाधान, तृतीय स्तर पर जिज्ञासा व तृप्ति।
- सत्य धरती पर भगवान् का अवतरण है।

• अपिपास हो जाना है

हमारे अस्तित्व में जो भी प्रकाश हो रहा है, चाहे वह संकल्प या इच्छाओं के रूप में हो या फिर मानसिक प्रयत्न के रूप में, किसी विषय के ज्ञान के रूप में या उसके ग्रहण या त्याग के रूप में, सुख-दुःख के अनुभव के रूप में हो या विषाद अथवा तनाव के रूप में, शान्ति-सन्तोष-प्रेम-कृतज्ञता-श्रद्धा-स्नेह-विश्वास-करुणा-दया-वीरता आदि उत्कृष्ट भावों के रूप में अथवा घृणा-काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहङ्कार-ईर्ष्या-असूया-मत्सर-राग-द्वेष-भय आदि-निकृष्ट भावों के रूप में, प्राचीन शब्दावली में कहें तो अन्नमय प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय रूप पञ्च कोषों के रूप में हो या जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति या तुर्य अवस्थाओं के रूप में, चित्त में उभरने वाली क्लिष्ट-अक्लिष्ट वृत्तियों के रूप में या उनके संस्कारों के रूप में जो भी प्रकाशित हो रहा है उसके मूल में, उस सब के आधार में एक प्रकाशक तत्त्व है जो चिन्मय स्वरूप है, दुःख से सर्वथा मुक्त है, एकरस है, अपरिवर्तनशील व अविनाशी है, समस्त प्रकाश्य-दृश्य या ज्ञेय से निरपेक्ष होते हुये भी करुणा या प्रेम से ओतप्रोत है, ऐसे उस सब कुछ के प्रकाशक, सबके द्रष्टा, सबके ज्ञाता के साथ एकत्व में रहने में ही जीवन की धन्यता है, परम सौभाग्य है, अमृतप्राप्ति है, पूर्ण तृप्ति है, पूर्ण आनन्द है, जीवन की सार्थकता है, अपिपास हो जाना है।

• सारी प्रकृति हमारा ध्यान दिला रही

सारी प्रकृति हमारा ध्यान दिला रही है। शास्त्र, गुरुजन, हितैषी मित्रगण तो ध्यान दिला ही रहे हैं पर जिन्हें हम अपने विरोध में खड़ा देखते हैं, जो हमारे

प्रति सद्भाव नहीं रखते, वे सब भी हमारा ध्यानाकर्षित कर रहे हैं बल्कि यह कहना चाहिए कि स्वखलन-पतन-भूल-भ्रान्ति-आँसू-कष्ट-बाधा-पीड़ा-क्लेश-गलतियाँ— ये सब भी आगे बढ़ने के लिए, कल से आज को अच्छा बनाने के लिए ध्यान दिला रहे हैं। यदि हम अपनी अन्तःस्थिति ऐसी बना लेते हैं, उपर्युक्त तथ्य को सहज रूप से स्वीकार कर लेते हैं तो आनन्द ही आनन्द है।

• अभिमान क्या ?

पर को पराजित करने की कामना ही अभिमान है या अहंकार है।

• अपने लिये पूर्ण बनना

हम दूसरों के लिए तो पूर्ण नहीं बन सकते किन्तु अपने लिये तो बन ही सकते हैं। अपने लिये पूर्ण बनना भी कोई सामान्य कार्य नहीं है। अपने लिये पूर्ण बनने का अर्थ है— अपने आप में पूर्ण सन्तुष्ट होना।

• अहङ्कार क्यों ?

मनुष्य के निर्माण में कितनी सारी भौतिक-अभौतिक शक्तियों का हाथ है, यदि उस सबका हिसाब लगाया जाए तो उसका 'अपना' कहा जाने योग्य क्या शेष बचेगा ? उन सब के आशीर्वाद से ही वह अपने आप को आज इस रूप में अनुभव कर पा रहा है, समस्त सृष्टि सारे जड़ व चेतन देवता, सम्पूर्ण अस्तित्व उसे भौतिक रूप से जीवित रहने में तो मदद कर ही रहा है किन्तु उसकी बुद्धि के परिपाक के लिये भी दैवी और मानुषी शक्तियों का आकलन किया जाए तो पता चलेगा कि क्यों यह मानव व्यर्थ ही अहंकार कर रहा है या करता रहता है।

• सम्मान विष और अपमान अमृत

ब्रह्मानुभूति के मार्ग पर चलने वाले श्रेष्ठ जनों के लिये प्राचीन शास्त्रों में एक स्वर्णिम उपदेश मिलता है— ज्ञानवान् पुरुष को सम्मान से विष के तुल्य डरना चाहिये तथा अपमान की अमृत के समान आकाँक्षा करनी चाहिये। अब देखना यह है कि ऐसा क्या है जो कि ज्ञानी को सम्मान से दूर रहने के लिये

तथा अपमान की इच्छा करने के लिये कहा गया? अपमान की इच्छा करने का सीधा सा अर्थ है— सम्मान की इच्छा न करना और सम्मान की इच्छा करने का अर्थ है— अपमान से बचने की चेष्टा करना। बात ऐसी है कि ज्ञानी के पास जो सर्वोत्तम धन होता है, उसका नाम है— ‘सत्य’। सम्मान पाने या अपमान से बचने की इच्छा में व्यक्ति निश्चितरूप से ‘जो वह है’ उससे भिन्न अपने आपको दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहेगा। अन्यथा प्रदर्शन का ही दूसरा नाम है मिथ्याचार, दम्भ, पाखण्ड या ढोंग। स्वयं सम्मान प्राप्त करने के लिये जैसे व्यक्ति अपना बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करता है उसी प्रकार दूसरों से सम्मान प्राप्त करने के लिये उनकी भी मिथ्या प्रशंसा करने लगता है। इस प्रकार सम्मान प्राप्ति या अपमान से बचने की भूख एक ऐसी बला है कि व्यक्ति को सत्यनिष्ठ नहीं रहने देती। व्यक्ति दिनोंदिन अधिकाधिक असत्य की तरफ बढ़ता चला जाता है। ऐसे में कभी भी उसका मन शान्त व स्थिर नहीं हो सकता। दूसरों से प्रशंसा पाने की अपेक्षा में ही अपना समय गुजारने लगता है। जहाँ ज्ञानी को दूसरों से अनपेक्ष (निरपेक्ष) रहने के लिए कहा गया है, प्रशंसा का भूखा यह व्यक्ति अपनी भूख मिटाने के लिये दूसरों की तरफ ताकता रहता है। जो प्रशंसक हैं उनसे राग और जो निन्दक होते हैं उनसे द्वेष रूप को पालता रहता है। इस प्रकार सत्य से अलग होते ही व्यक्ति एक अन्तहीन पतन की राह पर चल निकलता है। राग-द्वेष में डूबे हुए मन में कभी भी यह सामर्थ्य नहीं आता कि वह शान्त ब्रह्म को अनुभव कर सके। गहराई में प्रवेश करने के लिये व्यक्ति को बाह्य नाम-रूप के मोह को त्यागना ही होता है। नाम-रूप का मोह ही तो राग-द्वेष है, इस के सिवाय और राग-द्वेष है ही क्या?

• सबका आदिमूल परमेश्वर

किसी एक प्रेरणादायक पुस्तक को पढ़कर अध्येता भाव विभोर हो गया, उसने पुस्तक के लेखक को धन्यवाद देते हुए कहा कि ऐसी पुस्तक मैंने अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखी, आपने यह पुस्तक लिखकर हम जैसे

कितने ही लोगों का बड़ा ही हित किया है। लेखक ने उस व्यक्ति से जो कहा वह ध्यान देने योग्य है। लेखक ने कहा— ज्ञान का स्रोत तो स्वयं भगवान् है। लेखक या वक्ता तो जल के प्रवाहित होने के लिये टूँठी (नल) की तरह एक माध्यम मात्र होता है। जल तो टंकी में भरा हुआ है, वहाँ से आ रहा है। टंकी का भी मूल खोजा जाये तो कुवाँ है। कुवें का मूल एक अर्थ में बादल को कहा जा सकता है और फिर सबके अन्त में बादलों का भी जो मूल है वह है जल का अथाह भण्डार ‘सागर’। सागर में अथवा जहाँ भी जल है वह जल ऑक्सीजन व हाइड्रोजन के परमाणुओं के मेल से बना है किन्तु अन्ततः तो सब द्रव्य कार्यरूप या दृश्यरूप में भगवान् के ज्ञान व शक्ति के कारण ही अस्तित्व में आते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के पास भी ज्ञान माता-पिता, गुरु-आचार्य, शास्त्र, परम्परा, समाज, अन्तःप्रेरणा या आत्मा में परमात्मा की प्रेरणा इत्यादि से आता रहता है। ऐसे में लेखक ने यदि उस ज्ञान का जनक स्वयं को मान लिया तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल होगी। ज्ञान की आँखें तो इसी सत्य का दर्शन करा रही हैं कि ज्ञान पर किसी व्यक्ति का एकाधिकार नहीं है। ज्ञान तो सूर्य की धूप और हवाओं और वर्षा की बूँदों की तरह बरस रहा है, मनुष्य केवल अपने पात्र में उसे ग्रहण करता है या हवाओं को और धूप को आने के लिए मार्ग दे देता है। (सर्वं ह्येतद् ब्रह्म/सर्वम् ओंकार एव)।

• ज्ञान में पूरी डुबकी

व्यवहार में दो बातें देखने को मिलती हैं— एक तरफ ज्ञान से व्यक्ति के आचरण में परिवर्तन घटित हो जाता है, ज्ञान होने पर व्यक्ति के दोष छूट जाते हैं, व्यक्ति सर्वथा निर्दोष हो जाता है, ज्ञान से व्यक्ति का पूर्ण रूप से स्वभाव बदल कर एक नया स्वभाव आ जाता है, ज्ञान से व्यक्ति की आदतें बदल जाती हैं। दूसरी तरफ यह भी देखने को मिलता है कि व्यक्ति बहुत सारी बातें जानता है, बाल्यकाल से ही सुनते-सुनते उसके पास एक अच्छा-खासा भण्डार इकट्ठा हो जाता है किन्तु फिर भी उसके आचरण में वे बातें नहीं दिखाई देतीं, जिन्हें वह समय-समय पर दूसरों को भी बताता है। इस समस्या का उत्तर

निरुक्त (१४.३४) में बहुत अच्छे से दिया है। वहाँ कहा है— इस आत्मज्ञान रूप नदी का जल अन्य नदियों के जलों से भिन्न प्रकार का है। इस आत्मज्ञान रूप जल में शिर सहित डूबकर आमूलचूल निमग्न होकर मनुष्य तत्क्षण पापों को छोड़ देता है ऐसे जैसे साँप पुरानी केंचुली को छोड़ देता है। जिस किसी विषय में ज्ञान होने पर भी व्यक्ति के आचरण में परिवर्तन होता हुआ दिखाई नहीं देता तो समझना होगा कि उस व्यक्ति ने ज्ञान में सिर तक डुबकी नहीं लगाई है, मात्र पैर कमर या धड़ को भिगो लिया है। मन्त्र का भाव यह है कि थोड़े ज्ञान जल में नहाने से व्यक्ति पापमुक्त नहीं होता, उसे पूरी डुबकी लगानी चाहिए, फिर देखिए क्या घटित होता है। (इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्थाः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः । सर्पो जीर्णमिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य ॥)।

• जीवन का सोम याग

सोम-सवन और सोम-पान की चर्चा से सम्पूर्ण ऋग्वेद भरा पड़ा है। मरुद्गण, विश्वे देवाः, अश्विनौ आदि सब देवता सोम का सवन करते हैं तथा इन्द्र निचोड़े हुए, तैय्यार सोम का पान करता है, साथ में सोम सवन करने वाली शक्तियों को भी उनका अंश मिलता है। जीवन एक यज्ञ है। इस यज्ञ के निष्पादन में बहुत सारी शक्तियाँ जुटी हुई हैं। हमारा शरीर, हमारा मन व बुद्धि हमारे प्राण व इन्द्रियाँ, हृद्गत भाव-भावनाएँ, इस यज्ञ के सम्पादन में सब अपना-अपना योगदान दे रहे हैं। यज्ञ में यजमान-ऋत्विग् घृतादि साधन-सामग्री, अग्नि, वेदी, मन्त्र (यज्ञ के महत्त्व-बोधक, विधिबोधक व फलबोधक गहन विचार) ये सब होते हैं यज्ञ के महत्त्वपूर्ण घटक। इन सबकी अपनी-अपनी भूमिका होती है।

जीवन भी यदि यज्ञ की तरह ही चलता है तो आनन्द ही आनन्द है। यज्ञ का अर्थ 'कर्म' ही तो होता है। मनुष्य के जीवन में भी व्यापक रूप से कर्म का यह दृश्य देखने को मिलता है। हाँ! कर्म के साथ बुद्धि में कर्म की महिमा का चित्र, कर्म का उद्देश्य, कर्म की विधि और कर्म का फल तो स्पष्ट होना ही चाहिए। कर्म ऐसी विधि से हो कि उनका परिणाम तो आनन्द हो ही, करते हुए भी वह आनन्द भग्न न हो। मार्ग का आनन्द और मंजिल का आनन्द एक ही

हो जायें। दूसरे शब्दों में कहें तो हर क्षण मार्ग भी वही हो और मंजिल भी वही तो समझना चाहिये कि जीवन सफल हो गया। जीवन के इस विशिष्ट रूप को प्राचीन भाषा में यज्ञ शब्द से कहा गया है और अर्वाचीन शब्दों में सृजन (Creative-happiness) शब्द से। सृजन आत्मा का ऐसा गीत है जिसमें बाह्य उपलब्धि-अनुपलब्धि, उपयोगिता-अनुपयोगिता का कुछ लेना देना नहीं है। यह सृजन अपने आप में ऐसा कर्म है कि कर्म का सम्पूर्ण फल कर्म करते हुए ही कर्ता को मिल जाता है। सृजन के रूप अनन्त हैं। कोई एक तरीके से तो दूसरा दूसरे तरीके से सृजन को सिद्ध कर सकता है। सृजन के लिए अनुकरण और स्पर्द्धा और बाह्य उपयोगिता को प्रमुखता नहीं देनी होती। वस्तुतः सृजन में बाह्य उपयोगिता हो भी सकती है और नहीं भी।

• रसो वै सः

छान्दोग्य उपनिषद् के परम प्रज्ञावान् ऋषि ने कितना सुन्दर कहा— सभी भूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल, जलों का रस ओषधियाँ, ओषधियों का रस पुरुष, पुरुष का रस वाणी (वाणी से मनुष्य के ज्ञान की पहचान होती है), वाणी का रस ऋक् ('स्तुति', वाणी का सार स्तुति), ऋक् का रस साम ('उपासना', स्तुति का सार उपासना) साम का रस उद्गीथ ('ओङ्कार', उपासना का सार परमात्मा में तल्लीनता)। यह 'उद्गीथ' रसों में परम रस है। ओङ्कार पदवाच्य ब्रह्म हमारी आत्मा का उद्गान (उत्कृष्ट गान, उत्कृष्ट संगीत) बन जाये। संसार में हम देखते हैं कि मधुर-अम्लादि रस तृप्ति का हेतु होता है। रस को पाकर व्यक्ति सुखी हो जाता है। लोक में असत् अर्थात् पदार्थ के अभाव को आनन्द का हेतु नहीं देखा गया। जिनके पास रस के निमित्तभूत साधन होते हैं वे ही सुखी होते हैं। किन्तु बाह्य साधन से हीन निरीह एषणामुक्त ब्राह्मण (ब्रह्म के जानने वाले) बाह्यरस के लाभ के समान ही सानन्द देखे जाते हैं। निश्चय ही ब्रह्म ही उनका रस होता है। उस सच्चे रस को पाकर वे सदा आनन्द में रहते हैं (रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति) श्रवण-मनन-निदिध्यासन रूप साधनों से उस रस को पाने का उपाय किया जा

सकता है। 'मुझे तो वही आत्मा का रस चाहिए' ऐसी गहरी अभीप्सा ही हमें उस दिशा में आगे बढ़ा सकती है। प्रायः मनुष्य श्रवण-मनन तक रहता है, इससे आगे बढ़ता ही नहीं।

• मनुष्य का ऊर्ध्वारोहण

यदि हम मनुष्य के जीवन का अध्ययन करें तो यह पाते हैं कि वह सामान्यतः शरीर-सम्बन्धी स्थूल सुख-दुःखों से और स्थूल ऐन्द्रियिक संवेदनाओं या प्राणिक संवेदनाओं से परिचित है, जो थोड़ा और आगे बढ़ते हैं वे देश के कानून से सम्बद्ध विधि-निषेध को जानने और उसके अनुसार जीने का प्रयास करते हैं, जो इससे भी थोड़ा और आगे बढ़ते हैं वे सामाजिक मर्यादाओं (समाज के विधि-निषेध) या परम्पराओं को समझने और तदनुसार जीने की कोशिश करते हैं, जिनको वहाँ भी पूर्ण तृप्ति नहीं मिलती वे शास्त्र, गुरु और उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुशासन (विधि-निषेध) को जानना और उसके अनुसार जीना चाहते हैं। इसमें भी जिन्हें पूर्ण सन्तोष नहीं मिलता अर्थात् शास्त्र व गुरुओं के द्वारा उपदिष्ट धर्म की या उनके द्वारा उपदिष्ट विधान (विधि-निषेध) की अनुपालना करने में भी जिन्हें परतन्त्रता या बाध्यता प्रतीत होती है वे ही, केवल वे ही अपनी आत्मा (परमात्मा) या भगवान् की खोज करने में प्रवृत्त होते हैं। जो अपनी इस खोज में सफल हो जाते हैं वे बाध्यता रहित पूर्ण स्वाधीन मुक्त, सहज व अमर जीवन जीते हैं। ये लोग जो कुछ बोलते हैं, जो कुछ आचरण करते हैं, जो कुछ लिखते हैं, वह अन्यों के लिये शास्त्र बन जाता है, एक सुनिश्चित पथ बन जाता है।

• चेतना का ऊर्ध्वारोहण

सामान्य मनुष्य की पहुँच शरीर व स्थूल ऐन्द्रियिक अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं तक होती है। इतना पूरा होने पर या यह कहें इसे पूरा करने के लिये व्यक्ति सम्पत्तिशाली बनना चाहता है तथा मनुष्यों के बीच कुछ ऐसा करना चाहता है जिससे उसे सम्मान मिले। इससे आगे सत्ता प्राप्त करना चाहता है।

सामान्य मनुष्य के प्रयासों की दौड़ तो बस यहीं तक है। इन्हें हम पार्थिव चेतना में जीने वाले भूलोक और भुवः लोकवासी कह सकते हैं। प्राणिक चेतना जब शरीर के साथ जुड़ती है तो इन्द्रिय सुखों में तृप्ति देखती है और जब वह मन के साथ जुड़ जाती है तो सत्ता व सम्मान में सुख ढूँढ़ती है। इस चेतना में जीने वाला व्यक्ति दूसरों की सहायता इसलिये करता है कि उससे उसे सम्मान मिले। दान देना, सामाजिक सेवा करना जैसे पुण्य कार्य भी उसके द्वारा सम्मान को केन्द्र में रखकर किये जाते हैं। इसी प्रकार इस चेतना वाला व्यक्ति सत्ता प्राप्त करके दूसरों पर शासन करना चाहता है। चेतना के इस ऊर्ध्वारोहण में जब व्यक्ति विशुद्ध मनोमयी चेतना में पहुँचता है तो उसे ललित कला, साहित्य-संगीत, चित्रकारिता, लेखन, विचार आदि के द्वारा तृप्ति मिलती है। सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान और विषयों का सुख उसे इस सुख के सामने फीका लगने लगता है। इस चेतना की उच्चभूमि में विविध प्रकार के ज्ञान की और भावनाओं की प्रधानता होती है किन्तु अभी उसे इस सृष्टि में वैविध्य (नानात्व) ही दिखाई देता है। वह देखता है सभी इकाइयाँ अलग-अलग अपने अस्तित्व को बनाये हुए हैं और उपकार्य-उपकारक भाव से एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। इस मनोमयी चेतना से विज्ञानमयी चेतना में पहुँचने पर उसे इस सम्पूर्ण अस्तित्व के मूल में एकत्व दिखाई देने लगता है। उसके सारे संशय, भ्रम-भ्रान्ति, भय समाप्त हो जाते हैं। यह विज्ञानमयी चेतना उसके समक्ष एक ओर सत्, चित्, आनन्द रूप ऊर्ध्व त्रिलोकी (उत्तरार्द्ध) का रहस्य साक्षात् प्रकट कर देती है तो दूसरी ओर इस चेतना के द्वारा शरीर, प्राण और मन (भूः भुवः स्वः रूप अधःत्रिलोकी अपरार्द्ध) का सहज नियन्त्रण हो जाता है। 'शरीर, प्राण, मन' ये तीनों घटक अपनी स्वतन्त्र चाल को छोड़कर विज्ञानमयी चेतना के अनुशासन में अपना-अपना कार्य करने लगते हैं।

४०४०४०४

६. दुःख

- समस्त दुःखों के दो प्रकार के कारण होते हैं— एक साधारण दूसरा विशेष। सभी दुःखों का विशेष कारण तो जो भी अलग-अलग हो किन्तु साधारण कारण तो सब का एक ही होता है— ‘जो भी परिवर्तनशील है, अनित्य है, क्षणिक है, हमारे मन व इन्द्रियों में व्यामोह पैदा कर हमें अपनी तरफ खींचने वाला है, हमारे अहङ्कार के लिये सुखद है, उसका राग, उसकी आसक्ति’। किसी साधक को यह कारण यदि समझ में आ जाता है तो इसके प्रति सचेत होकर दुःखमात्र से बचा जा सकता है। सभी दुःखों के विशेष कारण क्षेत्रीय होते हैं जैसे किसी को व्यापार में घाटा हो गया, किसी के प्रियजन का वियोग हो गया, किसी की दुर्घटना हो गई, किसी को सम्मान कम मिला, किसी का किसी ने अपमान कर दिया, किसी ने किसी के साथ अन्याय कर दिया, किसी को चुनाव में टिकट नहीं मिली, कोई किसी चुनाव में असफल हो गया इत्यादि जो कुछ भी हों किन्तु साधारण कारण तो सार्वभौम होता है। सार्वभौम कारण ऐसा है जो सब क्षेत्रीय कारणों में अनुस्यूत रहता है, सब के मूल में रहता है।
- हर मनुष्य के पास कर्तव्य-अकर्तव्य या ठीक गलत को लेकर ढेर सारी सूचनाओं का एक अच्छा खासा संग्रह होता है, पर फिर भी यह बुद्धिमान् मनुष्य उनका उपयोग तो बहुत अल्प मात्रा में ही ले पाता है। ऐसा क्यों? इसका कारण है आत्मा को परिवर्तनशील त्रिगुण के साथ संयोग। त्रिगुणात्मिका बुद्धि आलम्बनों के प्रभाव से भी और स्वाभाविक रूप से स्वतः भी निरन्तर बदलती रहती है। यद्यपि बुद्धि एक सुनिश्चित पथ पर चल तो सकती है पर उसके लिये सतत साधना अपेक्षित है। जब तक व्यक्ति के द्वारा साधक बनकर जीवन जीने का निर्णय नहीं ले लिया जाता तब तक तो बुद्धि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त दशा में ही चलती रहती है। बुद्धि में एकाग्रता धर्म को उत्पन्न करने के लिये व्यक्ति को भगीरथ प्रयत्न करना होता है भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु वह भगीरथ-प्रयत्न साध्य कार्य है, सामान्य-प्रयत्न से वह संभव नहीं

है। घोर चञ्चल व मूढ़ वृत्तियों में जीता हुआ व्यक्ति जब तक दुःखों की चक्की में पिस नहीं जाता या यों कहें विषयों से अतृप्ति की आग में जल-भुन नहीं जाता तब तक एकाग्रता की साधना करने के लिये उसका मन पूरा तैय्यार नहीं होता।

एकाग्रता व्यक्ति के लिये कितनी भी शान्तिदायक हो, चञ्चलता भरे सुखों का राग एकाग्रता के अद्भुत सुखों को नीरसता में बदलता रहता है। चञ्चलता जन्य सुखों के मोह या मूर्छा को सदुपदेश या सच्छास्त्र कभी भी नहीं तोड़ सकते, उसके लिये तो निरन्तर दुःखों का हथौड़ा बरसना चाहिये। राग में फंसे हुए चित्त को उस भयंकर दलदल से बाहर निकालने के लिये दुःख की चोटों के सिवाय कुछ भी उपाय नहीं दिखाई देता। साधकों को इस अनुपम उपहार की पूजा करनी चाहिये, जो कि विधाता ने सभी उपायों के निष्फल व निष्क्रिय होने पर यह अन्तिम उपाय ‘ईजाद’ किया। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इससे भी ठीक नहीं हो पाते, उन पर जब दुःखों के हथौड़े पड़ते हैं तो कम या अधिक रो लेते हैं और फिर अपनी उसी पूर्व दिनचर्या या पहले वाली जीवन शैली में मस्त हो जाते हैं, अपने दुःखों के कारण की खोज नहीं करते कि क्यों ये दुःख मुझे बार-बार प्राप्त हो रहे हैं? उनके लिये है यह अन्तहीन दुःख शृङ्खला। सुख लेने की गहरी चाह या गहरी प्यास व्यक्ति को अपार दुःख पीड़ा झेलने के लिये विवश करती रहती है। सुख की वह प्यास दुःख से हटने के लिये व्यक्ति को तैय्यार नहीं होने देती।

• भगवान् के राज्य में प्रवेश

यह सत्य है कि दुःखों की सकरी घाटियों में से होकर ही भगवान् के राज्य में प्रवेश पाया जाता है।

• अद्भुत उपहार

दुःख हमारे प्रियतम की ओर से हमारे लिये भेजा गया अद्भुत उपहार है, जो कि दुःख मात्र से ऊपर उठने के लिए हमें दीवाना बना देता है।

• दुःख हमारा मार्गदर्शक

दुःख, पीड़ा, बाधा, असफलता, प्रतिकूलताएँ न होतीं तो कौन दुःखमुक्त अवस्था की चाह करता ?

• असंवेदनशील मन

दुःख पर दुःख आते चले जा रहे हैं किन्तु फिर भी किसी व्यक्ति में दुःख-मुक्ति की प्यास नहीं जग पा रही है तो समझना चाहिए कि मन असंवेदनशील है।

• दुःख-मुक्ति का उपाय 'दुःख का प्रभाव'

जो किसी दुःख से दुःखी होकर भी उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय नहीं खोजता वह दुःख का भोगी मात्र है, दुःख का प्रभाव अभी उसके मन पर नहीं हो रहा। दुःख का प्रभाव होते ही व्यक्ति दुःख-मुक्ति का उपाय या मार्ग ढूँढ़ता है। यह दुःख का प्रभाव ही है, जो जीवन के सौभाग्य के द्वार उद्घाटित कर देता है। आनन्दमय जीवन की लालसा ही तो जीवन का सौभाग्य द्वार है।

• सुख का नशा

मनुष्य प्रायः सुख का भोगी है और सुख का प्रभाव भी उसके मन पर उतना ही गहरा है, इसीलिए बार-बार सुख लेने के लिए सुख साधनों की खोज करता है। सुख का प्रभाव साधक को सुख लेने की चाह से मुक्त नहीं होने देता जिससे कि उसे मुक्त होना है। क्योंकि सुख लेने की चाह से मुक्त हुए बिना कैसे कोई दुःखातीत जीवन की कल्पना कर सकता है ?

• दुःख की दिल पर चोट

सुख के प्रभाव की तरह ही दुःख का प्रभाव भी यदि व्यक्ति के दिल को छू जाये तो अवश्य ही वह दुःख के कारणों की खोज करेगा। दुःख के कारणों की खोज उसके समक्ष इस सत्य का उद्घाटन करेगी कि संयोगजन्य सुखों की चाह ही वह मूल कारण है जो आगे की सम्पूर्ण दुःख-शृंखला को जन्म देती है।

• चिन्मय स्वरूप में स्थिति

'दुःख का प्रभाव' व्यक्ति के जड़ के साथ माने हुए सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देता है क्योंकि स्वरूपतः तो शरीर में रहते हुए चेतन का जड़ से विच्छेद कभी होगा नहीं। जड़ से माने हुए काल्पनिक सम्बन्धों का विच्छेद होते ही व्यक्ति अपने चिन्मय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

• हे दुःख! तुझे प्रणाम

दुःख की जीवन के परम सौभाग्यों में क्यों न गणना की जाये जो कि हम में हमारे इष्ट से मिलने की प्यास जगा देता है।

• दुःख वरदान है

दुःख जीवन के लिए अभिशाप नहीं है, यह तो एक ऐसा वरदान है जो कि परम सौभाग्य के अवरुद्ध द्वारों को हमारे लिए उद्घाटित कर रहा है।

• दुःख मुक्ति का उपाय संवेदनशील मन

दुःख की चोटों का प्रभाव हमारे मन पर तब तक नहीं पड़ सकता जब तक हमारा मन अत्यन्त संवेदनशील न हो।

• अनृतात् सत्यमुपैमि

दुःख-पीड़ा, अज्ञान, घोर-नरक और अन्धतमस में से होकर ही सत्य, ज्ञान और शान्ति के घर का रास्ता जाता है। इसका कोई विकल्प नहीं है। सत्य अनृत से ढका रहता है।

• दुःख ही दुःखसागर से पार उतारेगा

जो दुःख का पूरी गहराई तक अनुभव करते हैं वे ही यह देख पाते हैं—दुःख बहुत ही पीड़ादायक है, इससे किसी तरह पार जाना चाहिए।

• ज्ञानपूर्ण मूल्यांकन

बड़े से बड़े मूल्य पर भी यदि कोई दुःख से पार जाने के लिए तैयार हो जाता है तो वह मूल्य प्रज्ञावान् मनुष्य की दृष्टि में अल्प ही होगा।

• बहुत दुःखदायक

आँख के गोलक के समान संवेदनशील मन के लिए दुःख की थोड़ी सी मात्रा भी बहुत दुःखदायक होती है।

• दुःख का कारण आसक्ति

किसी भी वस्तु, व्यक्ति व विचार में आसक्ति की परिसमाप्ति अन्ततः दुःख में ही होती है, अतः हे साधक! किसी तरह इस आसक्ति को तू काट।

• 'उसे' भूलने का परिणाम

ईश्वर सब लोगों में है लेकिन सब लोग ईश्वर में नहीं हैं, इसीलिए वे दुःखी हैं।

• वर्तमान क्षण के प्रति सजगता

कोई साधक अपनी साधना की जब दिनों में गणना (Count) करता रहता है तो दुःख से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति यदि वर्तमान क्षण के प्रति सजग होकर चलता रहे तो साधना भी उत्तम ही होगी— साथ में भूतकाल की सुखद व दुःखद स्मृतियाँ भी तंग न करेंगी।

• दिव्य संकल्प का विषय 'मैं आज क्या हूँ'

कल मैं क्या था— यह सर्वथा अविचार्य है, कल क्या होऊँगा यह भी वैसा ही है। आज क्या हूँ— बल्कि अभी क्या हूँ— यही हमारे दिव्य संकल्प का विषय होना चाहिये। यही है इस क्षण में जीना। निश्चय ही जीवन को सर्वथा दुःख से मुक्त कर देने वाली है यह साधना। मनुष्य बीते कल का विचार कर-करके प्रायः दुःखी होता रहता है या फिर भविष्य की झूठी कल्पनाओं में अपने को भरमाता रहता है।

• प्रज्वलित ज्ञानदीप की महिमा

जब तक या जितनी देर तक ज्ञान रहता है दुःख नहीं होता, जिस क्षण यह ज्ञान-दीप बुझता है उसी क्षण दुःख का प्रवेश हो जाता है। सतत दुःखमुक्ति

चाहिये तो सतत ज्ञानदीप भी प्रज्वलित रखना होगा। और कोई रास्ता नहीं। (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय)।

• देखो! माया की महिमा

इतने दुःख, इतने शोक, इतनी विपत्तियों को झेलते हैं तो भी चैतन्य (जागरूक, समझदार) नहीं होते। देखो! माया (राग) की महिमा।

• नहि ज्ञानात् परं सुखम्

न हि ज्ञानात् परं सुखम्। ज्ञान से बढ़कर सुख और अज्ञान से बढ़कर दुःख कुछ भी नहीं हो सकता।

• धन्यवाद अकारण नहीं

दुःख, कष्ट, बाधा, पीड़ा, नरक, अशुभ, अमङ्गल आदि को मैं क्यों धन्यवाद न करूँ, क्यों इन सब के लिये कृतज्ञता प्रकट न करूँ? जबकि इन सब ने मुझ पर इतनी कृपा की है कि दूर-दूर तक भी कहीं इनके दर्शन नहीं हो रहे।

• भगवान् का हथोड़ा

मनुष्य जब सदुपदेशों, सत्प्रेरणाओं से सीधा नहीं होता, अपनी कुटिल चालों का कथमपि त्याग नहीं करता, अपने जीवन को कुमार्ग से रोक नहीं पाता तो भगवान् दुःख का हथोड़ा लेकर पीट-पीट कर सीधा कर देते हैं।

• शुद्ध जीवन जीते हुए यदि साधक का कोई अपमान करता है या उसे कोई कम सम्मान देता है तो यह उसके लिये एक बहुत बड़े सौभाग्य की बात होती है। साधक के लिये यह अवसर अमृतपान जैसा होता है। किन्तु अशोभनीय कर्मों से, किसी गलत आचरण या व्यवहार से साधक को जब नीचा देखना होता है तो यह अपमान उसके लिये साक्षात् नरक का ही रूप होता है, साक्षात् विषपान करने जैसा होता है अतः इस नरक से तो बचना ही होगा।

• अस्तित्व में नरक, दण्ड, दुःख, कष्ट, पीड़ा या वेदना की व्यवस्था का यही प्रयोजन समझ में आता है कि व्यक्ति इस आग की तपन का अनुभव करे और इससे शिक्षा लेकर ज्ञानी बन जाए, कारण की खोज करके सदा-सदा के लिये इससे मुक्त हो जाए।

- व्यक्ति की बेहोशी तोड़ने के लिये बहुत से साधन हैं— कानून व्यवस्था, समाज, शास्त्र, गुरुजन, नरक इत्यादि। अब यह व्यक्ति की इच्छा पर है कि वह किस साधन से जाग उठता है। जब किसी भी साधन से नहीं जगता तो अन्त में नरक तो है ही। इसके बाद तो कोई साधन बचता नहीं। इस साधन से भी कोई जाग जाए तो यह बहुत बड़े सौभाग्य की बात होगी। जो इससे भी नहीं जाग रहा वह अनन्त काल तक पड़ा रहे नरक में, उसको कौन रोक सकता है चुनाव में सबकी अपनी स्वतन्त्रता है।
- दुःख तो आवे की उस आग की तरह हैं जो कच्चे घड़े को पक्का बना देती है जिसमें शीतल जल रखा जाता है जो हजारों लोगों की प्यास बुझने में सक्षम होता है। फिर दुःख को क्यों कोसना, उसे तो शत-शत धन्यवाद देना चाहिए।
- क्या आवे की आग घड़े का किसी प्रकार का अनुपकार करना चाहती है? नहीं, कदापि नहीं। दुःख का स्वभाव भी तो ठीक ऐसा ही है।
- दुःख रूपी शास्ता इतना सहज उपलब्ध है कि इसके लिये हमें कहीं इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता! केवल उस ओर ध्यान देना होता है।
- यदि किसी को दुःखमात्र से ऊपर उठना है तो सुखमात्र की चाह का त्याग करना होगा। एक सुख चाहिए तो एक दुःख के लिये भी तैय्यार रहना होगा। इसी प्रकार एक सौ सुख तो एक सौ दुःख। एक भी सुख नहीं तो निश्चित ही एक भी दुःख नहीं।
- किसी वस्तु-व्यक्ति-विचार या सम्बन्ध की प्राप्ति या संयोग में किसी ने सुख ले लिया तो वियोग में दुःख भी सुनिश्चित है।
- दुःख उन्हीं व्यक्तियों के लिये अद्भुत उपहार (तोहफा) सिद्ध होता है जो विचारशील हैं। जो विचारशील नहीं है, जिनका मन कुण्ठित है, उनको तो अनन्तकाल तक भी दुःख भोग करने से क्या मिलेगा? बस नरक के कष्टों को भोगते रहेंगे और रोते रहेंगे।
- दुःख केवल और केवल उन्हीं लोगों का गुरु बनकर मार्गदर्शन करता है जो

संवेदनशील हैं। दुःख की चोट से जिनके हृदय में गहरा घाव हो गया है। उससे व्यथित होकर दुःख मात्र से ऊपर उठने के लिये अब अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा को जिन्होंने दुःख के कारणों की खोज करने में लगा दिया है।

- एक साधक का किसी ने अपमान कर दिया, इससे वह अन्दर तक हिल गया। उसने अपने भीतर डुबकी लगाई और देखा कि यह किसी न किसी रूप में सम्मान की चाह ही थी जिसके कारण अपमान दुःखदायी प्रतीत हुआ। इसी प्रकार एक गृहस्थ को पुत्र प्राप्त न होने से वर्षों तक वह व्यथित रहा। उसके समझ में आ गया कि चाह कैसी कष्टदायी होती है। इसलिए अब उसने अपनी इस चाह का त्याग कर दिया। एक राजनेता को चुनाव में टिकट नहीं मिली वह बहुत दुःखी हुआ किन्तु इस दुःख ने ही उसको राजनीति से ऊपर उठने के लिये तैय्यार कर दिया। एक परम मेधावी विचारशील व्यक्ति ने अपनी दुःखमय स्थिति का अन्वेषण किया और यह पाया कि दुःखमात्र का ही कारण अविद्या युक्त चाह है। उसने अपनी समस्त अविद्यायुक्त तृष्णा या चाह को 'अलविदा' बोल दिया।
- वाणी से हम कितना सारा दुःख स्वयं को और दूसरों को देते रहते हैं, इसका हिसाब लगाया जाये तो यह हमारे लिये एक बहुत बड़ी विचारणीय बात हो जायेगी। यह समझ में आया कि पूर्ण आत्मस्थ व्यक्ति ही वाणी की प्रतिक्रिया से मुक्त रह सकता है।
- संसार में कितना संघर्ष है, युद्ध है, कितना स्वार्थ है, कितनी ईर्ष्या-द्वेष व घृणा है, कितना परस्पर वैर-विरोध है, कितनी स्पर्द्धा है, कितना प्रतिशोध का भाव है, कितना आपसी वैमनस्य है? यह मनुष्य क्यों नहीं देख पाता? क्यों इतना दुःख, कष्ट, बाधा, पीड़ा झेल रहा है? क्या इस जीवन में भी उसे रस आता है?
- जिस व्यक्ति की सृष्टि के इस अकाट्य विधान (ऋत-नियमों) के प्रति दृढ़ निष्ठा है कि 'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' अर्थात् कल्याण पथ पर चलने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती, वह किससे भयभीत होगा और क्यों भयभीत होगा?

७. दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः

(दोषों से मुक्ति का उपाय)

भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने 'स्त्रियाम्' सूत्रभाष्य में किसी प्रसङ्ग में जीवन को दोषमुक्त करने के लिए बड़ी पते की बात कही है। भाष्यकार का कहना है— जो कोई भी दोष अच्छी प्रकार देख व समझ लिया जाता है तो उसका आसानी से परिहार हो सकता है (दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः)। स्पष्ट है— जो दोष, दृष्टि के समक्ष ही नहीं आया वह कैसे हट सकता है या कैसे हटाया जा सकता है? दोष को एकदम साफ-साफ देख लेना बहुत ही आवश्यक है। सामान्य बुद्धि रखने वाला भी कभी 'घाटे का सौदा' नहीं करना चाहता, फिर समझदार या बुद्धिमान् तो कैसे कर सकता है? कुछ व्यापारी जैसे कि आजकल कई सारी विदेशी कम्पनियाँ घाटे में भी अपना व्यापार जारी रखती हैं तो इसी शर्त पर कि भविष्य में उन्हें बहुत बड़ा लाभ होगा। यदि उन व्यापारियों को यह निश्चय हो जाये कि भविष्य में भी अमुक व्यापार में सफलता मिलने वाली नहीं है तो वे उसे तत्काल बन्द कर देंगे। यहाँ तक कि जिन्हें किसी उपाय से थोड़ा सा भी भान हो जाता है कि आज तो अमुक कार्य से लाभ मिल रहा है पर आने वाले समय में बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ सकती है— इतनी आशंका मात्र से भी वे लोग अपने उस काम को शीघ्रातिशीघ्र बन्द करना चाहेंगे। सो यही सिद्ध हुआ कि प्रज्ञावान् पुरुष किसी भी कीमत पर 'घाटे का सौदा' नहीं करना चाहता। हाँ! जो लाभ-हानि को बिना देखे ही किसी काम में लगे हुये हैं वे तो हानि होते हुए भी कैसे हट सकते हैं? हानि से हटने के लिये हानि का आँखों के सामने आना परम आवश्यक है। बस! जीवन से सम्बन्धित दोषों के सन्दर्भ में भी यह बात ज्यों की त्यों लागू होती है। दोष-मुक्त जीवन जीने के लिये अपने दोषों को ठीक से देख पाना प्रथम व आवश्यक शर्त है।

यह एक विद्यार्थी है। जिसका उच्चारण बहुत अशुद्ध है। लगभग २५

वर्ष से निरन्तर वही अशुद्ध उच्चारण करता चला आ रहा है— विद्या को विध्या, प्रकाश को परकाश या पिर्काश, वृक्ष को व्रक्ष, ज्ञान (ज्ज्ञान) को ग्यान, कारयति को कार्यति, गमयति को गम्यति उच्चारण करता है। अध्यापक के द्वारा इसका उच्चारण-दोष इसे दिखाया जाता है और उस दिशा में वह अपना प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है। यद्यपि अभ्यास तत्काल नहीं बदला करते हैं, पर व्यक्ति की अपनी उस-उस आवश्यकता के अनुसार प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। यदि आवश्यकता बहुत ही उग्र महसूस होती है तो अपने दोष का शीघ्र सुधार कर लेता है और मध्यम या मन्द आवश्यकता होती है तो सुधार भी उसी अनुपात में होता है। कल्पना की जा सकती है कि उस छात्र को अपने दोष का पता न चला होता तो क्या कभी उसका इस दिशा में किञ्चित् भी प्रयास होता? कदापि नहीं। सम्पूर्ण जीवन भर ही उसका वही क्रम चलता रहता। दोष की सीमा पर प्रतिबन्ध लगाने के बजाय वह और भी दृढ़ से दृढ़तर ही होता चला जाता है और अब जबकि उसे पता चल जाता है कि सचमुच तेरा उच्चारण तो बहुत अशुद्ध है— तो वह विचार करने लगता है कि तू ने अपने इस दोष को नहीं सुधारा तो तू विद्वानों के बीच उपहास का पात्र बनेगा। अतः चाहे कितना भी प्रयास क्यों न करना पड़े, इस दोष का सुधार करना ही चाहिये। यह विचार कर वह छात्र अपने इस दोष के प्रति जागरूक हो उठता है। बेशक एक-एक इञ्च यात्रा ही तय हो पा रही है पर निश्चित ही उसकी विचार की दिशा बदल चुकी है।

और देखिये— यह एक व्यक्ति है जो स्वास्थ्य के नियमों से अपरिचित होने के कारण सदा रुग्ण रहता है। यह नहीं जानता है कि क्या खाना चाहिये— क्या नहीं खाना चाहिये? कितना खाना चाहिये, किस समय खाना चाहिये? तेरी प्रकृति के क्या अनुकूल है क्या प्रतिकूल है? उसे नहीं पता है कि शरीर के तापमान से अधिक ठण्डे पदार्थ दाँतों को भी खराब कर देते हैं और उदर को भी, पर अज्ञानवश वह जिह्वा के स्वादवश फ्रिज की ठण्डी ठण्डी चीजें खाता चला जाता है— जिसके फलस्वरूप उसके दाँत असमय में ही हिलने लग गये

हैं, दाँतों को पायरिया रोग ने पकड़ लिया है। उसे यह भी ज्ञान नहीं है कि दूध व नमकीन पदार्थ विरुद्ध भोजन के अन्तर्गत आते हैं इसलिये वह इस और ऐसे ही अनेक विरुद्ध पदार्थों के सेवन में कुछ भी परहेज नहीं करता। 'तरह-तरह के अचारों के प्रयोग से जिह्वा तो तृप्त होती है पर उदर व शरीर नहीं'— इस अमूल्य ज्ञान के अभाव में कई प्रकार के अचारों से युक्त इसका भोजन होता है। वायु प्रधान शरीर है फिर भी वातकारक चीजें ही सेवन करता चला जा रहा है। स्वास्थ्य के नियमों के आवश्यक अङ्ग निद्रा के विषय में भी उसका अज्ञान है कि कितना सोना चाहिये? कब सोना चाहिये? कब नहीं सोना चाहिये? शरीर से परिश्रम करना शारीरसुख प्राप्त करने के लिये अपरिहार्य साधन है— पर उसे आराम ही पसन्द है।

इन सब कारणों से उस व्यक्ति ने अपने शरीर को रोगों का घर बना लिया है। जब दुःख पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो व्यक्ति उसकी निवृत्ति के लिये कुछ न कुछ उपाय करना ही चाहता है। यह व्यक्ति भी एक योग्य गुरु के पास पहुँचता है, अपनी व्यथा सुनाता है, श्रद्धा से पूछता है— मुझे क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये— जिससे मैं दुःखमुक्त नीरोग जीवन जी सकूँ? गुरु उसकी दूषित जीवन चर्या (आहार-विहार-स्वप्न-जागरण) की तरफ उसका ध्यान आकृष्ट करता है कि यही वह चीज है जिसने तुम्हें मौत के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। वह व्यक्ति भी अपने दोष का ठीक से आकलन कर अपनी जीवन पद्धति का सम्पूर्ण परिवर्तन करने के लिए अपना महान् प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है। यदि उस व्यक्ति को अपने दोष का पता न चला होता तो कैसे वह उसे ठीक कर पाता। दोष से छुटकारा पाने के लिए दोष का दिखाई देना कितना आवश्यक है— यह इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

ये कक्षा में कुछ विद्यार्थी अध्ययनरत हैं। इनमें से यह एक विद्यार्थी है जो अपनी पुस्तक के पन्ने पलटने के लिए अंगुली से थूक लगाकर पुस्तक के पन्ने पलटता है, इसको यह अभ्यास हो गया है। अब तक इसके मन में यह बात कभी ध्यान में नहीं आई कि पन्ने पलटने का यह तरीका अनुचित है। वह इसे

कोई दोष नहीं समझता है, इसलिये सतत करता चला जा रहा है। दूसरा एक विद्यार्थी है जो बैठे-बैठे तिनके तोड़ता रहता है। वह भी अपने इस दोष से अपरिचित है। और एक विद्यार्थी है जो अपने नाक में बार-बार अंगुली डालता रहता है— उसका भी यह दोष उसकी दृष्टि में नहीं आया है। कुछ दूसरे विद्यार्थी अपने पेन से कट-कट करते रहते हैं तो कुछ धरती में लकीर ही खींचते रहते हैं, कुछ अंगुलियाँ चटकाते रहते हैं। वे सब अपनी-अपनी क्रियाओं से अपरिचित रहते हुये ही उन-उन अभ्यासों को दोहराते चले जा रहे हैं।

एक दिन उनका अध्यापक उन छात्रों के दोषों की तरफ उनका ध्यान आकृष्ट कराता है कि ये सब आचरण सत्पुरुषों के आचरण के विपरीत हैं। तथा साथ में जब वे छात्र उन-उन क्रियाओं को करते हैं तो अध्यापक उनको उसी समय संकेत करता रहता है कि सावधान! धीरे-धीरे छात्र अपने उन दोषों से मुक्त हो जाते हैं।

किसी व्यक्ति के मुख से वार्तालाप के प्रसङ्ग में बीच-बीच में अपशब्द (गालियाँ) निकलते रहते हैं। यदि वह अपने इस दोष को अच्छी तरह देख ले तो निश्चय ही अपना सुधार कर सकता है।

दूसरे कुछ व्यक्ति, यहाँ तक कि साधु-सन्त भी, बड़े ही चटकारे ले-लेकर दूसरों के दोषों का कथन करते रहते हैं, पर ठीक उसी क्षण अपने बारे में बेपरवाह हुये रहते हैं कि उनका यह परदोष दर्शन का स्वभाव अच्छा नहीं है। यदि कोई अपने इस दोष को स्वयं अनुभव कर सके तो उससे शीघ्र ही मुक्त हो सकता है।

धूम्रपान करने वाले हों चाहे शराब पीने वाले, जुवारी हों या कबाबी, गप-शप में ही अपने अमूल्य समय को बर्बाद कर डालने वाले हों या ताश आदि मनोरञ्जन में व्यस्त रहने वाले, झूठ बोलने वाले हों या क्रोध करने वाले, रिश्वत लेने वाले हों या चोर उचक्के, सबके साथ एक ही बात प्रयोज्य है कि वे अपने-अपने दोष को देख नहीं पा रहे हैं। यदि वे अपने भेदे रूप को

देख सकें तो हो ही नहीं सकता कि वे अपने को बदले बिना रह जायें। किसी का पैर मल में सन जाये तो क्या वह व्यक्ति प्रतीक्षा कर सकता है? हाँ! यह तो शत-प्रतिशत सम्भव है कि पैर मल में सन गया, किन्तु उसे पता न चल सका, इसलिये दिन भर गन्दे पैर ही घूमता रहे या उसी स्थिति में अपने काम-काज करता रहे। **दर्शन का अर्थ ही तत्क्षण क्रिया है।** दर्शन और क्रिया में अन्तर नहीं होता। दर्शन और स्थगन (किसी काम को टालना) कभी साथ नहीं चल सकते। दर्शन एक क्षण में होता है— क्रिया भी क्षण में ही होती है। सर्पदर्शन और क्रिया में जो सम्बन्ध है वही जीवन के दोषों के दर्शन के सन्दर्भ में भी होता है। जब-जब सर्प दीखेगा तब-तब क्रिया का होना अवश्यभावी है। क्रिया उसी समय नहीं होती जब सर्प न दिख पाया हो। सर्प का न दिखना और इसलिये क्रिया का न होना और उसके फलस्वरूप सर्प के द्वारा डसा जाना, ये जैसे एक अनिवार्य क्रम (Process) है उसी प्रकार जीवनगत दोषों का न दिख पाना और इसलिये उन-उन दोषों की मुक्ति के लिये प्रयत्न का या क्रिया का न हो पाना और उसके फलस्वरूप उन-उन दोषों से उत्पन्न दुःखों का शिकार हो जाना— यह हम सब का प्रतिदिन का अनुभव है। क्योंकि व्यक्ति संसार में रहता हुआ बहिर्मुख होता है, इसलिये उसे संसार तो दिखायी देता है— पर अपना आपा नहीं दिखायी देता।

व्यक्ति के चारों तरफ जो कुछ होता है उसे तो व्यक्ति देख लेता है— अमुक व्यक्ति ऐसा है या वैसा है, उसे यह नहीं करना चाहिये वह नहीं करना चाहिये, पर इस प्रक्रिया में अपने से बेखबर हो जाता है। मैं क्या कर रहा हूँ, किधर जाना चाहिये, किधर नहीं जाना चाहिये इत्यादि ये सब बातें सर्वथा ही नहीं देख पाता और नहीं देख पाता अपने ही द्वारा सम्पादित कर्मों को, अपने विचारों को, अपनी भावनाओं को। अपने मन रूपी सागर में उठती हुयी सुख-दुःखरूपी लहरों को न देख सकने का परिणाम होता है— दोषों के विरुद्ध क्रिया का न होना अथवा यों कहें अपनी राजसिक या तामसिक प्रकृति (Nature) के सहज प्रवाह में बहते रहना। यही कारण है कि व्यक्ति दोषों से मुक्त नहीं हो पाता।

जैसा कि पहले ही कहा गया— कोई भी व्यक्ति 'घाटे का सौदा' नहीं करना चाहता। फिर भी ये परिणाम में महादुःख देने वाले कर्मों का आचरण क्यों होता रहता है? उत्तर यही है कि व्यक्ति को दिखाई नहीं देता कि तेरे उन-उन कर्मों का फल दुःख होगा। जिस बोतल पर जहर लिखा होता है उस बोतल को व्यक्ति कितनी सावधानी से छूता है और छू भी जाये तो तुरन्त हाथ साफ करता है। पर इस विषय रूपी विष को छूकर भी क्या व्यक्ति कभी ज्ञान या भक्ति रूपी जल से अपने को धोने की चेष्टा करता है? इन दुष्कर्म रूपी सर्पों के डसने से अपने आपको बचाने के लिये व्यक्ति ने क्या कभी कोई उपाय किया है? यहाँ वह भूल जाता है कि ये सर्प चारों ओर से तुझे डस रहे हैं और इसलिये सर्पदर्शित व्यक्ति को जैसे नीम कडुवा नहीं लगता वैसे ही इसे भी विषयों की कड़वाहट का आभास नहीं हो पाता, परिणाम-स्वरूप इन सर्पों से अपने आपको बचाने की बजाय उन्हीं के साथ खेलना प्रारम्भ कर देता है।

समस्त संसार को यदि थोड़ा गम्भीर होकर देखा जाय तो यही पता चलेगा कि जो ये मनुष्य-मात्र दुःखों में बह रहे हैं या दोषों से भरे नजर आ रहे हैं— उसका एक ही कारण है कि वे उन उन अपने दुःखों या दोषों को ठीक से देख नहीं पा रहे। पूर्ण दुःखमुक्त या दोषमुक्त होने के लिए व्यक्ति को क्रान्तदर्शी (दीर्घदृष्टि वाला) होना चाहिये। अपने वर्तमान चिन्तन-मनन को जरा सतेज करना चाहिए कि कर्मों का भावी परिणाम क्या हो सकता है? इस क्षण किया जाने वाला कर्म कहीं अगले क्षण या आने वाले कल में दुःख में तो नहीं बदल जायेगा, इस समय की खुशियाँ तुरन्त ही आँसुओं में तो नहीं बदलने जा रही हैं, जब तक यह सम्पूर्ण दृश्य व्यक्ति की आँखों के सामने नहीं आ जाता तब तक व्यक्ति कैसे दोष व दुःखों से मुक्त हो सकता है? जिनके अन्तर्नेत्र प्रत्यक्ष की भाँति परोक्ष को भी साफ-साफ देखने में समर्थ होते हैं वे प्रज्ञावान् पुरुष ही दोषों का पूर्ण परिहार करने में समर्थ हो पाते हैं।

यह निर्विवाद सत्य है— व्यक्ति जितना अपने दोषों को देख पाता है उतना ही अपना बचाव कर पाता है। दर्शन आंशिक ही होता है तो बचाव भी

आंशिक ही होता है। जिनका दर्शन पूर्ण व सर्वकाल के लिये या क्षण से क्षण में होता रहता है उनकी दोषों से मुक्ति भी पूर्ण रूप से या क्षण से क्षण में हो जाती है। कहना अनावश्यक है जो सर्प को एक समय तो साक्षात् मृत्यु के रूप में देख रहा है और दूसरे समय अपने मन बहलाव के लिये एक बहुत ही सुन्दर प्रिय खिलौने के रूप में— दोनों समय में द्रष्टा की क्रिया में अन्तर होगा। एक समय द्रष्टा की निवृत्ति होगी— अपने आप को उससे बचाना चाहेगा तो दूसरे समय प्रवृत्ति होगी— सर्प को अपने हाथ में उठाना चाहेगा।

अच्छा! यह तो ठीक से समझ में आया कि दोष का दर्शन— दोष के परिहार का एक सच्चा उपाय है। पर दोष सदाकाल के लिये दोष के रूप में ही दिखता रहे, एक क्षण के लिये भी उसमें गुण दिखाई न दे— इसका क्या उपाय है? अर्थात् ऐसा न हो कि क्रोध एक बार तो भयंकर रूप से जलाने वाली चीज दिखाई दे रही हो और दूसरे समय अपना इष्ट सिद्ध करने वाली आवश्यक वस्तु। लोभ कभी तो सब पापों का मूल दिखाई देने लगे और वही दूसरे समय अत्यन्त प्रिय वरदान के रूप में। सायंकाल शराबी को शराब बहुत ही प्रिय दिखाई देती है तो प्रातःकाल वही सर्वविनाशी चीज। समस्त वैषयिक भोग, भोग-काल में स्वर्गीय सुख का स्मरण दिलाने वाले प्रतीत होते हैं तो उत्तरकाल में अर्थात् भोग के अगले ही क्षण अत्यन्त कटुता व खिन्नता देते हुये प्रतीत होते हैं। बच्चों को स्वतन्त्रता अच्छी लगती है— पर बड़े होने पर वे ही पश्चात्ताप करते हुये देखे जाते हैं कि हमने अपना सारा समय व्यर्थ खेल-कूद में नष्ट कर दिया, उस समय मन लगाकर पढ़ते तो बहुत अच्छा होता। असत्य की राह पर चलना सरल व सुखकर प्रतीत होता है, पर परिणाम दुःखद। ‘शरीर से परिश्रम’ करना कष्टकारी प्रतीत होता है, किन्तु उसका परिणाम सुखद। सत्य को ही अपनी शरण या आश्रय बनाना बड़ा ही कष्टमय लगता है, पर परिणाम अत्यन्त आनन्दमय। क्या ऐसा कोई उपाय है कि दोष सदा दोष ही दिखते रहें और गुण सदा गुण ही; सत्य सदा सत्य के रूप में दिखाई देता रहे तो असत्य सदा असत्य, दुःख सर्वत्र दुःख ही दिखाई दे तो सुख सर्वत्र सुख? हाँ! अवश्य

ही इसका उपाय है। क्षण से क्षण में जागरूक होना ही इसका उपाय है, जैसे कि कोई वाहन चालक (driver) वाहन चलाते समय सजग रहता है। वाहन रोड से थोड़ा भी इधर-उधर होने लगता है तो तत्काल ही चालक को पता चल जाता है कि गाड़ी मार्ग को छोड़ रही है, वैसे ही जो जीवन के सन्दर्भ में सजग रहते हैं— उन्हें दोष-दुःख-बाधा—स्खलन-पतन-मिथ्यात्व का तत्काल अवबोध (ज्ञान) हो जाता है।

महाभारत के ऋषि सनत्सुजात ने इस तथ्य को अपने शब्दों में इस रूप में प्रकट किया है कि ‘प्रमाद ही मृत्यु है’। मृत्यु के दर्शन करने हों तो प्रमाद के दर्शन कर लेने चाहियें। मृत्यु यदि प्रमाद है तो अमृत अप्रमाद (जागरूकता अर्थात् Awareness) होगा। वैदिक ऋषि जब कहते हैं कि ‘मृत्योर्माऽमृतं गमय’ मृत्यु से मुझे अमृत को प्राप्त कराओ तो उसका यही भाव होता है कि क्षण से क्षण में मैं भगवान् के साथ रहूँ, भूमा के साथ रहूँ, आनन्द में रहूँ। जब-जब भी मन प्रकृति के सान्त रूपों के साथ रहता है तब-तब मर्त्य भाव से युक्त हो जाता है। मर्त्य भाव में सुख नहीं है— भूमा में ही सुख है। उपनिषद् का ऋषि कहता है— **यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।** (छान्दो० ७.२३.१) सो क्षण से क्षण में भूमा के साथ रहना ही दुःख-दोष-पतन से आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु-व्यक्ति या मन की आहंकारिक मांग के साथ रहना भूमा से अलग रहना है। अथवा ‘मैं’ व ‘मेरे’ के साथ रहना भूमा से पृथक् रहना है। सचमुच यही तो दृश्य के साथ रहना है। सुख-दुःख-मोह जनकता ही दृश्य का भोग रूप है। क्षण से क्षण में ‘मैं’ व ‘मेरे’ से अलग हो जाना भोग से ऊपर उठना है। भोग से ऊपर उठने का अर्थ है— द्रष्टा के साथ, चेतन के साथ या भूमा के साथ रहना।

इस प्रकार सार यह निकला— सान्त नाम-रूपों के साथ रहना ही दुःखों का मूल है। जिसने इस दोष को अपने ज्ञान नेत्रों से देख लिया है या देख रहा है, वह अवश्य ही उक्त दोष से मुक्त हो सकता है। जैसा कि पहले ही कहा गया

कि दर्शन और क्रिया में काल का किञ्चित् भी दखल नहीं है। किसी दुःख से या दोष से निवृत्तिरूप क्रिया न होने का सीधा सा अर्थ है— उस-उस दोष के दर्शन का अभाव। दर्शन है तो क्रिया अवश्यभावी है। किसी दोष के बारे में पुस्तकों से पढ़ना या किसी व्यक्ति के द्वारा हमें हमारा दोष बताया जाना निश्चय ही दोष का दर्शन नहीं है। यह तो वैसा ही है जैसे कि हमें कोई बताने लगे कि आपको भूख लग रही है। स्वयं अपनी भूख का अनुभव करना और दूसरे के द्वारा बताया जाना कि आप भूखे हैं— जैसे इन दोनों स्थितियों में महान् अन्तर है वैसे ही यह है— ‘स्वयं अपने दोषों को देखना और दूसरे के द्वारा दिखाया जाना कि आप अमुक दोष से ग्रस्त हो रहे हैं’। किसी दोष में आकण्ठ डूबा हुआ व्यक्ति भी यदि अपने दोष को दोष नहीं समझ रहा तो कैसे कहा जा सकता है कि वह दोष को देख रहा है। आँख में तिनका गिरने पर किसी के द्वारा बताने की जरूरत नहीं होती कि आपकी आँख में तिनका गिर गया है। प्रसव-पीड़ा का पता क्या किसी के द्वारा निर्देश देने से लगता है?

इन सब दृष्टान्तों के समान ही जिन्हें अपना दोष दिखाई देने लगता है, कहना होगा— उन्होंने अपने दोष को देखा है। दोष देख लिया गया है तो अब उसका परिहार भी होकर रहेगा। क्या कोई आँख में गिरे तिनके को बिना निकाले ही रात में सो सकता है? दोष के साथ भी यही नियम लागू होता है।

अतः यह बात पूर्ण सत्य है कि जिस वर्तमान क्षण में दोष देखा गया उसी क्षण में उसकी निवृत्ति होती है। अगले क्षण आँखें बन्द हो गयीं तो दोष भी आ टपकता है। किसी ने एक हजार मील लम्बी यात्रा आरम्भ की, ९९९ मील जाने पर उसे झपकी आ जाती है और दुर्घटना हो जाती है तो कहना होगा— दोषों के साथ भी व्यक्ति की मुठभेड़ इसी प्रकार होती है। ज्यों ही प्रमाद हुआ त्यों ही टक्कर हो जाती है। यह व्यक्ति की भूल है जो वह समझ लेता है कि अब मैंने अपने दोषों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। सजगता टूटते ही दस वर्ष वाली चीजें एक क्षण में ही पुनः उपस्थित हो जाती हैं। सजगता का अर्थ है जागरित रहना। सजगता टूटने का अर्थ है— सो जाना। चोरगण तो इसी प्रतीक्षा

में रहते हैं— मालिक कब सोये और कब हम अपना काम करें। इसीलिये वेद अपना गीत गा रहा है— ‘दिवा नक्तञ्च जागृताम्’ (अथर्व ५.३०.१०) अर्थात् रात-दिन जागते रहो। निश्चय ही वेद के द्वारा यह शारीर निद्रा से जागने की बात नहीं की जा रही। यह तो उस मनोनिद्रा से जागने की बात कही जा रही है जिसके उपस्थित होते ही व्यक्ति कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, अहंकारी, ईर्ष्यालु, द्वेषी हो उठता है। जिस नींद के आने पर ज्ञानी व्यक्ति भी अज्ञानी हो जाता है, सहनशील असहनशील हो उठता है, संकल्प धड़ाधड़ टूटने लगते हैं, हृदय प्रेम के स्थान पर घृणा से भर जाता है, विषय-सुख अत्यन्त प्रिय लगने लगते हैं, प्रकृति के सान्त रूप सुखदायी प्रतीत होने लगते हैं, अपने से बाहर झाँकने की इच्छा बलवती हो उठती है, धर्म-चर्चा अप्रिय लगने लगती है, मन अर्थकामपरायण हो जाता है, अपने अपूर्व शौर्य-तेज व ओज को भूल जाता है, भूल जाता है अपनी उस गरिमा को— जो हजारों-लाखों भूले-भटकों को राह दिखाती थी। ऐसी विचित्र है वह मनो-निद्रा जिसके कारण इस दिखाई दे रहे मांस व हड्डियों से इतना मुग्ध हो जाता है कि इससे परे भी कुछ है— यह बात कल्पना में भी नहीं आती और उन्हें खाने के लिये ही टूट पड़ता है।

उपर्युक्त मनोनिद्रा से जागने के लिए मन में चल रहे वृत्ति प्रवाह को अथवा दूसरे शब्दों में सत्त्व-रज-तम रूप तीनों गुणों की क्रिया को समझना आवश्यक है। जब तक मन पर पूर्ण वश नहीं हो जाता तब तक मन में कभी क्लिष्ट वृत्तियाँ उठती हैं तो कभी अक्लिष्ट। अक्लिष्ट वृत्तियाँ सदा सत्त्वप्रधान होती हैं तो क्लिष्ट वृत्तियों में सदा रजोगुण या तमोगुण की प्रधानता होती है। चाहे क्लिष्ट वृत्तियाँ हों अथवा अक्लिष्ट, वृत्तिमात्र ही चित्त में अभङ्ग या अबाध रूप से नहीं उठती, बल्कि उनका तो सभङ्ग प्रवाह चलता है। कोई भी वृत्ति एक क्षण में उदय होकर तुरन्त लीन हो जाती है, ठीक वैसी ही अथवा अन्य प्रकार की एक वृत्ति फिर उदय होती है। इस प्रकार अनादिकाल से चित्त में वृत्तियों का प्रवाह चला आ रहा है। योगसूत्रों के भाष्यकार व्यास देवजी कहते हैं— ‘क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति,

अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी कैवल्य पाद में स्वकण्ठ से ठीक ऐसी ही बात कही है— **तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।** (४.२७) प्रायः क्लिष्ट प्रवाह की उदार अवस्था में अक्लिष्ट प्रवाह अवरुद्ध होता है और वैसे ही अक्लिष्टप्रवाह के समय क्लिष्ट प्रवाह विच्छिन्न रहता है, पर मध्य-मध्य में क्लिष्ट प्रवाह में अक्लिष्टवृत्तियाँ और अक्लिष्टप्रवाह में क्लिष्ट वृत्तियाँ भी उठती रहती हैं। सत्त्वप्रधान अक्लिष्ट वृत्तियों का स्वरूप होता है— शान्ति, समता, प्रसन्नता, दया, करुणा, प्रेम, सहयोग, स्वार्थत्याग, निष्पक्षता, इन्द्रियों की अपने विषयों के प्रति उदासीनता, धैर्य, सहनशीलता, मन की सुस्थिरता, श्रद्धा, शील, सन्तोष, अध्यात्मयोग में स्थिति, हृदय की विशालता, मन की आग्रहपूर्ण माँगों का अभाव, सत्ता के सभी भागों में सामञ्जस्य, मौन, एकान्त वास की रुचि, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अक्रोध, सत्य, अपरिग्रह, अचौर्य, शुचिता, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान (समर्पण अर्थात् अपने अहं का विलोप अर्थात् 'मैं' व 'मेरे' से मुक्ति), निर्भयता, ध्यानपरायणता, सरलता, अन्तर्बाह्य में एकरूपता, आकर्षक दृश्य के नाना रूपों से छुटकारा, मन का हल्कापन, सहज-अनुशासन, रस की अनुभूति इत्यादि।

इसके विपरीत रजोगुण प्रधान क्लिष्टवृत्तियों का जब उदय होता है तो मन चञ्चल हो उठता है— उसके कारण खिन्नता, विषाद (depression, tension), क्रोध की आग, विषयों में रुचि, सुख की लालसा आदि बढ़ने लगते हैं। मन संशय से भर जाता है, सब चीजें विपर्यस्त दिखाई देने लगती हैं— सच्चा सुख देने वाले संयम इत्यादि दुःखप्रद प्रतीत होते हैं और असंयम सुखप्रद, पवित्र चीजें अपवित्र लगने लगती हैं तो अपवित्र चीजें पवित्र, अनित्य चीजें नित्य दिखने लगती हैं और नित्य चीजें अनित्य, शरीर-मन व बाह्य-जगत् के पदार्थ भी यथार्थ दिखाई देने लगते हैं और आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि अयथार्थ। अन्दर उचाट सा पैदा हो जाता है, सब कुछ भारी-भारी लगने लगता है तथा सब ओर से भय ही नजर आने लगता है। सत्ता के समस्त हिस्से विभाजित हो जाते हैं, इसलिये आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है। धर्म-ज्ञान-

वैराग्य की चर्चा में कोई रस नहीं आता। 'मैं' व 'मेरे' का पूर्ण राज्य हो जाता है। कामना देवी जैसा चाहती है व्यक्ति को वैसा घुमाती, चक्कर कटाती व नाच नचाती रहती है। प्रायः सारा संसार ही सुख पाने के लिये इसी स्तर पर खड़ा हुआ जूझ रहा है, पर **सुख का महल अज्ञान की बालुकामय भित्ति पर नहीं, किन्तु ज्ञान की दृढ़ चट्टान के ऊपर ही बनाया जा सकता है।**

अब सुनिये तमः प्रधान क्लिष्टवृत्तियों का ब्योरा— आलस्य, प्रमाद, भ्रान्ति, मूढ़ता, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य (इच्छाशक्ति की मन्दता), शरीर व मन की जड़ता, क्रिया का अभाव, सूअर की भाँति विषयों की दुर्गन्ध से प्यार, प्रगति की अनिच्छा, अतीन्द्रिय विषयों में अविश्वास, लोभ का क्रूर चक्र इत्यादि।

कहना अनावश्यक है कि जो अपने चित्त में निरन्तर चल रही गुणों की क्रिया का अवलोकन क्षण से क्षण में कर सकने में समर्थ होते हैं, उनका ही मन सतत जागता रहता है, अथवा दूसरे शब्दों में जो सतत जागते रहते हैं वे ही इन गुणों की सन्धि को देख पाते हैं। सत्त्वगुण की सन्धि जैसे ही रज अथवा तम के साथ लगती है— उसी क्षण उस सन्धि को जो पहचान लेते हैं— कहना होगा एक मात्र वे ही लोग मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं। यही वह निर्णायक बिन्दु है जहाँ व्यक्ति के भाग्य का निर्धारण होता है। बद्ध पुरुष इस सन्धि को देख नहीं पाते, जब वे देख पाते हैं तब तक तो बहुत दूर निकल गये होते हैं, उस-उस गुण के संस्कार से उनका चित्त पूर्ण रूप से रंग गया होता है। तत्-तत् संस्कार से रागयुक्त हुआ चित्त आगे-आगे उसी की चाहना करने लगता है। इस प्रकार बहुत शीघ्र ही यह एक लम्बी श्रृंखला तैयार हो जाती है। किसी बांध में जैसे ही कोई छिद्र हुआ, उसे उसी समय रोक दिया जाये तो ठीक है— अन्यथा समय पाकर वह महाविकराल रूप धारण कर लेता है और सब कुछ को बहा ले जाता है। सो साधक के लिये गुणों की सन्धि को देख पाना इतना महत्वपूर्ण कार्य है कि इसी में साधक का अपार खजाना छिपा हुआ है।

यही एक क्षण होता है जिसमें समस्त संसार के साधकों के घरों पर डाके पड़ते हैं और वे लूटे जाते हैं। काम-क्रोध-लोभ आदि चोरों को अन्दर घुसने के लिये समय की आवश्यकता नहीं होती। आँख झपकने जितना समय यदि उन्हें मिल जाता है तो फिर ये घर के मालिक को बड़ी सरलता से कठोर रस्सियों से बाँधकर एक कोने में डाल देते हैं और सम्पूर्ण वैभव को लूटकर चलते बनते हैं। एक तार पर चलने वाले कलाकारों (नटों) की तरह जागरूक या सजग साधक ही इन गुणों की सन्धि को देख पाने में समर्थ होते हैं। सन्धि को देखने का अर्थ है— रजोगुण या तमोगुण की पकड़ से मुक्त होना। देखना और मुक्ति साथ-साथ चलते हैं। अतः मुक्त जीवन जीने के लिये गुणों की सन्धि का अवलोकन अपरिहार्य या एकमात्र साधन है।

गुणों से पार जाने के लिये पहले रजोगुण-तमोगुण से ही मुक्त होना होता है। यही वह प्रथम चरण है जो साधक मात्र को साधना मार्ग में प्रवेश करते ही बढ़ाना होता है। सत्त्वगुण की वृद्धि के अनुपात में रज व तम से मुक्त होता हुआ चित्त शुद्ध होता जाता है। जब चित्त पूर्ण शुद्ध व निर्मल हो जाता है तो इसी अवस्था को प्राचीन शब्दावली में विवेकख्याति (ज्ञान की पराकाष्ठा) नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार जलाने योग्य पदार्थ के शेष न रहने पर अग्नि स्वयं भी शान्त हो जाती है— उसी प्रकार सत्त्वगुण रूपी ज्ञानाग्नि रजोगुण-तमोगुण रूपी अशुद्धि को जब सम्पूर्ण रूप से जला देती है तो स्वयं भी निवृत्त हो जाती है। यही है वह गुणातीत अवस्था जब पुरुष (आत्मा) प्रकृति सम्पर्क से रहित केवल, अमल, शुद्ध, मुक्त रूप में रहता है। इस अवस्था को प्राचीन आचार्यों ने अत्यन्तपुरुषार्थ, परमपुरुषार्थ, मोक्ष, कैवल्य, आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्माराम, दुःखों से पूर्ण-मुक्ति, स्वरूप-प्रतिष्ठ, विप्र, ऋषि, महायोगी इत्यादि अर्थगर्भित विशेषणों से अभिहित किया है। यदि यह पूछा जाये कि इस अवस्था तक पहुँचने में प्राथमिक निमित्त क्या बनते हैं, तो उत्तर यही मिलेगा— ‘स्वदोष दर्शन या दुःख दर्शन अर्थात् अपना ठीक-ठीक आकलन’।

८. समस्याएँ और उनका समाधान

व्यवहार में मनुष्य को तीन प्रकार के लोग मिलते हैं— शत्रु-मित्र-उदासीन, विरोधी-अविरोधी-तटस्थ। विरोधी और तटस्थ लोगों के साथ व्यवहार करने में साधक के लिये समस्या नहीं होती है। क्योंकि जो तटस्थ हैं वे तो हमारे लिए अच्छा-बुरा कुछ करते नहीं, हाँ! विरोधी जो भी करेंगे उसको स्वीकार करने के लिये साधक ने तैय्यारी कर ली है। वे कठोर बोलें, यातना दें, शारीरिक कष्ट दें, आर्थिक हानि करें, सम्मान का तो वहाँ खाता ही नहीं है बेशक अपमान ही करें और भी जो कुछ वे कर सकते हैं करें। साधक उनके किसी भी व्यवहार से विचलित होने वाला नहीं है। वे जो कुछ करेंगे, उसको सहने के लिए साधक ने अपना मन बना लिया है। साधक ने निर्णय ले लिया है कि इन लोगों के साथ मुझे प्रतिक्रिया मुक्त रहना है, राजी-राजी चुप रह जाऊँगा किन्तु उफ़ तक भी नहीं निकालूँगा। आरोप लगायेंगे तो सफाई नहीं दूँगा। अपनी प्रसन्नता को किसी कीमत पर भी गायब नहीं होने दूँगा।

मित्रों या अविरोधियों के साथ व्यवहार करने में भी साधक को ऐसा ही कुछ कठोर कदम उठाना होगा क्योंकि ज्यादातर समस्याएँ उन्हीं घनिष्ठ व घनिष्ठतम लोगों के साथ व्यवहार में पैदा होती हैं। मित्रों में भी तीन प्रकार के लोगों के साथ व्यक्ति का सम्पर्क होता है— बड़े-छोटे और बराबर वालों के साथ। जिनको हमने बड़ा मान लिया है अब वे हमारे साथ जो भी आचरण या व्यवहार करें उनके साथ पूज्यता का ही सम्बन्ध रहना चाहिये (देवपूजा), जो बराबर वाले हैं उनके साथ मित्रता का सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध होना चाहिये (संगतिकरण) और जो छोटे हैं उनके साथ कुछ देने का, उनकी मदद करने का सम्बन्ध होना चाहिये (दान)।

मित्रों के साथ सम्बन्ध में समस्याएँ इसलिये होती हैं— हम उनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ न कुछ अपेक्षाएँ कर लेते हैं। अथवा अतिपरिचय के कारण कभी न कभी अवज्ञा हो जाती है। वाणी का प्रमाद तो सबसे अधिक समस्याओं

का जन्मदाता है। कभी-कभी किसी सिद्धान्त भेद होने से भी समस्याएँ होती हैं, हम भूल जाते हैं कि सिद्धान्त या मान्यताओं में इतना नहीं उलझना चाहिये कि सम्बन्ध ही गौण हो जायें और वे प्रथम स्थान से खिसक कर द्वितीय स्थान पर आ जायें।

कभी-कभी हमारे या साथी के उतावलेपन के कारण भी समस्याएँ होती हैं। मित्रों में भी 'अहम्' बीच में आ सकता है, आ जाता है, अतः अहं के कारण भी समस्याएँ होती हैं। 'अहम्' सदा ही समस्याओं का प्रमुख जन्मदाता है, यह एक आम बात है या प्रसिद्ध बात है। दूसरे शब्दों में कहें तो अहं बीच में आते ही हम अपने आवेगों पर नियन्त्रण खो बैठते हैं और आवेगों का ही तो दूसरा नाम समस्या है। स्वार्थ के कारण भी समस्याएँ जन्म ले लेती हैं।

बालक जैसी 'सरलता' में सब समस्याओं का समाधान छिपा है, क्योंकि सरलता उस स्थिति का नाम है जहाँ अहं नहीं होता। 'सजगता' भी समस्याओं से मुक्ति का अमोघ साधन है। अपने ही द्वारा अपने चित्त को क्षण-क्षण में देखते रहने का नाम 'सजगता' है। परस्पर दो व्यक्तियों के व्यवहार में समस्या से उत्पन्न होने वाले दुःख का 'यथार्थ दर्शन' भी समस्या से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त करता है, क्योंकि मनुष्य कभी भी दुःख में नहीं जीना चाहता। समस्या मुक्त जीवन जीने की 'अभीप्सा' (सच्ची माँग) और उसके लिये 'अन्तरतम से की गई प्रार्थना' से भी अवश्य मदद मिलती है। अभीप्सा को सतत महसूस करने का नाम ही 'प्रार्थना' है। सम्मान, विश्वास, स्नेह, प्रेम आदि भावों के सुप्रतिष्ठ हो जाने पर व्यवहारगत सभी समस्याएँ स्वतः ही निरस्त हो जाती हैं। भावों की प्रतिष्ठा ज्ञान से होती है अतः ज्ञान तो समस्या मात्र का समाधान है ही। 'जीवन के प्रति सच्ची दृष्टि' भी समस्याओं को पैदा नहीं होने देती। 'सृजन में जीना' यह भी अपने आप में समस्याओं का पूर्ण समाधान है। हाँ! 'सृजन में जीना' इस अद्भुत संकेत से परिचित होना तो आवश्यक है ही। 'सृजन में जीने का अर्थ है' वर्तमान क्षण को पूर्ण आनन्दमय होकर जीना, बशर्त है कि वह उत्तरक्षण में पश्चात्ताप में न बदले।

९. ऊर्जा का सदुपयोग

विधाता ने मनुष्येतर जीवों को सीमित ऊर्जा प्रदान की है। बस इतनी कि उनका अपना जीवन चलता रहे। हर जीव को अपना भोजन प्राप्त करने के लिए ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है। उस प्राप्त भोजन को उदर में पहुँचाने के बाद आँतों के द्वारा पचाने के लिए भी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए भी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अपनी नस्ल को जीवित रखने के लिए सन्तति को जन्म देकर उनके लालन-पालन के लिए भी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। कुछ प्राणी जो मनुष्य के सम्पर्क में रहते हैं— गाय, घोड़ा, बैल, हाथी, ऊँट, खच्चर, भेड़-बकरी, कुत्ता इत्यादि; उनको मनुष्यों का काम करने के लिए जैसे बैलों को हल खींचने के लिये, ऊँट, हाथी को भार ढोने के लिए, गाय, भैंस, बकरी को दूध बनाने के लिए भी पर्याप्त ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्येतर जीवों को बस इन्हीं कामों के लिये ऊर्जा की आवश्यकता होती है। उनके पास जितनी ऊर्जा होती है वे उसका अपने कार्यों के लिए अधिकतम सदुपयोग ही करते हैं। हाँ! कुछ प्राणी अवश्य ही मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप करते रहते हैं। मनुष्यों को मार डालते हैं, उनकी सस्य (खेती) को हानि पहुँचाते हैं, बन्दर जैसी जातियाँ कच्चे फलों को ही तोड़ डालती हैं, मनुष्य की दृष्टि से वे पदार्थों का उपयोग कम लेते हैं नष्ट ज्यादा करते हैं।

विधाता के द्वारा मनुष्य को दी गई ऊर्जा का हिसाब लगाया जाए तो वह अपरिमित है। भौतिक रूप में अपने जीवन को बनाये रखने के लिए मनुष्येतर सभी जीवों को अपनी ऊर्जा से जो-जो काम सम्पन्न करने होते हैं, वे सब काम तो मनुष्य को भी करने ही होते हैं, किन्तु भगवान् ने मनुष्य को मानसिक व बौद्धिक ऊर्जा का एक अथाह भण्डार दिया है, वह उसका सदुपयोग करने की बजाय बहुत अधिक दुरुपयोग ही करता रहता है। यह मनुष्य के अज्ञान की बहुत बड़ी विडम्बना है। मनुष्य को इस विशिष्ट ऊर्जा का भण्डार मिला था

अपनी खोज करने के लिए, अपने दोषों को देखने के लिए और उन्हें मिटाने के लिए, अपनी प्रवृत्तियों को समझने के लिए, अपनी असली आत्मा को ढूँढ़ निकालने के लिए, अपने को पूर्ण निर्भय बनाने के लिए, जीवन का सम्पूर्ण रहस्य खोज निकालने के लिए, एकाग्र रहने के लिए, हित-अहित, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, नित्य-अनित्य को समझने के लिए, Echo-friendly और Person-friendly जीवन जीने के लिए, सह-अस्तित्व में अपनी आहुति डालने के लिए इत्यादि।

मनुष्य के लिए यह बहुत ही लज्जाजनक बात है कि वह अपनी अपार सम्भावनाओं को समझता नहीं और अपनी उन अदभुत क्षमताओं को अपने और दूसरों के विनाश में, क्षणिक-इन्द्रिय सुखों में, प्रकृति माँ को नष्ट करने में, केवल ढेर सारा सामान इकट्ठा करने में या केवल मात्र साधन-सुविधाओं को जुटाने में, स्पर्द्धा में, अन्धानुकरण में, सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान और वैषयिक सुखों को पाने की बेतहाशा दौड़ में नष्ट करता चला जा रहा है। उसे अपने कार्यों, अपनी प्रवृत्तियों, अपनी रुचियों, अपने जीवन की दिशा और दशा, अपनी पराधीनताओं, अपने भयों, अपने विनाशकारी कृत्यों, अपनी ऊर्जा के अपव्ययों, अपने ही द्वारा अपनी की जा रही हानियों, अपनी अन्धी दौड़, अपनी मूर्खताओं को थोड़ा ठहर कर सिंहावलोकन करना चाहिये। यह बहुत आवश्यक है। यह अति आवश्यक है। इसके बिना सतत हो रहे विनाश और पतन को रोकने का कोई उपाय नहीं है। यह करना ही होगा।

- गुण-विद्या का अन्तर्मुख होकर सतत अवलोकन करते रहने से गुणों की कार्य प्रणाली सहज ही समझ आ जाती है और गुणों को अभीष्ट पथ पर चलाने के लिये योग्यता / क्षमता / अनुकूलता हो जाती है।
- देना देवत्व है, लेना-देना बराबर रखना मनुष्यत्व है और लेना असुरत्व है। चुनाव हमारे हाथ में है, तीनों में से हमें किसका चुनाव करना है।

४०४०७७७

१०. सम्बन्ध

जब हम इस समूचे अस्तित्व को देखते हैं तो इसे बहुत ही सुसम्बद्ध अवस्था में पाते हैं। ऐसा लगता है कि इस सृष्टि के सभी घटक इतने सुसंवादी हैं कि परस्पर एक दूसरे के बिना एक दूसरे का जीवित रहना ही असम्भव है। किसी एक भी इकाई के होने का अर्थ है कि वह इकाई सम्पूर्ण परिवेश के साथ या यूँ कहें कि सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई है। मनुष्येतर सृष्टि में तो यह संवाद अपनी चरम पूर्णता में है। केवल प्राणियों में ही नहीं, पेड़ पौधे, सूर्य, पृथिवी-चन्द्रमा-सागर-पर्जन्य-पर्वत-नदी-जंगल सब में ही इस पारस्परिकता का धागा एक छोर से दूसरे छोर तक पिरोया हुआ है।

अस्तित्व की इस अदभुत व्यवस्था को देख कर असंदिग्ध रूप से हम यह कह सकते हैं कि अस्तित्व माने सह-अस्तित्व (Co-existence)। सूर्य के द्वारा सागर में से सतत जल का अवशोषण, बादलों का निर्माण, धरती पर उनका बरसना, आकाश में बिजली बनना, बिजली की कड़क के साथ नाइट्रेट्स का पैदा होना, वर्षा के साथ अन्तरिक्ष से धरती पर उस अत्यन्त उपयोगी खाद का पहुँचना, ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर हिमपात होकर ग्लेसियरों का बनना जिसके कारण पूरे वर्ष भर नदियों का प्रवाहित होना— ये सब घटनाएँ कितनी योजनाबद्ध तरीके से चल रही हैं। वृक्षों के पत्ते भूमि पर गिरते हैं, खाद बनकर फिर उन्हीं को शक्ति देते हैं। पशुओं से प्राप्त खाद खेतों में पहुँचता है जिससे भूमि उर्वरा होती है उससे सस्य पैदा होता है फिर वही वापस लौटकर पशुओं का भोजन बन जाता है। इस प्रकार पशुओं से भूमि उपकृत होती है तथा भूमि से पशु। थोड़ा सा सचेतन होते ही हमें पता चलता है कि पशु, मनुष्य, पेड़-पौधे परस्पर एक दूसरे को कैसे-कैसे अनेक रूपों में उपकृत कर रहे हैं।

किन्तु मनुष्य सर्वाधिक ज्ञानवान् होते हुए भी दुर्भाग्य से सम्पूर्ण सृष्टि या पर्यावरण के प्रति अपने कर्तव्यों या अपने अधिकारों को नहीं पहचान पा रहा है। जिसके कारण जिन कर्तव्यों का मनुष्य के द्वारा पालन होना चाहिए उनका

पालन नहीं हो पाता और अधिकारों की जिस सीमा का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए उसका अतिक्रमण होता रहता है। इस प्रकार अज्ञान के कारण मनुष्य के द्वारा सतत अपने ही विनाश के बीज बोये जा रहे हैं।

जो इस दुनियाँ में सुख से जीना चाहता है और अपने साथी भाइयों को भी सुख देना चाहता है। जिसके हृदय में यह आग जल रही है कि यह धरती स्वर्ग बने, सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो उसे 'सम्बन्ध' के इस महत्वपूर्ण बिन्दु पर सचेतन होना होगा। मनुष्य का प्रकृति या पर्यावरण से जो सम्बन्ध है, मनुष्य का मनुष्येतर मूक प्राणियों से जो सम्बन्ध है जो कि अपनी व्यथा, अपनी पीड़ा, अपने कष्ट को हम मनुष्यों की तरह बोलकर नहीं बता सकते, मनुष्य का मनुष्य के साथ जो सम्बन्ध है और फिर अन्त में मनुष्य का अपने अन्तर्वासी, सर्वान्तर्यामी देवता के साथ जो सम्बन्ध है उसे ठीक से समझकर उसका यथायथरूपेण निर्वाह करना होगा। इसके किये बिना मनुष्य जो कुछ कर ले— जेट इंजन वाले तीव्र गामी विमान बनाले, चन्द्रमा और मङ्गल का ब्योरा लेने के लिये अपने उपग्रह भेज दे, अन्तरिक्ष में अपने सेटेलाइट्स के माध्यम से देशकृत व कालकृत दूरी को समाप्त कर धरती के सब मनुष्य एक दूसरे के नजदीक आ जायें, टेक्नोलॉजी का भरपूर विकास कर ले, सागर की गहराइयों को माप कर उसके भीतर ही भीतर पुल का निर्माण कर ले, पर्वतों में लम्बी-लम्बी सुरंग बना ले, हिमप्रदेश में भी वातानुकूलित भवन बना ले, आकाश से बातें करती हुई मल्टीस्टोरीज बिल्डिंग बना ले, लीवर-हृदय-गुर्दे जैसे शरीर के संवेदनशील अङ्गों का प्रत्यारोपण कर ले, सर्वाधिक संवेदनशील अङ्ग मस्तिष्क का ऑपरेशन करने में सफल हो जाये, ये सब और बेशक इनसे भी अधिक आश्चर्यजनक करतब कर दिखाए किन्तु वह पूर्ण रूप से सुखी नहीं हो सकता। **सुख वह है जिसके बीच में दुःख की हल्की सी भी रेखा न आवे।**

बल्कि यह कहना चाहिए— जिस रीति-नीति से मनुष्य जी रहा है उसमें मनुष्य को स्वल्प सुख और महादुःख तो झेलना ही पड़ेगा या पड़ रहा है किन्तु साथ में उसके द्वारा सारी धरती के नाश के बीज भी सतत बोये जा रहे हैं, इस

बात को हमने इस लेख में कई बार दोहरा दिया है। धरती का सामान्य टेम्प्रेचर दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, इस शैली में यह मानव इस धरा पर कैसे जीवित रह पाएगा? और यह बेचारी धरती भी कब तक हमारा साथ देगी?

सो अब यह परम आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति प्रकृति व पर्यावरण के साथ अपने गलत सम्बन्ध को पहचाने और उसे ठीक करे। इसके साथ-साथ सुख से जीने के लिये पारस्परिक भावनात्मक सम्बन्धों को भी पहचाने जिसके न पहचानने से हम स्वार्थी होते चले जाते हैं, अपने को इतना महत्व दे देते हैं कि सब कुछ को अपने लिये ही समझने लगते हैं। **दूसरों का ध्यान रखे बिना, दूसरों का सम्मान किये बिना, दूसरों को सुख दिये बिना व्यक्ति कैसे सुखी रह सकता है।** सृष्टि का नियम है, एक शाश्वत सुनिश्चित चक्र है, जो हम दूसरों को देते हैं वही लोटकर हमारे पास आ जाता है।

हर वस्तु का एक 'भाव' होता है एक मूल्य होता है, मनुष्य जीवन का भी एक मूल्य (value) है और वह है सद्भाव (right feelings) प्रेम, सम्मान, विश्वास, कृतज्ञता, स्नेह, श्रद्धा गौरव इत्यादि। 'भाव' यदि है तो मनुष्य मनुष्य है अन्यथा तो वह मात्र मांस का एक लोथड़ा मात्र है। जब तक मनुष्य के केन्द्र में स्वार्थ है तब तक वह दूसरे के सुख में अपना सुख देख ही नहीं सकता है (**स्वार्थी दोषं न पश्यति**)। सम्बन्ध को स्वस्थ और मजबूत करने वाला जो सूत्र है वह है— त्याग या दूसरे को पहल। जहाँ-जहाँ भी दूसरे के लिये पहल होती है वहाँ-वहाँ मूल में सम्बन्ध होता ही है। यहाँ यह तो विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि विद्यापूर्वक सम्बन्ध ही व्यक्ति के लिये विधेय कोटि में आता है। यदि सम्बन्ध अविद्यापूर्वक हो जाता है तो ऐसा सम्बन्ध तो व्यक्ति को नीचे ही गिराता है। सम्बन्ध विद्यापूर्ण है या अविद्यापूर्ण इसकी कसौटी है सम्बन्धी के साथ राग-द्वेष-मोह का होना या न होना, दूसरे शब्दों में अधिमूल्यन-अवमूल्यन का होना या न होना। सम्बन्ध के बीच में राग व मोह आते ही सम्बन्ध का अधिमूल्यन (over-evaluation) होने लगता है और द्वेष के आते ही अवमूल्यन (under-evaluation)। अतः अधिमूल्यन या अवमूल्यन से

मुक्त जो सम्बन्ध होता है वही उचित सम्बन्ध (right-evaluation) होता है। जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ प्रायः राग-द्वेष-मोह चिपक ही जाते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को राग-द्वेष-मोह के विषय में अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता होती है कि ये सम्बन्ध के बीच में न आये। राग-द्वेष-मोह से रहित सम्बन्ध का ही दूसरा नाम है 'प्रेमपूर्ण सम्बन्ध'। कहा भी है—

अनुरक्तो गुणान् ब्रूते विरक्तो दूषणानि च ।

मध्यस्थाय नमस्तस्मै विभक्त्रे गुणदोषयोः ।।

विपरीत शब्दों के द्वारा भी किसी शब्द के अर्थ का निश्चय करने में सहायता मिलती है। सो हम इसको यँ भी समझ सकते हैं कि विद्यापूर्ण सम्बन्ध का विपरीत शब्द है— 'अहङ्कार'। अहङ्कार सदा अपनी तरफ देखता है अपने को पहल देता है, क्योंकि वहाँ व्यतिरेक की प्रक्रिया रहती है, व्यक्ति दूसरे से अपने को अलग करके विशेषरूप में देखता है और सम्बन्ध है अन्वय की प्रक्रिया, सम्बन्ध दूसरों के साथ अपने को मिलाकर एकरूपता में देखता है। अहङ्कार दशा में व्यक्ति की चाह या दृष्टि दूसरों से अपने को अलग रखने में होती है और सम्बन्ध में व्यक्ति जिसको वह अपना सम्बन्धी मानता है, उसमें अपने आपको विलीन करने की चाह या दृष्टि होती है।

संसार में जहाँ कहीं भी लोग समूह के रूप में एकत्रित हुए देखे जाते हैं वहाँ तीन स्थितियाँ बनती है— 'युद्ध', 'भीड़' व 'समाज'। जहाँ ऐसे लोगों का समूह इकट्ठा हुआ होता है जो एक दूसरे के विरोध में खड़े हुए हैं, ऐसे समूह का नाम है 'युद्ध'। ये लोग एक दूसरे के विनाश करने पर उतारु रहते हैं। यहाँ अहङ्कार, स्वार्थ आदि निम्नभाव अपनी चरम सीमा में होते हैं, ये लोग एक दूसरे के शत्रु होते हैं।

दूसरे प्रकार के लोगों का समूह ऐसा होता है जो न तो एक दूसरे का नाश करते हैं और न सहयोग। परस्पर एक दूसरे से उदासीन रहते हैं। ऐसे लोगों के समूह का नाम है 'भीड़'। तीसरे प्रकार के लोगों के समूह की यह विशेषता होती है कि वे एक दूसरे के सहयोगी या एक दूसरे के पूरक होते हैं।

सब के सब प्रेम सूत्र में एक दूसरे के साथ बँधे हुए होते हैं। ऐसे लोगों के समूह का नाम है 'समाज'।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सम्बन्ध मात्र में प्रेम-सम्मान-विश्वास-स्नेह आदि भाव अनुस्यूत रहते ही हैं। हाँ! यह भी ध्यातव्य है कि सम्बन्ध होने पर बुरा मानने जैसी स्थिति कभी भी उत्पन्न ही नहीं होती। अतः सम्बन्ध में सहयोगपूर्वक ही जीवन जीया जाता है। दो या दो से अधिक लोग जहाँ कहीं विरोधपूर्वक जी रहे हों तो निष्कर्ष रूप में यही कहना होगा कि वहाँ उनके बीच में सम्बन्ध नहीं है।

इस विषय को एक अन्य दृष्टि से भी देख सकते हैं। सम्बन्ध को आत्मतुष्टि (gratification) का साधन न मानकर यदि उसे आत्मज्ञान या आत्मविश्लेषण का साधन बना लिया जाये तो इसके द्वारा व्यक्ति आन्तरिक रूप से बहुत ही विकसित हो सकता है, एक सच्चा ज्ञानी हो सकता है, अपनी 'अहम्' की गतियों को जान सकता है। कहाँ-कहाँ मुझ में कामना, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, घृणा आदि निकृष्ट भाव पैदा हो रहे हैं, इसका पता हम परस्पर सम्बन्धों में जीते हुए आसानी से लगा सकते हैं। अकेला व्यक्ति अपने आप को कुछ भी मान सकता है, किन्तु वास्तविकता का बोध तो व्यवहार से ही होता है। व्यवहार होता है पारस्परिकता में। इस प्रकार सम्बन्ध हमारे लिये आत्मज्ञान (self-knowledge) का एक उत्तम साधन होता है अर्थात् हम जो होते हैं उत्तम, मध्यम, निकृष्ट उसका हमको ठीक-ठीक परिचय करा देता है।

अन्त में व्यक्ति का अपने अन्तर्वासी देवता, विधाता या सृजनहार के साथ जो सम्बन्ध होता है उसको समझे बिना व्यक्ति निर्दोष नहीं हो सकता। पवित्रता के लिये, अपने को शुद्ध करने के लिये, अपने सब प्रकार के दोषों से मुक्त होने के लिये व्यक्ति को अपनी ही गहराई में प्रवेश करना होता है। विरले ही लोग हैं जिनका अपने अन्तर्वासी भगवान् के साथ सम्बन्ध हो पाता है। वे ही ऋषि, ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता होकर पूर्ण दुःखमुक्त अमर जीवन जीते हैं।

सम्बन्ध केन्द्रित आनन्दमय जीवन के विषय में तेजःपुञ्ज प्रेममूर्ति

श्री पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज के विचार—

१. प्रेम, एकत्व, कृतज्ञता, कर्तव्य परायणता, स्वधर्मनिष्ठा, मर्यादा व विनयशीलता ये गौरवपूर्ण सम्बन्ध व सुख पूर्वक जीवन जीने वालों के लिए सात सत्य हैं।

२. सम्बन्धों में संवाद के दौरान हठ, दुराग्रह, अति आग्रह एवं अहं को चोट करने वाली बातों या कठोर भाषा इन चार दोषों से बचना चाहिए।

३. सम्बन्ध व सम्पत्ति में सम्बन्धों को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए।

४. पारिवारिक व आध्यात्मिक सम्बन्धों को दिव्यता के साथ निभाना चाहिए। सम्बन्धों में पलायन, उपेक्षा, मौन एवं स्वजनों को उनके प्रारब्ध पर अकेले छोड़ देना इन चार दोषों से बचकर अपने आत्मीय स्वजनों को प्रेम व एकत्व आदि दिव्य भावों के द्वारा अशुभ से बचाकर ऊपर उठाना चाहिए, उन्हें आगे बढ़ाना चाहिए।

५. हमारा पूरा जीवन या भौतिक अस्तित्व सम्बन्धों की परस्परता पर टिका हुआ है। अतः उभय सुख व शान्ति, उभय सहमति व सम्मान, उभय समृद्धि व सुरक्षा, उभय सफलता व समादर, उभय एकत्व व कृतज्ञता, उभय कर्तव्य व विनयशीलता आदि सिद्धान्तों को आचरण या व्यवहार में लाने पर ही हम सम्बन्ध पूर्वक व सुख पूर्वक जी सकते हैं।

६. हमारे सम्बन्धों की एक अन्तरङ्ग परिधि होती है और एक बाह्य परिधि। बाह्य परिधि में जटिलताएं अधिक कष्टप्रद नहीं होती अपितु वहाँ विकल्प, परिष्करण शुद्धिकरण व सशक्तिकरण की अधिक संभावना रहती है। अतः समाधान अपेक्षाकृत सरल व सहज रहता है।

अन्तरङ्ग या आन्तरिक सम्बन्धों में बहुत अधिक विवेक, विनय, संवेदनशीलता, धैर्य, क्षमा एवं अत्यन्त प्रीति पूर्वक व्यवहार या आचरण करते हुए दिव्य सम्बन्ध पूर्वक जीना होता है।

७. जीवन में हम जो भी निर्णय लेते हैं चाहे किसी भी सन्दर्भ में हों या तो वे

ज्ञान प्रधान होते हैं या भाव प्रधान। सम्बन्धों में हमारे अधिकांश निर्णय ज्ञानपूर्वक भावप्रधान होते हैं अर्थात् ज्ञानपूर्वक भावप्रधान निर्णयों से ही सम्बन्ध में हम निरन्तर प्रेम व सुख पूर्वक जी सकते हैं।

८. साधक व सात्त्विक व्यक्ति को अपने व्यावहारिक जीवन में गुरु व भगवान् के सम्बन्ध को सर्वोच्च स्थान पर रखना चाहिए। गुरु-आज्ञा व वेदाज्ञा के अनुरूप आचरण करते हुए उनके प्रियाचरण द्वारा अपने आत्म सम्बन्ध को दृढ़ करना चाहिए। यदि हमारे पारिवारिक सम्बन्ध हमारी आत्मोन्नति या जीवन की पूर्णता की प्राप्ति अर्थात् श्रेयमार्ग में बाधा बन रहें हों तो रक्त सम्बन्ध से हमें आत्म सम्बन्ध को अधिक महत्त्व देना चाहिए और विवेक वैराग्य पूर्वक समर्थ गुरुसत्ता व भागवत सत्ता के साथ अपना अखण्ड सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

९. रक्त सम्बन्ध से बड़ा होता है— आत्मसम्बन्ध। रक्त सम्बन्धों में अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अविवेकपूर्ण आचरण, स्वार्थ, अहंकार, प्रतिक्रिया, क्रोध व प्रतिशोध आदि की सम्भावना बनी रहती है या अधिकांश सम्बन्धों में आंशिक या पूर्ण रूप से सम्बन्धों में टकराव, घरेलू झगड़ा या हिंसा आदि देखने को मिलती हैं।

आत्मसम्बन्ध ईश्वरीय प्रेरणा, शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध-प्रेम व शुद्ध-आचरण या शुद्ध-पुरुषार्थ पर केन्द्रित होते हैं। अतः आत्म-सम्बन्धों में दिव्यता, अत्यन्त प्रेम व दिव्य सुख की अनुभूति होती है।

१०. हमारा सम्बन्ध मुख्यतः दो तरह का होता है एक व्यष्टिगत एवं दूसरा समष्टिगत। समष्टि माने सह-अस्तित्व। मनुष्य एवं मनुष्येतर सम्पूर्ण जड़-चेतन (जलचर, नभचर, थलचर, सूक्ष्म व स्थूल चेतन जीव, वृक्ष, वनस्पतियाँ एवं पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि) सृष्टि के प्रति विवेक, न्याय व कृतज्ञता पूर्वक मातृवत्, आत्मवत्, स्ववत् व एकत्व का व्यवहार, आचरण या पुरुषार्थ करते हुए दिव्य सम्बन्ध पूर्वक अर्थात् दिव्य सुखपूर्वक जीना।

११. वैयक्तिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक व समष्टिगत मौन एवं मुखर

सम्बन्धों के अलावा हमारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यावसायिक व अन्य वैश्विक सम्बन्ध भी अत्यन्त विवेक, विनय, न्याय व प्रेमपूर्ण होने चाहिए। सार्वभौमिक, वैज्ञानिक व पन्थनिरपेक्ष भाव से धर्मानुसार, प्रीतिपूर्वक, यथायोग्य, प्रेम व कृतज्ञता पूर्वक वेद के विधान व बाहर के संविधान तथा न्यायपूर्ण कानूनादि के अनुरूप हमें उपरोक्त सम्बन्धों का दिव्यता व गौरव के साथ निर्वहन करना चाहिए।

१२. राष्ट्रीय व वैश्विक सम्बन्धों में कुछ बातें सदा गोपनीय होती हैं परन्तु वैयक्तिक, वैवाहिक, पारिवारिक व आध्यात्मिक जीवन में कुछ भी गोपनीय नहीं रखना चाहिए। पूरी पारदर्शिता, पूर्ण भरोसा व पूर्ण विश्वास का जीवन जीना चाहिए। सत्य, प्रेम, मैत्री, करुणा व एकत्व का भाव अखण्ड रहना चाहिए।

१३. पावन तरङ्गित हृदय या मन के साथ सदा प्रशान्तचित्त व प्रसन्नचित्त, हँसते, मुस्कराते, सहज प्रसन्नता, उत्साह, पुरुषार्थ, पराक्रम, सेवा, तत्परता, प्रियाचरण, मधुर भाषण, विनय, विवेक, धैर्य, क्षमा, अक्रोध, प्रतिक्रियाशून्यता एवं अभिन्नता पूर्वक स्वभाव व सम्बन्धों में निरन्तर दिव्यता के साथ जीना चाहिए।

१४. छोटी-छोटी बातों में नोक-झोंक, छींटा-कसी, निन्दा, चुगली, एक दूसरे का झगड़ा करवाना, नाराज होना, बार-बार सार्वजनिक रूप से दोषों का कथन करना संवेदनहीनता व संवादहीनता, अनावश्यक गैर जरूरी बातों को मुद्दा बनाकर परस्पर संघर्ष करना, भिन्न-भिन्न रुचि, प्रकृति, स्वभावों, अभ्यासों का आदर न करते हुए तथा हर समय टोका-टाकी करना इन दोषों से बचकर सम्बन्धों में मधुरता को बढ़ाना चाहिए। कलर, टेस्ट, ड्रेस, केशविन्यास व अन्य ऐसे सन्दर्भ जिससे किसी की कोई हानि न हो रही हो और किसी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं हो रहा हो तो स्वतन्त्रता व परस्परता में पूरकता पूर्वक सम्बन्धों में आत्मीयता, प्रेम व सुख को बढ़ाना चाहिए।

१५. दोषपूर्ण रुचि, प्रकृति, स्वभाव एवं अभ्यास जिनसे स्वयं की व समष्टि की निरन्तर हानि हो रही है उन दोषों से अपने स्वजनों, समाज व समष्टि को बाहर निकालने के लिए माँ एवं समर्थ गुरु सत्ता की तरह उनको प्रेम, गौरव, उत्साह व प्रसन्नता पूर्वक बार-बार उनकी दिव्यता, मूल स्वभाव या मूल प्रकृति जो कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध व दिव्य है इसकी याद दिलाकर जब तक वे दोषमुक्त न हो जाएँ, पूर्ण धैर्य के साथ कुछ दिनों, महीनों व वर्षों तक सहजता के साथ पुरुषार्थ व प्रयास करना चाहिए।

१६. जब अपने स्वजन वेग या आवेश में हों तब शान्ति व धैर्य बनाकर कुछ समय सहज रहना, पीछे हट जाना तथा जब वह व्यक्ति सहज शान्त व प्रसन्न हो जाए तभी उससे प्रेम पूर्वक बात करके उस दोष से धीरे-धीरे उसे बाहर निकालना।

१७. सब में एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् को निरन्तर अनुभव करते हुए कभी भी अपने पारिवारिक व आध्यात्मिक स्वजनों का परित्याग नहीं करना। कितनी ही प्रतिकूल अवस्था क्यों न हो, कितना ही बड़े से बड़ा दोष अपने स्वजनों में क्यों न हो, कितनी ही हानि व दुःखादि हमने सहा हो, यदि हमारा प्रेम व पुरुषार्थ सच्चा होता है तो एक दिन हमारी अर्थात् सत्य की विजय अवश्यंभावी है।

१८. मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, सफलता-विफलता, सुख व दुःख आदि में स्वयं के लिए अपमान व दुःख (भौतिक रूप से) आदि को स्वीकार करके अपने स्वजनों को मान-लाभ-जय-सफलता व सुखादि देकर सम्बन्धों में सुख पूर्वक जीना।

१९. सामूहिक श्रम व सामूहिक श्रेय की स्वस्थ परम्परा को प्रोत्साहन देकर सम्बन्धों को दिव्यता पूर्वक जीना चाहिए। नेतृत्व में अतिविशिष्ट योग्यता वाले एक व्यक्ति विशेष को विशेष गौरव देते हुए अन्य सदस्यों के प्रति भी अत्यन्त प्रेम व गौरव का आत्मवत् व्यवहार रखना।

समभावपूर्वक यथायोग्य व्यवहार-सम्बन्ध में जीना चाहिए। जिसको संस्था, परिवार, समाज, राष्ट्र व विश्व में विशेष गौरव या बड़ा सम्मान दिया जा रहा है उसे सबको अत्यन्त गौरव व सम्मान देने वाला होना चाहिए।

२०. अपने पारिवारिक, संस्थागत, सामाजिक व आध्यात्मिक स्वजन प्रारब्ध, अभ्यास, संस्कार व मानवीय संवेदनाओं के कारण जब संकट या दुःख में हों तो उनको सम्बल देना, उनकी पीड़ा को समझकर उनको बलवान् करने का प्रयास करना। उनके साथ थोड़ा समय लगाकर उनको हल्का करने का प्रयास करना।

२१. अपनी सफलता व सुखादि के साथ-साथ अपने स्वजनों व समष्टि की सफलता, समृद्धि, सुख-शान्ति, सुरक्षा, सपनों व सत् संकल्पों का भी ख्याल रखना चाहिए।

२२. अपने स्वजनों व समष्टि की स्वतन्त्रता, परस्परता में पूरकता, परस्पर निर्भरता व सहयोग आदि को भार पूर्वक नहीं अपितु भाव पूर्वक स्वीकार करके सम्बन्ध पूर्वक व सुख पूर्वक जीना।

२३. अपने स्वजनों या अन्यजनों के परिचित या अपरिचित जनों द्वारा अपमान नुकसान (हानि) आदि करने पर उनके स्वार्थ, अहङ्कार, हठ, दुराग्रह व अज्ञान आदि दोषों को कारण मानकर उनके भीतर के शुद्ध चैतन्य व उनमें परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को देखकर उनको क्षमा करना और उनके सामने उचित अवसर आने पर अपना यथार्थ अभिप्राय रखना अथवा कभी न कभी तो सत्य उनके सामने आ ही जायेगा और आपके निन्दक व अहित करने वाले भी आपके प्रशंसक व हित चाहने वाले हो जायेंगे।

२४. अपने बड़ों व समानदायित्व वालों से सीधा संवाद रखकर परस्पर सम्मान, सुख व दिव्य सम्बन्ध पूर्वक जीना। यदि संकोचवश अपनी बात माता-पिता, गुरु या बड़ों से नहीं कह पा रहे हैं केवल तभी किसी अन्य को माध्यम बनाना। आत्मीय सम्बन्धों (घनिष्ठ सम्बन्धों) व बराबर के सम्बन्धों में हम सब भी अन्य माध्यमों को स्वीकारना पसन्द नहीं करते।

२५. टाइप ऑफ वर्क एण्ड साइज ऑफ वर्क अर्थात् कार्य के प्रकार व आकार को देखकर कभी भी किसी का हीन मूल्यांकन नहीं करना। भौतिक रूप से मूल्यांकन में प्रकार व आकार को देखकर आर्थिक, सामाजिक आदि मूल्यांकन कम या अधिक हो सकता है किन्तु आध्यात्मिक व पारमार्थिक रूप से तो भगवान् हमारी निष्कामता, दिव्यता या आप्तकामता को ही देखते हैं। सब प्रसङ्गों में सबसे आत्मवत् व्यवहार, आत्मवत् गौरव का सम्बन्ध रखकर सदा प्रसन्नता व दिव्यता के साथ जीना। अन्यो के अधिमूल्यन या अवमूल्यन करने पर भी खुद वैसा नहीं करना। भागवत सम्बन्ध या ब्रह्म सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध, सर्वोच्च या दिव्य सम्बन्ध है। यदि सब सम्बन्धों के मूल में यह बना रहेगा तो सब सम्बन्ध भी हमारे दिव्य ही होंगे।

दूसरे शब्दों में सम्बन्ध ही जीवन है या ब्रह्मसम्बन्ध ही जीवन है। ब्रह्मसम्बन्ध होने पर हम अन्तःप्रेरणा, अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेम व अन्तःशक्ति से युक्त रहकर, अकाम रहकर या आत्मकाम या ब्रह्म काम रहकर ब्रह्मकर्म या दिव्यकर्म करते हैं, यही सम्यक् जीवन है।

हमारा बाह्य व आन्तरिक अथवा भौतिक व आध्यात्मिक सम्पूर्ण अस्तित्व सम्बन्धों पर ही टिका है। जब हम होते हैं तो हमारे दृश्य (शरीर, इन्द्रिय, मन तथा समष्टिगत भौतिक द्रव्य) तथा अदृश्य (आत्मा व परमात्मा रूप अभौतिक शाश्वत सत्ता) के साथ सम्बन्ध अपरिहार्य रूप से सदा रहता ही है। यह सम्बन्ध जब अज्ञान पूर्वक होता है तो दुःख का कारण बन जाता है तथा जब यह सम्बन्ध परमात्मा की शुद्ध आत्मप्रेरणा, अन्तर्ज्ञान (दिव्य प्रेम) एवं अन्तः शक्ति (दिव्य सामर्थ्य, पुरुषार्थ) पर आधारित होता है तो यही हमारे सांसारिक व पारमार्थिक सुख शान्ति आनन्द या अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन बन जाता है।

संसार में हमारे संबन्ध दिव्य सुखमय हों, भगवान् के साथ भी हमारा दिव्य सम्बन्ध अखण्ड बना रहे तथा सब के सब सम्बन्ध केन्द्रित आनन्दमय जीवन जीयें यही प्रभु से प्रार्थना है।

११. मतः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्त

(सबको अभयदान)

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार मानव जीवन के विकास के चार सोपान सुनिश्चित किये गये, उनमें से जो अन्तिम सोपान है उसका नाम रखा गया— ‘संन्यास’ अर्थात् सर्वस्व त्याग। त्याग किसका? जो हमारे पास है, किसी भी उपाय से हमारा ‘स्व’ हो गया है, किसी ने हमको दे दिया है, हमने अपने पुरुषार्थ से अर्जित किया है, जिसको हम अपना कह रहे हैं या मान रहे हैं और आगे चलते-चलते जो हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा बन गया है— ‘मैं’ ही बन गया है।

इस प्रक्रिया में कुछ चीजें तो ऐसी होती हैं जो जन्म के साथ ही हमें मिलती हैं— माता-पिता व अन्य सम्बन्धी जन, मन-बुद्धि-प्राण-इन्द्रियों का संघात यह शरीर, रूप-रंग, माता-पिता के द्वारा अर्जित की हुई सम्पत्ति, साधन-सामग्री इत्यादि। इन सबके अलावा कुछ ऐसी चीजें भी होती हैं जो समाज, परिवेश, विद्यालय, साथियों, गुरुजनों के सम्पर्क में आने पर हमें प्राप्त होती हैं— मातृ-भाषा के अतिरिक्त दूसरी-दूसरी भाषाओं का ज्ञान, विविध विद्याओं, अनेक प्रकार की योग्यताओं व क्षमताओं का विकास, शिल्पकलाओं (skills) में प्रवीणता, वक्तृता व लेखनकला में निपुणता इत्यादि। इस विकास क्रम में अनेकानेक नैतिक गुणों, सदगुणों (Virtues) की भी प्राप्ति होती रहती है, सेवा आदि से सामाजिक यश-कीर्ति भी मिलती है। जीवन के इन उपर्युक्त सभी घटकों का कुलयोग ही हमारा ‘व्यक्तित्व’ होता है। दूसरों के मन-मस्तिष्क पर हमारे उस व्यक्तित्व की एक छवि (Image) बन जाती है। इस छवि के अच्छे-बुरे दोनों रूप हो सकते हैं। उसमें से दूसरों के द्वारा निर्मित हमारी बुरी छवि को तो हम छोड़ देते हैं, वह हमें पूर्णतः स्वीकार नहीं होती किन्तु अच्छी छवि को हम स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् हमारे बारे में दूसरों की मान्यता के अनुसार हम भी अपने को वैसा ही मानने लगते हैं। यह हम सबके जीवन का एक सामान्य क्रम है। साधकों की भाषा में इसे

हम ‘अहम्’ (Ego) या योगदर्शन में उपवर्णित पाँच क्लेशों में से एक प्रमुख क्लेश ‘अस्मिता’ के रूप में इसे जानते हैं।

संन्यास आश्रम में दीक्षित होते समय सर्वस्वत्याग की प्रक्रिया में व्यक्ति को ‘एकै साधे सब सधे’ इस नियम के अनुसार इस ‘अहम्’ की ही आहुति देनी होती है। क्योंकि संन्यास अर्थात् त्याग, फिर वही प्रश्न कि त्याग किसका? तो ऋषियों ने कहा अपने ‘अहम्’ का अर्थात् अपने ‘मैं’ का या ‘मेरे’ का। हम सांसारिक वस्तुओं को आवश्यकतानुसार प्राप्त तो करें पर उन वस्तुओं में आसक्त न हों। उनके साधन भाव को दृष्टि से ओझल न होने दें, सतर्क रहें कहीं साधन साध्य न बन जाये। उन वस्तुओं के साथ मेरेपन का घनिष्ठ सम्बन्ध न बना बैठें। जो कुछ प्राप्त हुआ या प्राप्त होता है अथवा जो कुछ प्राप्त किया या प्राप्त करते हैं उस सबका प्रभु के चरणों में समर्पण करते रहें। पदार्थों व क्रियाओं के न्यासी (ट्रस्टी) बनकर रहें न कि उनके मालिक। ‘अहम्’ या ‘अस्मिता’ की अपने अन्दर ग्रन्थी न बनने दें ताकि प्रिय से प्रिय वस्तु भी छूटे तो हमारे हृदय-समुद्र में दुःख की छोटी सी भी लहर पैदा न होने पाए। किसी वस्तु व्यक्ति या विचार के साथ सम्बन्धित होने या न होने में एकसम बने रहें साक्षी (witness) या उदासीन (Indifferent) या तटस्थ द्रष्टा (seer) बने रहें।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है— ‘स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मालोकम्’। (१९.७१.१) इस मन्त्र में ‘मया’ और ‘मह्यम्’ के द्वारा एक ही सत्य का संकेत हुआ है। आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण (धन), ब्रह्मवर्चस (ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान) ये सब व्यक्ति के द्वारा जीवन में पाने की चीजें हैं। वेदमाता ने प्राप्तव्य चीजों की सूची हमारे समक्ष रखी है और साथ में यह भी कह दिया कि ये सब चीजें अपने पास नहीं रखनी, यहाँ तक कि ब्रह्मवर्चस भी। अपने पास रखने का अर्थ है— अपने अहं को पुष्ट करना। अर्पित कर देने का अर्थ है— निरहं (निरहङ्कार व निर्मम) हो जाना। इसके अतिरिक्त ब्रह्मालोक में जाने का कोई रास्ता नहीं है। सो संन्यास धर्म में दीक्षित होता हुआ संन्यासी अपने ऊपर ओढ़े हुए सभी लिबासों को उतार रहा है।

भारत के किसी एक मन्दिर में देवता के दर्शन हेतु नग्न होकर मन्दिर की गर्भगुहा में प्रवेश करने का प्रतीकात्मक संकेत बनाया गया जो इस उपर्युक्त तथ्य का ही संकेत कर रहा है कि भगवत् मिलन के लिए अपने जीवन को भी इसी तरह गढ़ना होगा। प्राचीन भाषा में आत्म-साक्षात्कार को 'कैवल्य' इस अन्वर्थ नाम से जो अभिहित किया है वह भी इसी ओर संकेत कर रहा है। कैवल्य अर्थात् अकेला हो जाना; समस्त प्रपञ्च से अपने मन को हटा लेना, समस्त दृश्य से अचाह हो जाना, देहात्मभाव से रहित हो जाना, अपनी या अपने बारे में निर्मित हुई पूर्व छवियों का त्याग कर देना और आगे के लिये अपनी कोई भी छवि न बनाना। जो अकेला हो जाता है वही फिर सर्वगत सत्य के साथ एक हो सकता है। और जो साधक अकेला (केवल) होने की कला सीख लेता है वही निर्भय, सर्वथा निर्भय रह सकता है। अकेले को कौन डरा सकता है? डरने के लिए ऐसा कुछ पास में होना चाहिए (मनोवैज्ञानिक रूप से या भौतिकरूप से) जिसके छिन जाने की आशंका हो या फिर कुछ पाने की चाह हो और उसमें कोई बाधा उपस्थित होने की संभावना दिखाई देने लगे तो भी भय हो सकता है, किन्तु जिसने वस्तु, व्यक्ति, विचार और यहाँ तक कि अपने शरीर से भी तादात्म्य हटा लिया हो तो अब उससे कोई क्या छीनेगा? और वह क्यों किसी से बाधित होगा? बाधा के लिये द्वैत चाहिये क्योंकि द्वैत में ही किसी भी कामना का जन्म होता है और फिर उसे पूरा करने के लिये प्रयास होता है। लौकिक स्तर पर विशेष बनने के लिये किये गये प्रयास को कोई न कोई बाधित कर ही देता है। जो प्रयास अपने द्वारा अपने में किये जाते हैं, केवल वे ही किसी अन्य के द्वारा बाधित नहीं किये जा सकते।

इसी बात को दूसरी तरफ से कहें तो कहना होगा जो सर्वभूतात्मभाव रूप ज्ञान की ऐसी दृढ़ स्थिति में रहता है जिसका अपना पराया कुछ बचा ही नहीं, अब वह किससे डरेगा और क्यों डरेगा; श्रुति कहती है— **द्वितीयाद् वै भयं भवति** (बृह० १.४.२) अर्थात् दूसरे से ही भय होता है। मनु के द्वारा दिया गया सर्वभूतात्मभाव का संदेश भी यहाँ द्रष्टव्य है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ।।१२.११।।

अर्थात् सब भूतों में आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में समान रूप से देखता हुआ आत्मयाजी स्वाराज्य अर्थात् अपने आन्तरिक राज्य को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य चरक ने भय के कारणों पर विचार करते हुए सूत्ररूप में एक वचन बोला— '**असमर्थता भयकराणाम्**' भयदायक जितने भी हेतु हो सकते हैं उनमें '**असामर्थ्य**' प्रकृष्टतम है। जो व्यक्ति ज्ञान में, बल में, धन में, जनसमर्थन में, विद्या में, वक्तृता में, गुणों में बढ़ा हुआ है वह किसी से क्यों डरेगा? दूसरी तरफ जो सर्वथा अकाम हो गया है, जिसको किसी से कुछ चाहिए ही नहीं तो निश्चित ही ऐसा व्यक्ति भी क्यों भयभीत होगा? क्योंकि कामना ही अपूर्णता को प्रकट करती है। अकाम व्यक्ति सदा ही अपने अन्दर से भरा-पूरा रहता है, वह क्यों किसी से भी किसी चीज की इच्छा करेगा? जैसा कि किसी ने कहा भी है— 'हम को कछु न चाहिए हम हैं शहंशाह'। सो ऐसा व्यक्ति किसी से क्यों डरेगा? असमर्थ अवस्था में ही व्यक्ति अपने आपको भयभीत पाता है। डायबेटिक व्यक्ति ही मीठे से डरेगा, स्वस्थ व्यक्ति क्यों डरेगा। किसी व्यक्ति ने अभी-अभी अपना व्यसन छोड़ा है, वह व्यसन को जगाने वाले अनुकूल आलम्बन से अवश्य भयभीत होगा। किन्तु जिसके संस्कार दग्ध बीज हो गये वह क्यों भयभीत होगा। कारण उस विषय में उसकी कमजोरी समाप्त हो गयी है किसी भी विषय में भय कमजोरी को और निर्भयता मजबूती को प्रकट करती है। यदि निर्बल लोगों के समक्ष कोई बलवान् अपनी किसी प्रकार की शक्ति का प्रयोग करे— राजशक्ति, धनशक्ति, पदशक्ति, मन्त्रशक्ति, तर्कशक्ति, विद्याशक्ति, शारीरिक शक्ति, मनःशक्ति इत्यादि चाहे जो भी हो तो निर्बल व्यक्ति का भयभीत होना स्वाभाविक है कि यह मेरा कुछ छिन लेगा, मेरा शोषण करेगा, मुझे दबायेगा। पर संन्यासी का कोई क्या छीनेगा जिसका अपना कहा जाने योग्य कुछ है ही नहीं, कुछ बचा ही नहीं। जो समस्त परिग्रह का त्यागकर सर्वथा 'अपरिग्रही' हो गया है तथा आगे के लिये भी किसी भी

वस्तु-व्यक्ति-विचार के संग्रह को स्थान नहीं देना चाहता।

यहाँ तक हमने हेतुसहित इस बात का उपपादन किया है कि वह संन्यासी स्वयं में कैसे अभय रहता है? अब इस बात पर विचार करते हैं कि वह दूसरों को भी कैसे अभय रखता है? वस्तुतः दूसरों को अभय करने का राज उसके अचाह होने में ही छिपा हुआ है। दूसरे शब्दों में स्वयं के अभय होने में ही छिपा हुआ है क्योंकि जो डरेगा वह डरायेगा भी। संन्यास दीक्षा के समय संन्यासी के मुख से दो बार एक वाक्य का उच्चारण कराया जाता है— **‘पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु’**। इसी प्रकार दूसरी बार— **‘ओं भूः संन्यस्तं मया। ओं भुवः संन्यस्तं मया। ओं स्वः संन्यस्तं मया। ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा’**। अर्थात् मुझ से सब भूतों के लिए अभय हो। मैंने भूलोक, अन्तरिक्षलोक और तुलोक के पदार्थ और उनकी इच्छाओं को छोड़ दिया है। मुझसे प्राणिमात्र के लिए अभय हो।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि दूसरों को अभय करने का अपनी एषणाओं या इच्छाओं का त्याग करने से क्या सम्बन्ध है? बात ऐसी है कि धन, बल, पद, प्रतिष्ठा, राजनैतिक शक्ति के लिये जिन लोगों की दौड़ है, संन्यासी ने उस दौड़ से अपना हाथ वापस खींच लिया है। किसी दौड़ में दौड़ने वाले अपने साथियों से ही दौड़ने वालों को परस्पर एक दूसरे से भय प्रतीत होता है न कि दर्शकों से। उन दौड़ने वाले लोगों में से भी वे ही लोग दूसरों से भयभीत होते हैं जो अपने को कमजोर पाते हैं, जो बहुत ही सशक्त हैं वे तो क्यों डरेंगे। किन्तु सांसारिक वस्तुओं (धन, बल, पद, प्रतिष्ठा, शक्ति) की इस दौड़ में सेर को सवासेर मिल ही जाते हैं। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि अब मेरे से कोई आगे निकल ही नहीं सकता। अतः एक बार जो कोई दौड़ में सम्मिलित हो गये उन सभी का अपने साथियों से भयभीत होना अवश्य-भावी है।

जो व्यक्ति लौकिक स्तर पर खड़ा है वह दूसरे किसी को भी अपने से आगे निकल जाने में अपनी हानि देखता है। लोक में कोई भी व्यक्ति अपने को पीछे नहीं देखना चाहता है। लोक का यह संघर्ष सर्वजनविदित है और सर्वजनसंवेद्य है। लौकिक व्यक्ति यही चाहता है— पुत्र से, शिष्य से, धन से,

बल से, पद से, प्रतिष्ठा से, शक्ति से मेरे ही नाम का सिक्का चले, मैं सबसे विशेष समझा जाऊँ, किसी भी उपाय से या शिष्ट सम्मत उपायों से मैं सबसे आगे निकलूँ। सबसे आगे निकलने में उसे सर्वातिशायी प्रसन्नता की अनुभूति होती है। संन्यासी अपनी इच्छा से संसार की इस दौड़ से अपने आपको अलग कर रहा है। वह सबको अभयदान दे रहा है कि ऐ संसार के लोगो! मैं अब आप लोगों की किसी प्रकार की हानि नहीं करूँगा। मैं आप लोगों के साथ किसी भी स्पर्द्धा में भाग नहीं लूँगा। किसी भी हेतु से आप लोगों के बीच अपने आप को विशेष सिद्ध करना नहीं चाहूँगा। जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये जिन शाश्वत नियमों को मैंने समझा है केवल आप सबके समक्ष उनका प्रकाश करूँगा। इस भागवत कर्म के द्वारा भी किसी की अपेक्षा अपने आपको विशेष सिद्ध करने का प्रयास नहीं करूँगा।

इच्छा परस्पर के भय में कैसे निमित्त बनती है? इस विषय को थोड़ा और भी फैलाकर देखने का प्रयास करते हैं— जैसे किसी ने किसी को कुछ धन-राशी उधारी दे दी, किन्तु निर्धारित समय पर उसने लौटाया नहीं, ज्यों-ज्यों यह अवधि लम्बी होती जाती है तो अब उसे डर लगने लगता है कि कभी वापस न लौटाए? यदि वह वापस लेने की इच्छा न रखता तो क्यों भय उत्पन्न होता? दूसरी तरफ ऋणदाता को देखते ही ऋण-ग्रहीता को भी भय लगने लगता है कि कहीं पैसे मांगने न लगे। कुछ अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं जैसे जब कोई एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से आगे निकलना चाहता है, तो परस्पर दोनों ही एक दूसरे से भयभीत रहते हैं, एक राजनेता दूसरे राजनेता से, बेशक वह उसी की पार्टी का है, सदा भयभीत रहता है कि इस पद के लिये वह आगे न आ जाये। एक शब्द में कहें तो सभी अपने प्रतिस्पर्द्धी (Competitor) से भयभीत रहते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा संन्यासी ने जब इच्छा मात्र का ही त्याग कर दिया तो उसका सीधा सा अर्थ है कि अब वह न तो किसी लौकिक पद-प्रतिष्ठा के लिये, न धन के लिये और न ही पुत्रों या शिष्यों के निमित्त से कुछ करना चाहता है। वह किसी भी क्षेत्र में किसी के साथ प्रतिस्पर्द्धी बनकर नहीं

जीना चाहता। अर्थात् न तो वह पुत्र या शिष्यों के आधार पर अपने को दूसरों से विशेष सिद्ध करना चाहता है; न धन, साधन-सामग्री, सामान, आश्रम आदि के आधार पर; न किसी शक्ति, पद-पुरस्कार आदि के निमित्त से ही, अभी ऊपर हमने इस तथ्य का अच्छे से परीक्षण किया। एक अर्थ में संन्यासी इस सर्वस्व त्याग की प्रक्रिया में अपने आपको ऐसा तैयार करना चाह रहा है कि संसार में आगे बढ़ने के लिये जिस स्पर्द्धा को एक विशेष स्थान प्राप्त है अब उसका मेरे जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

आखिर यह स्पर्द्धा है क्या? एक-एक क्षेत्र में दूसरों से आगे निकलने के लिये किया गया प्रयास। व्यक्ति के अन्दर अहङ्कार की यह विशेष मांग होती है कि वह पदार्थ से, किसी हुनर से, धन से, बल से, सम्मान से, जनशक्ति से, विद्या से, उपाधियों से, किन्हीं विशिष्ट गुणों से, किन्हीं विशिष्ट कार्यों से, किसी विशिष्ट रचना से, किसी विशिष्ट क्षेत्र में विजय से, अपने आप को दूसरों की तुलना में विशेष सिद्ध करके दिखाए। संन्यासी इस सब से ऊपर उठ जाता है। हाँ! यदि संन्यासी के मन में भी यह कामना है कि मैं संसार में एक विशेष संन्यासी के रूप में पहचाना जाऊँ तो फिर यह भी एक लौकिक कामना ही हो जाती है और इसके द्वारा वह इसी स्तर पर जीने वाले दूसरे संन्यासियों के लिये भय पैदा करने में कारण बनेगा और स्वयं भी दूसरों से भयभीत रहेगा। संन्यास (त्याग) एक ऐसी इच्छामुक्त पूर्ण स्थिति है कि इसमें दूसरों के समक्ष अपने आप को प्रमाणित करना नहीं होता, केवल स्वयं ही अपने द्वारा अपना आकलन करते हुए अपने ऊपर कार्य करना होता है। देहात्मभाव से ऊपर उठकर सर्वात्मभाव को सतत जागरित करना होता है। हाँ! यदि किसी संन्यासी के शुद्ध जीवन से दूसरे उसके अज्ञानी साथी ईर्ष्या करने लगते हैं और उससे अपने आप को असुरक्षित महसूस करते हैं तो यह उस सच्चे संन्यासी का दोष नहीं, बल्कि उन अज्ञानियों का ही दोष कहा जायेगा।

यदि इस विषय की ध्यान से छानबीन की जाये तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि हमारे अस्तित्व में तीनों एषणाओं का केन्द्र कोई है तो वह है 'अहंकार'। और यह एक सुनिश्चित नियम है कि अहंकार वहीं तक दूसरों की मदद करता

है या करना चाहता है जितनी मदद करने से उसकी अपनी वृद्धि होती रहे। सो अहंकार जब अपनी इच्छा पूर्ति के लिए निकलता है तो यह नहीं देख पाता कि किसका शोषण हो रहा है, किसकी हिंसा हो रही है, किसकी आर्थिक हानि हो रही है, किसका सम्मान कम हो रहा है या अपमान हो रहा है इत्यादि। बस वह तो किसी भी माध्यम से अपने को ही प्रतिष्ठापित करना चाहता है। अहंकार-मुक्त, कामना-मुक्त, इच्छा-मुक्त संन्यासी किसी का शोषण, हिंसा, हानि, अपमान आदि कर ही नहीं सकता, क्योंकि ये सारे दुष्कर्म तो अशुद्ध इच्छा या विकृत इच्छा को पूर्ण करने के लिये ही किये जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया कि उसकी किसी के साथ किसी प्रकार की स्पर्द्धा शेष नहीं बची, कोई इच्छा शेष नहीं रही तो अब उसे पूरा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि इच्छा-मुक्त संन्यासी इस अज्ञान की स्थिति में एक क्षण के लिये भी नहीं फँसता इसलिये वह दूसरों को भय प्रदान करने में हेतु नहीं बनता और स्वयं भी निर्भय बना रहता है। इस प्रकार दूसरों को अभय दान देने के लिए कामनाओं या अपने अहंकार से मुक्ति पाना अत्यन्त आवश्यक है। धम्मपद में भी भय के कारणों की खोज करते हुए कहा है—

कामतो जायते शोकः कामतो जायते भयम्।

कामतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतोभयम्।। (धम्मपद)

किसी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा या प्राप्त को बनाए रखने की इच्छा ही काम है। काम से शोक की उत्पत्ति होती है; क्योंकि काम्य वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ने पर अथवा काम्य वस्तु के विनष्ट होने पर शोक का अनुभव होता है। काम्य वस्तु के नाश की सम्भावना होने पर काम से भय की उत्पत्ति होती है। कामनारहित पुरुष को न शोक होता है न भय; क्योंकि शोक एवं भय का कारण काम (कामना) वहाँ नहीं है। अतः साधक को काम का त्याग कर देना चाहिए।

अब इस विषय में यह खोज तो की जा सकती है कि व्यक्तियों की वे कौन सी मूलभूत कामनाएँ हैं जिनमें बाधा पड़ने से भय उत्पन्न हो जाता है—सम्मान, सुरक्षा, अर्थ (साधन-सामग्री, रुपया-पैसा), किसी क्षेत्र में विजय,

कोई पद इत्यादि को उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है। इन बिन्दुओं पर व्यक्ति यदि जागरूक हो तो वह उन सब कामनाओं को प्रमुखता देने वाले लोगों को उक्त विषयों में निर्भयता प्रदान कर सकता है। फिर ऐसे व्यक्ति से सब लोग आश्वस्त हो जाते हैं या निर्भय रहते हैं कि इस व्यक्ति से हमें कोई डर नहीं। शीलवान् निःस्पृह व्यक्ति ही ऐसी शालीन मनःस्थिति से युक्त जीवन जी सकता है कि वह किसी को भी भय प्रदान न करे।

इस प्रकार एक ऐसा संन्यासी जो किसी से कुछ चाह ही नहीं रहा, उसके लिए ऐसा कौन सा हेतु हो सकता है कि वह किसी से भयभीत हो या उसके कारण किसी को भय प्राप्त हो? कुछ भी नहीं। निष्कर्ष यह निकला कि सामान्य स्थिति में व्यक्ति किसी से डरता है तो किसी को डराता है। 'कामना, भय, क्रोध और लोभ' संसार के ये मूलभूत बन्धन हैं, संन्यासी इन सब बन्धनों को काटकर मुक्त हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में सदा 'अभय' रहना इसे एक दैवी सम्पत्ति कहा है तथा भगवान् के भक्त के स्वरूप का चित्रण करते हुए कहा है 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः'। (१२.१५) अर्थात् **भगवान् के भक्त का एक प्रमुख लक्षण है कि जिससे कोई भयभीत नहीं होता**, क्योंकि दूसरों के जीवन में उसने व्यक्तिगत रूप से हस्तक्षेप करना छोड़ दिया है, दूसरों के साथ उसकी स्पर्धा समाप्त हो गयी है। जैसे किसी प्रसिद्ध खिलाड़ी ने खेल से संन्यास ले लिया, अब उसके साथी उससे क्यों भयभीत होंगे या एक उच्चकोटी के राजनेता ने राजनीति से अपने को मुक्त कर लिया, तो उसके साथी उससे तत्काल निर्भय हो जाते हैं। एक उद्योगपति उद्योग जगत् से मुक्त होकर संन्यासी बन जाता है, पहले जो उसके साथी उससे भयभीत रहते थे वे सब अब भयमुक्त हो जाते हैं। किसी चुनाव में एक सीट के लिये पाँच उम्मीदवार हैं, सब एक दूसरे से भयभीत रहते हैं। उनमें से अपनी इच्छा से कोई एक या दो अपने को withdraw कर लेते हैं तो उनसे अन्य सब निर्भय हो जाते हैं। इसी प्रकार वह स्वयं भी किसी से भयभीत नहीं होता है, क्योंकि वह किसी से भी किसी भी प्रकार के सुख की अपेक्षा नहीं रखता। सुख की चाह के साथ भय सदा ही अविनाभाव रूप से सम्बद्ध रहता है।

मनुष्य के अन्दर जितना-जितना ज्ञान बढ़ता जाता है, उस के अनुपात में ही उसमें लेने का भाव कम और देने का भाव अधिक होता जाता है। यदि विचार किया जाये कि मनुष्य दूसरों के लिये या अपने ही साथी भाइयों के लिए क्या-क्या दे सकता है तो बहुत सारी चीजें गिनाई जा सकती हैं— धन, वस्तु, उनके कार्यों का समर्थन (एक प्रकार का प्रोत्साहन), विद्या, शिक्षा-संस्कार, सेवा, पथ-प्रदर्शन, समयदान और अभयदान। इन सभी दानों का अपना-अपना महत्त्व है। कुछ दानों में पदार्थ दिया जाता है, कुछ में ज्ञान और कुछ में भाव। अभयदान एक उच्चकोटि का भाव है जिसका दान करने के लिए न पदार्थ की आवश्यकता होती है न समय की, केवल मन का एक विशेष भाव बनाना होता है। संन्यासदीक्षा में इसी उच्च भाव को सब प्राणियों तक फैलाने की बात कही गई है। यदि कोई दूसरे का ध्यान रखना प्रारम्भ कर देता है, दूसरे से प्रेम करता है, दूसरे का अपमान नहीं करता, बदले का भाव न रखकर सहयोग करता है, निःस्पृह रहता है, दूसरे के अपव्यवहार से खिन्न नहीं होता, प्रतिशोध का भाव भी मन में नहीं लाता, दूसरे के साथ स्पर्धा नहीं करता तो समझना होगा कि व्यक्ति के द्वारा अभयदान देना आरम्भ हो गया है। अभयदान देने के लिए एक तरफ मन की पूर्ण द्वेषरहित स्थिति, तो दूसरी ओर अहेतुक प्रेमपूर्ण स्थिति का होना अनिवार्य है, यही संन्यास की परम स्थिति है, जिसका फल है **“मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु”**। संन्यस्त व्यक्ति का संकल्प है कि न तो मैं किसी भी विषय में किसी के साथ स्पर्धा के भाव में जीऊँगा, न किसी की सत्ता, सम्पत्ति या सम्मान में बाधा डालूँगा, प्रत्येक विषय में अपने लिए दूसरों से निरपेक्ष रहूँगा, अचाह रहूँगा, केवल जिज्ञासुओं की या दुःखियों की अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य से सेवा करता रहूँगा इत्यादि। मनु ने कहा है— **‘यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः’** (६.३९) जो सब भूतों को अभयदान देकर घर से निकल पड़ता है, ऐसे उस ब्रह्मवादी के ही सब तेजोमय लोक होते हैं, वह उन सब प्रकाशमय लोकों को प्राप्त कर लेता है। **‘यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्तोत्पद्यते भयम्। तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन’** (६.४०) अर्थात् जिस श्रेष्ठ ब्राह्मण से सभी भूतों को थोड़ा सा भी भय उत्पन्न नहीं होता, उस देह से मुक्त हुए संन्यासी को भी कहीं से भय प्राप्त नहीं होता।

यहाँ एक बात पूछी जा सकती है कि समाज में प्रचलित किसी असत्य के निराकरण प्रसङ्ग में उस-उस असत्य के साथ चिपके हुए लोग, उस-उस असत्य से जीवन चलाने वाले लोग इस संन्यासी से भयभीत होते हैं तो संन्यासी की तरफ से उनको अभय कैसे किया जा सकता है? वस्तुतः संन्यासी उन लोगों को भय-प्रदान करने के लिये कुछ भी नहीं कर रहा है। उस असत्य के निराकरण के द्वारा वह अपना गौरव बढ़ा रहा हो, अपने को कुछ विशेष सिद्ध करके दिखा रहा हो— ऐसा भी नहीं है। ऐसे प्रसङ्गों में इस संन्यासी का अभिनय एक चीर-फाड़ करने वाले सर्जन जैसा होता है। जैसे सर्जन रोगी की चीरफाड़ रोगी को दुःख देने के लिये नहीं करता, बल्कि उसके शरीर को जीवन देना चाहता है। उसी प्रकार संन्यासी भी सम्पूर्ण अस्तित्व को एक शरीर के रूप में देखता है। कुछ अज्ञानी लोगों का अज्ञान रोग के रूप में इस सम्पूर्ण अस्तित्व रूपी शरीर को खाने लगता है, ऐसे में यह संन्यासी केवल करुणावश उस रोग को समाप्त करने के लिये उपचार का वह कठोर रास्ता अपनाता है। चिकित्सा में जैसे अन्य उपायों से रोग ठीक होता नहीं दिखाई देता तभी ऑपरेशन किया जाता है या ऑपरेशन की सलाह दी जाती है, वैसा ही असत्य के निराकरण हेतु संन्यासी के द्वारा किया गया उपचार (उपाय) का क्रम होता है। पर देखने की बात यह है कि जैसे बहुत बार रोगी चिकित्सक की पिटाई कर देता है, उसके ऊपर थूक देता है, उसको अपशब्द बोलने लगता है। किन्तु एक अच्छा चिकित्सक कभी भी रोगी के अपव्यवहार से दुःखी या परेशान नहीं होता बल्कि धीर-गम्भीर-शान्त रहते हुए प्रेमपूर्वक अपने चिकित्सा कार्य में जुटा रहता है, न तो रोगी से भयभीत होता है और न उसे भयभीत करता है। संन्यासी के साथ भी वही सब कुछ होता है बल्कि संन्यासी को तो अपने इस महान् श्रम-साध्य कार्य में और भी ज्यादा कष्ट उठाने पड़ते हैं। ऐसे भी मानसिक रोगी होते हैं जो बहुत बार संन्यासी को प्राणों से ही वियुक्त कर देते हैं किन्तु फिर भी वह उनके लिये अपने शुभ-आशीर्वाद ही देता रहता है। ईसा, सुकरात, मार्टिन लूथर, गैलिलियो, दयानन्द इत्यादि कितने सारे उदाहरण इस दिशा में उक्त सत्य को प्रमाणित कर रहे हैं।

१२. भय और अभय

- जिसने अनात्म (शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-विद्या-योग्यता, इच्छायाँ-भावनायाँ-कीर्ति-प्रशंसा, साधन-सामग्री-धन-वैभव-आश्रम) को आत्म (मैं) मान लिया है, वह अवश्य ही इनकी वृद्धि से प्रसन्न होगा और इनके विनाश की सम्भावना में भयभीत भी होगा तथा विनाश होने पर दुःखी होगा। अनात्मा को आत्मा मानने का यह स्वाभाविक परिणाम है।
- जहाँ कहीं भी व्यक्ति को भय का आभास होता है उससे वह अपनी सुख के प्रति आसक्ति को खोज सकता है। सुख में बाधा की कल्पना आते ही भय शुरू हो जाता है।
- भयमुक्त होने के लिये व्यक्ति को अनात्म के साथ अपने तादात्म्य को समझना होगा। यदि कोई अनात्म से अपने आपको मुक्त कर सकता है तो निश्चित ही भय से भी मुक्त हो जायेगा।
- भय दो प्रकार के होते हैं— शारीरिक और मानसिक। शारीरिक भय वे हैं जो शरीर की पीड़ा, रोग या मृत्यु से सम्बन्ध रखते हैं। मानसिक भय हमारे भीतर मन में पैदा होते हैं। जैसे कोई व्यक्ति हम से नाराज हो जाता है, किसी प्रियजन का हम से वियोग हो जाता है, सब के बीच में हमारा कोई अपमान कर देता है, व्यापार में आर्थिक हानि हो जाती है इत्यादि। शारीरिक भयों के साथ मानसिक भय भी स्वाभाविक रूप से जुड़े रहते हैं कि अब क्या होगा? यदि सूक्ष्म अवलोकन किया जाये तो व्यक्ति को जीवन में मानसिक भय ही अधिक सताते रहते हैं। यदि व्यक्ति अपने आपको पहले ही सब परिस्थितियों के लिये तैय्यार करता रहे तो प्रत्येक भय से मुक्ति पाई जा सकती है।
- आखिर ये अनेकानेक भय मनुष्य को क्यों सताते हैं? अज्ञानवश मनुष्य अपने आपको देहेन्द्रियों के संघात एक विशिष्ट सत्ता, एक विशिष्ट इकाई के रूप में देखता है। इस इकाई के साथ कभी अनुकूल वस्तु-व्यक्ति-विचार व परिस्थिति का संयोग होता है कभी वियोग। इसी प्रकार प्रतिकूल वस्तु-व्यक्ति-

विचार व परिस्थिति का भी संयोग-वियोग होता रहता है। अनुकूल का संयोग सदा इष्ट होता है और वियोग अनिष्ट। इस इष्ट-अनिष्ट को और भी फैलाकर देखा जा सकता है— किसी भी क्षेत्र में विजय इष्ट होती है, पराजय अनिष्ट; सम्मान इष्ट, अपमान अनिष्ट; लाभ इष्ट, हानि अनिष्ट; जीवित रहना इष्ट, मृत्यु अनिष्ट; किसी भी प्रकार का सुख इष्ट, दुःख अनिष्ट; सुरक्षा इष्ट, असुरक्षा अनिष्ट; इच्छा पूर्ति इष्ट, इच्छा की अपूर्ति अनिष्ट; अपने उद्योग या कारोबार की वृद्धि इष्ट, अवनति अनिष्ट; सफलता इष्ट, असफलता अनिष्ट।

इष्ट-अनिष्ट को सामने रखकर अब हम भय के स्वरूप और कारणों को ठीक से समझ सकते हैं— भय एक मानसिक भाव है। जो भी जिसका इष्ट है, उसका विरोधी अवश्य ही अनिष्ट होगा, सो इष्ट के विनाश, अप्राप्ति, अपूर्ति तथा अनिष्ट के प्राप्त होने की आशङ्का से हमारे मन में एक भाव विशेष पैदा होता है, उसी का नाम है 'भय'। यदि कोई चाहता है कि मैं किसी के भय का निमित्त न बनूँ तो उसे दूसरों के इष्ट-अनिष्ट का ध्यान करना होगा, दूसरों के इष्ट-अनिष्ट को समझना होगा कि कहीं मेरे कारण किसी का इष्ट-अनिष्ट तो बाधित-साधित नहीं हो रहा? अर्थात् मेरे किसी अविद्या व अन्यायपूर्वक आचरण या व्यवहार से दूसरे के इष्ट में भंग अथवा अनिष्ट-प्राप्ति में सहयोग तो नहीं हो रहा? संन्यास धर्म में दीक्षित होने के लिये उद्यत व्यक्ति को तो इस विषय में गहन अन्वेषण करना ही होगा कि यदि मैं अपनी कोई अतिरिक्त इच्छा रखता हूँ तो मेरी कोई भी इच्छा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी भी प्राणी के इष्ट-अनिष्ट को बाधित करने में अवश्य ही निमित्त बनेगी, मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण किसी को बाधा, कष्ट, प्रतिकूलता हो, किसी की हिंसा हो— अतः मुझे सभी अतिरिक्त इच्छाओं से ऊपर उठ जाना चाहिये।

कहना अनावश्यक है कि इस महनीय कठिन काम को केवल वही कर सकता है जिसने देहेन्द्रियों के संघातमात्र समझे जाने वाले शरीर भाव से अपने आपको ऊपर उठा लिया है, जिसने अपने चिन्मय स्वरूप को पा लिया है, प्रचलित भाषा में कहें तो जो अहंकार से मुक्त हो गया है, जिसने अनात्म को आत्म मानने की अपनी भूल को मिटा दिया है अर्थात् बाह्य वस्तु, व्यक्ति,

परिस्थितियों से अपना आकलन करना छोड़ दिया है। एक वाक्य में कहें तो या तो जिसने अपनी सच्ची आत्मा को ढूँढ़ लिया है या केवल भगवान् को ही जिसने अपना सर्वस्व मान लिया है और अपने आप को भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया है, बाकी सब चीजें जिसके लिये गौण हो गई हैं।

अभयसम्बन्धी कुछ वैदिक प्रार्थनाएँ—

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विषो अभयं नो अस्तु ।। अथर्व १९.१४.१

इस उत्कृष्ट श्रेयस्कर युद्धसमाप्ति को मैं प्राप्त हुआ हूँ। द्युलोक और पृथिवीलोक मेरे लिये सुखकारी और कल्याणकारी हुए हैं। सभी दिशाएँ और उपदिशाएँ परमेश्वरीय कृपा से मेरे लिए शत्रुरहित हो जाएँ। निश्चय ही तुम्हारे साथ कोई द्वेष भावना न रखे। हम सबके लिये अभय हो।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।

मघवज्ज्घि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि ।। अथर्व ० १९.१५.१

हे इन्द्र! जहाँ से हम भय की आशंका करते हैं वहाँ से हमें अभय कीजिए। हे धनों के स्वामिन्! हम आपके हैं आप रक्षाओं द्वारा हमें शक्ति प्रदान कीजिए। पारस्परिक द्वेषभावों को पृथक् कीजिए, पारस्परिक संग्रामों को विगत कीजिए।

अभयं न करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ।। अथर्व ० १९.१५.५

हे परमेश्वरीय ज्योति! अन्तरिक्ष हमें निर्भय कर दे। ये दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक हमें निर्भय कर दें। पश्चिम से हमें अभय हो। पूर्व से अभय हो, उत्तर से और दक्षिण से अभय हो।

• अनित्य की आसक्ति निश्चित रूप से भय को जन्म देती है। अनित्य को अनित्य समझते ही व्यक्ति भयमुक्त हो जाता है। अनित्य के विषय में व्यक्ति की कल्पना ही नहीं होती कि यह छूट भी जाएगा। वह एक प्रकार से पूर्ण आश्वस्त जैसा रहता है कि जिन वस्तुओं, व्यक्तियों व सम्बन्धों के बीच में

रहता है वे सब चीजें अभी छूटने वाली नहीं हैं, अकस्मात् कोई अचिन्तित घटना घटती है और उसके पैर फूल जाते हैं कि अब क्या करूँ? इसलिये जो-जो भी अनित्य है, जाने वाला है, बिछुड़ने वाला है, उसका अपनी ज्ञानदृष्टि से अवलोकन करना होगा कि ऐसा क्या-क्या है जो कभी भी मुझसे अलग हो सकता है, चाहे वह मेरा स्वयं का या मेरे किसी सम्बन्धी का शरीर है, या कोई प्रिय वस्तु है, या कोई मेरे सम्बन्धी की कोई छवि (Image) है। या किसी के साथ कोई सम्बन्ध है, या कोई किसी कार्य में सहयोगी है सब कुछ ही तो अनित्य है, अस्थिर है। कभी भी कुछ भी हो सकता है, क्योंकि बाह्य घटनाओं पर मनुष्य का नियन्त्रण ही कितना सा है? हाँ! इस परिवर्तनशील जगत् में रहते हुए केवल मात्र इतना किया जा सकता है कि व्यक्ति उन परिवर्तनों से प्रभावित न हो, शान्त रहे, उद्विग्न न हो, किसी भी प्रतिकूलता से अधीर न हो, भयभीत न हो। सर्वथा भयमुक्त होने के लिये अनित्य को अनित्य समझना ही होगा।

- कोई व्यक्ति जब तक राज्य (State) का विधान, समाज का विधान, शास्त्र का विधान, गुरुजनों का विधान या अपनी अन्तरात्मा के विधान को ठीक से समझकर उसके अनुकूल आचरण नहीं करता तब तक वह पूर्ण निर्भय नहीं हो सकता। विधान (कानून) का उल्लंघन चाहे कितनी मात्रा में और किसी भी स्तर पर किया जाये तो भी भय को कदापि नहीं रोका जा सकता, भय होगा ही। शुद्ध जीवन, मर्यादित जीवन, विधान के अनुकूल जीवन जीने में ही निर्भय होने का राज छिपा है।

- जीवन की सही समझ और सही आचरण समस्त भयों से मुक्ति दिला देते हैं। अन्यथा तो यह अद्भुत मानव जीवन अनेकानेक भयों से घिरा रहता है, कहीं अपमान का भय तो कहीं स्पर्द्धा में पिछड़ जाने का भय, कहीं असुरक्षा का भय तो कहीं साधन-सम्पत्ति के छिन जाने का भय, कहीं चोर डाकुओं का भय तो कहीं नौकरी छूट जाने का भय, कहीं किसी चुनाव में टिकट न मिलने का भय तो टिकट मिलने पर भी चुनाव हारने का भय, अपने संकल्पित मार्ग में असफलता का भय तो कहीं मृत्यु का भय, किसी के नाराज हो जाने का

भय तो किसी अपने ही द्वारा त्याग कर दिये विषय में पुनरासक्ति का भय।

- किसी भी प्रकार के भय के रहते व्यक्ति अन्तर्मुख नहीं हो सकता, अपनी आत्मा की खोज नहीं कर सकता। अन्तःसत्य की खोज करने के लिये व्यक्ति का पूर्ण अभय होना परम आवश्यक है।

- कोई व्यक्ति अपने में सत्य, ज्ञान, बल व आनन्द को स्थापित करना चाहता है तो उसे अपने आधार में (शरीर-मन व प्राणों अर्थात् इन्द्रियों में) शान्ति को स्थापित करना चाहिये। यह शान्ति क्या है? शरीर-प्राण व मन की स्थिरता का नाम ही शान्ति है। दूसरे शब्दों में कहें तो शरीर-प्राण व मन इन्द्रियों का अचाह हो जाने का नाम ही शान्त होना है। किसी भी प्रकार की चाह- बड़े बनने की चाह, विषय भोगों की चाह, दूसरों से आगे निकलने की चाह, दूसरों के द्वारा किये गये अवमूल्यन से बचने की चाह- चाह मात्र शरीर-मन व प्राण को विक्षुब्ध कर देती है। शान्त होने के लिये अपनी चाह के प्रति सचेत होना होगा। यह बहुत ध्यान देने योग्य बिन्दु है। व्यक्ति की चाह के साथ ही भय का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भी चाह के रहते निर्भय हो पाना असम्भव ही है। निर्भय होने के लिये भी अपनी चाह की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को ठीक से समझना होगा।

- ☞ जो सबका प्रकाशक है उसकी ओर ध्यान देने का नाम 'ध्यान' है।
- ☞ हृदय की परम नीरवता में भागवत प्रेरणायें सरलता से सुनी जा सकती हैं।
- ☞ बाह्य व्यवस्था से भौतिक सुख बढ़ता है और ज्ञान से भीतर का सुख।
- ☞ धार्मिकता शुद्ध दिव्य आचरण का तत्त्व है, केवल मात्र विचार के क्षेत्र की वस्तु नहीं है।
- ☞ 'जितने बड़े सुख, उतने बड़े झटके' यह एक अनुभूत सत्य है।
- ☞ बीज का प्रस्फुटन तभी होता है जब वह अपने अस्तित्व को मिटा देता है।

४०४०३०३

१३. ऋत-नियम

इस सृष्टि को जब हम अपनी गहरी दृष्टि से निहारते हैं तो यहाँ सभी चीजों को व्यवस्थित नियमों में बँधा हुआ पाते हैं। एक-एक अणु-परमाणु व जीवित कोशिका से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर जो नियम, जो व्यवस्था काम कर रही है, उसे वैदिक भाषा में 'ऋत नियम' यह नाम दिया गया है। पृथिवी-जल-अग्नि-वायु और आकाश' ये महान् देव अपने-अपने नियमों में बँधे सतत अपने काम में जुटे हुए हैं। यह पृथिवी की ऊपरी सतह जो सूर्य के सम्पर्क में रहती है, क्या ही अद्भुत क्षमता लिए हुए है जो निरन्तर ओषधि-वनस्पतियों को पैदा करती रहती है। भूगर्भ के भीतर जाकर देखें तो एक विशाल अग्निकुण्ड है, जो हमें कष्ट देने की बजाय हमारा पोषण ही कर रहा है। हिमालय जैसे शीतल प्रदेश में भी एक-एक स्थान पर गर्म पानी का झरना निरन्तर प्रवाहित है। सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रह-नक्षत्र किस शोभा के साथ इस विशाल आकाश में लटक रहे हैं। अपनी-अपनी कक्षा में रहते हुए परस्पर एक दूसरे को उपकृत कर रहे हैं। पृथिवी के चारों ओर ऐसा सुरक्षा कवच है जो पोषक ऊर्जा को ही पृथिवी पर आने के लिए मार्ग देता है। यदि वह व्यवस्था नहीं होती तो यहाँ पृथिवी पर का जीवन ही असंभव हो जाता, सब कुछ को ही वह सौरी ऊर्जा जला डालती। पृथिवी का सूर्य के चारों ओर और अपने अक्ष पर घूमते हुए सतत आगे बढ़ते रहना, जिससे दिन-रात व ऋतुओं का चक्र व्यवस्थित हो पाया। यह पृथिवी इतनी भारी भरकम है जिसकी परिधि लगभग चालीस हजार किलोमीटर और जिसका व्यास साढ़े बारह हजार किलोमीटर है, फिर भी जो प्रति सैकण्ड ३०.९२४ किमी० की रफ्तार से प्रतिदिन (२४ घण्टे में) २६०२७३९ किमी० दूरी तय कर लेती है, एक वर्ष में लगभग ९५ करोड़ किलोमीटर सूर्य के चारों ओर घूमकर आ जाती है, क्या हुआ सैकड़ों वर्षों में कभी-कभार एक-आध सैकण्ड का अन्तर आ जाए, अन्यथा सब कुछ सुनिश्चित क्रम में चलता रहता है। यह अन्तर भी आवश्यक है,

भगवान् की रचना व व्यवस्था में कुछ भी दोषपूर्ण व न्यूनता नहीं है।

- ऋत नियमों ने ही सूर्य से पृथिवी को १५ करोड़ किलोमीटर दूर स्थापित किया है जिससे सूर्य की अपनी सतह के तापमान का २२० करोड़वां भाग ही पृथिवी तक पहुँचता है। पार्थिव जीवन को चलाने के लिए सूर्य से आने वाली ठीक इतनी ही ऊर्जा अपेक्षित होती है, न इससे कम और न इससे ज्यादा। सूर्य से पृथ्वी की यह दूरी जितनी-जितनी बढ़ती जायेगी, उसी अनुपात में पृथिवी पर गर्मी घटती जायेगी, अपने अयन में उसके घूमने का वेग कम होता जायेगा, पृथिवी पर ठण्ड बढ़ती जायेगी। इसके विपरीत यदि इस दूरी को कम कर दिया जाये तो सूर्य से मिलने वाला ताप और अपने अयन में उसके घूमने का वेग बढ़ता जायेगा। ऐसे में दिन-रात और ऋतु चक्र अव्यवस्थित होने से और जीवन के लिए आवश्यक उचित तापमान के न मिलने से जीवधारियों के यहाँ रहने के लिए अनुकूलता नहीं बन पायेगी।

- ठण्डे प्रदेशों में झीलों में जब पानी जम जाता है तो ऋत नियमों ने ही यह व्यवस्था की है कि चाहे जितनी ठण्ड पड़े किन्तु झीलों के नीचे का पानी कभी नहीं जमता, जिससे जलीय जन्तु और वनस्पति बराबर सुरक्षित रह पाते हैं।

- ऋत नियमों ने ही यह व्यवस्था की है कि तरबूज आदि भारी फलों को जमीन में बेलों के साथ सम्बद्ध किया तथा हलके फलों को वृक्षों के साथ। यदि कहीं कटहल जैसे भारी फलों को पेड़ पर भी लगाया तो मोटी शाखा या वृक्ष के साथ उसका स्थान निश्चित किया।

- ऋत नियमों ने पृथिवी के व्यास का आकार निर्धारित किया, जिससे जीवन संभव हो पाया। इसका व्यास चन्द्रमा की तरह कम हो जाए या सूर्य की तरह विस्तृत हो जाए तो दोनों ही अवस्थाओं में जीवन का वर्तमान रूप नहीं बन पायेगा। गुरुत्वाकर्षण बल, वायुमण्डल, तापमान आदि को ध्यान में रख कर ही ऋतनियमों के द्वारा पृथिवी का यह व्यास सुनिश्चित किया गया है।

- ऋत नियमों ने, चाहे जितने प्राणी इस सृष्टि में उत्पन्न हो जाएँ, उन सबके लिए आहार व्यवस्था (भोज्य सामग्री) सुनिश्चित की है। यदि मनुष्य इस

व्यवस्था में हस्तक्षेप न करे तो किसी भी चीज की यहाँ कमी नहीं है। इस घर का मालिक इतना सुसम्पन्न है कि सब जीवों की आवश्यकताओं (न कि इच्छाओं) को पूर्ण करने की जिम्मेदारी ली हुई है।

- परमाणु में काम कर रही ऋत नियमों की व्यवस्था को देखकर कोई भी व्यक्ति हैरत में पड़े बिना नहीं रह सकता। परमाणु के भीतर विद्यमान उसके हृदय नाभिक में न्यूट्रोन, प्रोटोन्स की उपस्थिति, उसके चारों तरफ इलेक्ट्रोन्स का चक्कर लगाना, परमाणु का भार, परमाणुओं के विखण्डन होने पर एक सुनिश्चित ऊर्जा का निस्सरण, परमाणुओं के संघात से स्थूल पदार्थों का निर्माण, यह सब ऋत नियमों का ही तो कार्य क्षेत्र है।

- कोशिकाओं (Cells) से विविध शरीरों की संरचना, कोशिका की कार्यप्रणाली, कोशिका के भीतर माइटोकोण्ड्रिया (विद्युतगृह या रसोईघर) में ग्लूकोज का दहन, ट्रांसपोर्टेशन व्यवस्था, यह सब का सब प्रबन्ध ऋत नियमों से संचालित है।

- प्राणीगण भोजन करते हैं और उससे रस, रक्त, माँस, मेद, मज्जा, हड्डी, शुक्र आदि धातुओं का निर्माण, भोजन से आवश्यक पोषक तत्वों का ग्रहण, अनावश्यक की शरीर से बाहर निष्कासन-व्यवस्था ऋत नियमों के द्वारा चल रही है।

- ऋत नियमों द्वारा ही चन्द्रमा एक-एक दिन बढ़ता हुआ पूर्ण हो जाता है और फिर एक-एक दिन घटता हुआ सर्वथा तिरोहित हो जाता है। इसी से शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष बनते हैं। इन नियमों ने ही सोम ओषधि को चन्द्रमा के साथ बाँध दिया है। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती जाती हैं, उस विशिष्ट ओषधि का एक-एक पत्ता प्रतिदिन बढ़ता जाता है, इस प्रकार पूर्णिमा के दिन उस लता पर १५ पत्ते हो जाते हैं। फिर उसी क्रम से कृष्णपक्ष में एक-एक पत्ता कम होता जाता है, अमावस्या के दिन वह लता सर्वथा पत्ररहित हो जाती है। सोम ओषधि के साथ सम्बद्ध यह अद्भुत चक्र सतत प्रवाहमान रहता है। इन्हीं ऋत नियमों के कारण चन्द्रमा के साथ सम्बद्ध समुद्र में प्रतिदिन ज्वार की प्रक्रिया देखने को मिलती है। चन्द्रमा पृथिवीस्थ ओषधियों में निरन्तर रस भरने का काम कर रहा

है, यह भी इन्हीं नियमों की महिमा है।

- पृथिवीस्थ जलों का वाष्प बनकर आकाश में पहुँचना, वहाँ से वर्षा के रूप में पुनः पृथिवी पर आना, बादलों में विद्युत् का बनना, एक बार के ही विद्युत् कड़कने से सस्य के लिए अत्यन्त उपयोगी नाइट्रेट्स के रूप में अपरिमित खाद का निर्माण होना, हिमालय के ऊँचे पर्वतों पर हिमपात होना और उससे नदियों का सतत प्रवाहित होना, ये सब के सब कार्य ऋत नियमों की ही तो गौरव गाथा गा रहे हैं।

- ऋत नियमों ने प्रकृति में एक अद्भुत शुद्धि प्रक्रिया स्थापित की हुई है। धूल, धुआँ एवं दुर्गन्ध को बहती हुई हवा अपने साथ उड़ा ले जाती है। वृक्षों की हरी पत्तियाँ अशुद्ध वायु को जीवनदायिनी शुद्ध वायु में बदलने का काम सतत करती रहती हैं।

- एक ही जैसी भूमि से केला मिठास ले लेता है, नीम्बू खट्टापन, मिर्च तीखापन, हरड़ कसैलापन, नीम कड़वापन। अनार में किस कुशलता से दाने जमा होते हैं। सीताफल, आम, केला, अज्जीर, मुनक्का, अंगूर, सेव, खजूर इत्यादि के मिठास को ध्यान से देखा जाये तो ज्ञान होगा सभी प्रकार के फलों का माधुर्य अलग प्रकार का है। इस सब व्यवस्था के मूल में ऋत नियम काम कर रहे हैं।

- ऋत नियमों ने मांसाहारी पशुओं के दाँतों व आँतों की रचना अलग प्रकार से की है तथा शाकाहारी प्राणियों की अलग। हिमालय के कुत्ते और पशुओं के शरीर पर लम्बी-लम्बी ऊन की व्यवस्था मिलती है। पहाड़ी प्रदेश की गायों का शरीर छोटा व हल्का होता है। उन्हीं नियमों ने पशुओं को प्रायः घ्राण शक्ति की तीक्ष्णता प्रदान की।

- आक 'विष' होते हुए भी बकरी के शरीर में जाते ही अमृत हो जाता है। गायें दिन भर चारा चरती हैं, भोजन के कुछ भाग से रक्त बन जाता है, कुछ से दूध। पशुओं का खाया हुआ भोजन खाद में बदलकर फिर वापस खेत में पहुँच जाता है। पशु और कृषि दोनों एक दूसरे के लिये उपकार्य-उपकारक का

काम करते रहते हैं। सह-अस्तित्व में कार्यरत यह ऋतचक्र देखते ही बनता है।

- ऋत नियमों ने ही प्रकाश, ऊष्मा व ऊर्जा के अनन्त स्रोत सूर्य को दुलोक में स्थापित किया है। जहाँ हाईड्रोजन के परमाणुओं के संलयन से हीलियम गैस का निर्माण होता रहता है और उस प्रक्रिया से अपरिमित ताप व ऊर्जा निःसृत होती रहती है। उस ऊर्जा से ही पृथिवी पर जीवन की प्रक्रिया सम्भव हो पा रही है।

- ऋत नियमों के विस्तार ने ही इस धरती को हरा-भरा किया हुआ है। हजारों-हजारों ओषधि-वनस्पति-फल-फूल-लता-वृक्षों ने इस पुण्य धरा के सौन्दर्य को तो बढ़ाया हुआ है ही, साथ ही पारस्परिक जीवन भी तो उन्हीं के कारण सम्भव हो सका है।

- ऋत नियमों ने खरबों-खरबों कोशिकाओं से प्राणी शरीर की रचना की। एक-एक कोशिका के जीवन को आश्चर्यमय बनाया। कोशिकागत DNA और RNA की व्यवस्था और तद्गत जीन्स (संस्कारकोश) की व्यवस्था; मुख, दाँत, हाथ पैर की अंगुलियों की विशिष्ट संरचना; आँख, कान, नाक व जिह्वा की अद्भुत रचना एवं उनकी अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की क्षमता; सतत कार्यरत हृदय जैसे यन्त्र की रचना जो २४ घण्टे में लगभग ८००० लीटर रक्त को पम्प कर देता है, एक मिनट में प्रायः ५ लीटर रक्त को पम्प करता है किन्तु विशेष आवश्यकता के समय जो २५ लीटर तक की क्षमता रखता है; एक दिन में जो एक लाख से भी ज्यादा बार धड़कता है ऐसे इस अद्भुत परिश्रमी यन्त्र का गठन; दाँतों की संरचना, उनके निर्माण का प्रबन्ध, फेफड़ों की अद्भुत व्यवस्था जिसमें हर साँस में सत्तर करोड़ थैलियाँ वायु से भर जाती हैं; सारे शरीर में फैला हुआ नस-नाड़ियों का जाल; सबसे अधिक आश्चर्यजनक मस्तिष्क की संरचना जो कि १४० खरब स्नायुकोषों से बना होता है, उन स्नायुओं द्वारा ४०० किलोमीटर प्रतिघण्टा की तीव्रगति से संदेशों का आदान-प्रदान होता रहता है; सम्पूर्ण शरीर के अलग-अलग स्थानों से सूचनाओं की प्राप्ति का क्रम; शरीरगत ऊष्मा का संचालन; केवल

चार इञ्च लम्बा, दो इञ्च चौड़ा एवं एक इञ्च मोटे गुर्दे नामक यन्त्र की व्यवस्था जो कि रक्त में से यूरिक एसिड तथा अमोनिया आदि हानिकारक तत्वों को निकाल देते हैं तथा शर्करा व एल्ब्यूमिन जैसे पदार्थों को जो कि उपयोगी हैं वे यदि अधिक न हों तो उन्हें रक्त में से नहीं छानते, रक्त में अम्ल व क्षार का सन्तुलन बनाए हैं जो रक्त में से उचित मात्रा में जल को बाहर निकालते रहते हैं इस प्रकार न तो रक्त को गाढ़ा होने देते हैं न पतला; तीन खरब कोशों से बने इस अद्भुत यन्त्र का निर्माण; शरीर के प्रतिरक्षा तन्त्र की संरचना, शरीर में सप्त धातु, सप्त आशय, सप्त मल, शिराएँ-धमनियाँ, मांसपेशियाँ; पैक्रियाज जैसी विचित्र डक्टलैस ग्लेण्ड की व्यवस्था, जिससे सतत आवश्यक इन्स्यूलिन प्राप्त होता रहता है; एक विशाल फैक्ट्री की तरह लीवर नामक यन्त्र की व्यवस्था, संकल्प-विकल्पात्मक मन, निश्चयात्मिका बुद्धि, प्राण और आत्मा का संयोग, शरीर में प्राणों की अद्भुत कार्यप्रणाली—ये सब के सब ऋत नियमों के मुँह बोलते उदाहरण हैं।

- अथर्ववेद के ‘केन पाष्णी’ सूक्त (१०.२.१) में पूछे गये प्रश्नों के माध्यम से कि मनुष्य के शरीर में एड़ियाँ, माँस, टखने, अंगुलियाँ, नेत्र, पैरों के तलवे किसने प्रतिष्ठित किये? जोड़ों को किसने जोड़ा? छाती, गर्दन, स्तन, कपोल, कन्धों तथा पसलियों को कैसे, किसने एकत्रित किया? उन्हीं ऋत नियमों की ओर संकेत किया गया है। इन नियमों के ताने-बाने से कुछ भी अछूता नहीं है, सम्पूर्ण त्रिलोकी को इन नियमों ने व्याप्त किया हुआ है। ऋत का तन्तु जाल इतना सूक्ष्म है कि सामान्य बुद्धि को कभी भी दिखाई नहीं देता। इसको देखने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म मेधाशक्ति चाहिए।

- ऋत नियमों ने ही चन्द्रमा को पृथिवी के चारों ओर भ्रमण करने में लगा दिया है। फिर चन्द्रमा सहित यह पृथिवी तथा दूसरे शुक्र-शनि-बुध-बृहस्पति मंगल आदि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर और फिर यह सम्पूर्ण सौर परिवार जिसमें स्वयं सूर्य २५१ किमी० प्रति सैकण्ड की गति से किसी अन्य केन्द्र के चारों

ओर चक्कर लगा रहे हैं, करोड़ों आकाश गंगाएँ और एक-एक आकाश गंगा में हमारे सौरमण्डल की तरह ही अनगिनत सूर्य, जिनमें हमारा सूर्य जो कि पृथिवी से १३ लाख गुना बड़ा है वह तो अन्य सूर्यों की अपेक्षा छोटे परिमाण वाला (बेबी सन) है, अनगिनत ब्लैकहोल्स, ये सब ऋत नियमों के द्वारा सहज रूप से संचालित हैं। मानव बुद्धि तो इनके विचार मात्र से चकरा जाती है।

• भौतिक जगत् में, वनस्पति में, पशुओं में और मानवीय शरीर रचना में जैसे ऋत नियम कार्यरत हैं वैसे ही मानव मन व बुद्धि में तो उनकी कार्यप्रणाली और भी अधिकतर आश्चर्यजनक है। ऋत नियमों की इस सुव्यवस्था से ही चित्त में कर्माशयरूप संस्कार तथा वासनारूप संस्कार मिल कर कर्मफल को साधित करते हैं।

अब हम यहाँ सत्य के बोधक वेदमन्त्रों को प्रस्तुत कर रहे हैं— ऋत के तन्तु को वे किस रूप में बता रहे हैं— **अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्॥** (ऋग्०— ५.८२.२) भाव यह है— परमेश्वर के जो नियम इस सृष्टि में कार्य कर रहे हैं उनको कोई भी तोड़ नहीं सकता, क्योंकि वह परमेश्वर का स्वराज्य अपने यश से फैला हुआ है, वह सभी के द्वारा प्रीति करने योग्य है।

• **परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।**

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्वैरयन्त॥ (अथर्व० २.१.५)

(कम्) आनन्दकारक (ऋतस्य विततं तन्तुम्) ऋत के व्यापक धागे को (दृशे) देखने के लिए मैंने सब भुवनों में (परि आयम्) भ्रमण किया। अमरपन का अनुभव करने वाले ज्ञानी (यत्र समाने योनौ) जिस एक समान आदि कारण में उन्नत होते हुए विचरते हैं, वह वहाँ सूत्रात्मा है।

• **परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।**

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि संविवेश॥ (यजु० ३२.११)

सब भूतों को, सब लोकों, सब दिशाओं और उपदिशाओं को जानकर

ऋत नियम के प्रथम प्रकाशक की उपासना करके ज्ञानी भक्त केवल आत्म स्वरूप से परमात्मा में सब प्रकार से प्रविष्ट होते हैं।

• **परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।**

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥ (यजु० ३२.१२)

जब ज्ञानी ने तत्काल द्युलोक और पृथिवी के बीच के सब पदार्थों को जानकर, सब लोकों को जानकर सब दिशाओं को जानकर, आत्मप्रकाश को जानकर ऋत के फैले हुए उस सूत्र (तत्) को अलग करके देखा तो तत् (वह) हो गया क्योंकि वह पहले ही तत् (वह) था।

• **विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेशिचत् तन्तुं मनसा वियन्तः।** (ऋग्० १०.५.३)

जंगल और स्थावर विश्व के मध्य में रहने वाले (तन्तुं) सूत्र को कवि अर्थात् क्रान्त प्रज्ञा वाले ज्ञानी की दिव्य दृष्टि से अलग देखना और अनुभव करना चाहिये, साधारण दृष्टि से इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

• **रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।**

तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहत् द्यावापृथिवी बलेन॥ (अथर्व० १३.१.६)

तेजस्वी परमात्मा ने द्युलोक और पृथिवी लोक बनाये और उनके बीच में परमात्मा ने एक धागे को फैलाया। उसने निज शक्ति से (द्युलोक और पृथिवी लोक को दृढ़ किया है।) वहाँ द्युलोक-पृथिवी तथा सूत्रात्मक वायु में एकपाद यह सृष्टि तथा अजन्मा परमेश्वर ओतप्रोत है।

• **यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतमशीमहि॥** (अथर्व० १३.१.६०)

जो जीवन यज्ञ का साधन तन्तु प्रकाशमान सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि में फैला हुआ है, उसको जिसमें कि हमने आत्म समर्पण रूपी आहुतियाँ दी हैं, उसे हम प्राप्त हों।

• **यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।**

यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ (अथर्व० ४.३५.१)

ऋत के प्रथम प्रवर्तक प्रजापति ने अपने तेज से जिस सृष्टिरूपी चावलों को ज्ञान के लिये पकाया और जो लोकों का विशेष धारणकर्ता और जो सबका मध्य है, उसके पकाये हुए सृष्टिरूपी चावलों से मृत्यु के पार होते हैं।

• एवं भागं परिददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।

अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु संतरेम ॥ (अथर्व० ६.१२२.१)

हे विश्वकर्ता! तू ऋत के तन्तु का प्रथम जनयिता है, यह जानता हुआ मैं यह अपना भाग तुझे अर्पण करता हूँ। जिससे हम सब अटूट धागे को पकड़ कर पीछे-पीछे रहते हुए एक होकर तरेंगे, पार होंगे।

• त्वमस्याऽऽवपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना । यत् ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ (अथर्व० १२.१.६१)

हे मातृभूमि! तू बीज बोने योग्य, अखण्डित, लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने वाली और विस्तृत है। जो कुछ तेरे अन्दर न्यून होता है मनुष्य के अज्ञान व दोषपूर्ण आचरण के कारण उसको ऋत का पहिला प्रवर्तक प्रजापति परमेश्वर पूर्ण करता है।

• समानं नीळं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः ।

ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि ॥ (ऋग्० १०.५.२)

समान नील अन्तरिक्ष है। इसमें वास करने वाले सेचक, वृष्टिजलों से सींचने वाले मेघ हैं। महान् अश्वाँ सूर्य की रश्मियाँ हैं। जब मेघों और सूर्य रश्मियों का मेल होता है तो वृष्टिजलों का जन्म होता है। यह सब उस अग्रणी परमेश्वर के ऋत नियम के अनुसार हो रहा है। इसलिये ज्ञानी लोग परमेश्वर के शाश्वत सत्य नियम का सदा पालन करते हैं। वे ज्ञानी विद्वज्जन प्रभु के बड़े-बड़े नामों से युक्त दिव्यता को अपनी हृदय रूपी गुहाओं में धारण करते हैं।

• असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्दितेरुपस्थे ।

अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः ॥ (ऋग्० १०.५.७)

इस परम आकाश में अव्यक्त और व्यक्त रूप में सर्वप्रथम यह अग्नि, स्कम्भ सर्वाधार ब्रह्म ही विद्यमान था। दक्ष अर्थात् सूर्य के जन्म में यह अग्नि ही निमित्त है। अदिति अर्थात् पृथिवी के अस्तित्व में आने के लिए भी अग्नि ही

निमित्त है। शाश्वत सत्य नियम के अनुसार उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में अग्नि ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत होने वाला है। सृष्टि के आदिकाल में जीवन का निमित्तभूत वीर्यसेचकवृषभ भी यही था और गर्भ को धारण करने वाली धेनु भी यही थी अर्थात् जीवन उत्पत्ति का मूल कारण पुरुष-तत्त्व और स्त्रीतत्त्व दोनों यह अग्नि ही था।

• ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती ।

विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेशिचत् तन्तुं मनसा वियन्तः ॥ (ऋग्० १०.५.३)

ऋत नियम का पालन करने वाली, स्वकार्यों को करने में समर्थ ये दो अरणियाँ अथवा द्यावापृथिवी ये दोनों इस अग्नि रूपी शिशु का अपने गर्भ में निर्माण करके इसे बढ़ाते हुए इसको जन्म देते हैं। यह अग्नि जड़ और चेतन तथा स्थावर और जंगम सबका नाभिभूत है। किसी न किसी रूप में सब इससे सम्बद्ध हैं। उपासक जन ऐसे इस अग्नि के पास और इस क्रान्तदर्शी की यज्ञ-परम्परा के पास मनःपूर्वक जाते हुए सुखों को प्राप्त करते हैं।

• ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातम् इषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते ।

अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरनैर्वावृधाते मधूनाम् ॥ (ऋग्० १०.५.४)

प्राचीन काल से शाश्वत ऋत नियम के मार्ग और मनुष्यों की प्रेरणाएँ तथा अभिलाषाएँ, निश्चय से इस शोभन जन्मों वाले अग्रणी प्रभु का ही आश्रय लेती आ रही हैं। ये दुलोक और भूलोक दोनों इसी महान् आवास में वास करते हुए इसी के माधुर्ययुक्त घृतों और अन्नो से वृद्धि को प्राप्त होते आ रहे हैं।

• ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर् वृजिनानि हन्ति ।

ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ (ऋग्० ४.२३.८)

परमेश्वर के द्वारा विधान किये हुये ऋत अर्थात् इस संसारचक्र को चलाने वाले शाश्वत नियम की शक्तियाँ अनन्त हैं। ऋत को जानने व उसका पालन करने से मनुष्य के पापों का नाश हो जाता है। सत्य का बोध कराने वाले और आत्मा को पवित्र करने वाले ऋत का श्रवण तथा चिन्तन-मनन मनुष्य के बहरे कानों को भी खोल देता है। परमेश्वर की चर्चा को सुनना न चाहने वाला नास्तिक मनुष्य भी सत्यनियम के पालन से आस्तिक बनकर उसे सुनने लगता है।

ऋतस्य दृष्ट्वा धरुणानि सन्ति पुरुणि चन्द्रा वपुषे वपूषि ।

ऋतेन दीर्घम् इषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतम् आ विवेशुः ।। (ऋग् ० ४.२३.९)

परमेश्वर के द्वारा विहित सत्य नियम दृढ़ आधारों पर स्थित हैं। इनके स्वरूप में असंख्य आह्लादक सौन्दर्य हैं। ऋत का पालन करने से उपासक जन दीर्घकालीन जीवन अर्थात् अमरत्व की कामना करते हैं। ऋत के पालन से वाणियाँ, ज्ञानरश्मियाँ और इन्द्रियाँ ऋत में ही प्रवेश कर जाती हैं, उसके अनुसार ही कार्य करने लग जाती हैं, अथवा ऋत के उद्गम स्थान ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाती हैं।

ऋतं येमान ऋतम् इदं वनोत्पृतस्य शुष्मस् तुरया उ गव्युः ।

ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते ।। (ऋग् ० ४.२३.१०)

ऋत को अपने नियंत्रण में रखने वाला वह परमेश्वर स्वयं ऋत का ही पालन करता है और सबसे भी ऋत का पालन कराता है। सबको सुखसाधनों की प्राप्ति कराने की इच्छा वाला ऋत का बल सबसे त्वरित गति से चलता है। वह विपरीत चलने वाले को धराशायी कर देता है। विस्तृत और गम्भीर द्युलोक और भूलोक ऋत का पालन करने के लिये हैं। परस्पर के आदान-प्रदान से प्रजाओं को प्रसन्न करने वाले ये महान् आकाश और पृथिवी प्रजाओं के लिये सुखों का दोहन करते हैं।

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस् त्री ष पवित्रा हृद्यन्तर् आ दधे ।

विद्वान् त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ।।

(ऋग् ० ९.७३.८)

वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर सत्य नियम की रक्षा करने वाला है। वह किसी के द्वारा हिंसित नहीं किया जा सकता। वह सूर्य, वायु और अग्नि इन तीन पवित्र करने वालों को अपने हृदयस्थान में धारण किये हुए है। वह सर्वज्ञ सब प्राणियों व सब लोकों को सब ओर से देख रहा है। जो उसकी संतानों से प्यार नहीं करते और यज्ञ, परोपकार आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते, उन्हें वह अज्ञान के गड्ढों में नीचे डालकर नष्ट कर देता है।

ऋतस्य तनूर् विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।

धीराश् चित् तत् समिन्क्षन्त आशतात्रा कर्तम् अव पदात्यग्रभुः ।। (ऋग् ० ९.७३.९)

कवचवत् सब ओर से ढककर रक्षा करने वाले परमेश्वर की अलौकिक शक्तियों से स्तोता की जिह्वा के अग्रभाग पर सत्यनियम का वितान तना हुआ है। अर्थात् उपासक परमेश्वर की शक्ति से अपनी वाणी के द्वारा उसका स्तुतिगान करने से सामर्थ्य प्राप्त करके ही सत्य नियम का पालन करने में समर्थ होता है। प्राप्य को प्राप्त करना चाहते हुए मन और इन्द्रियों के स्वामी ज्ञानी जन ही उस परमेश्वर की स्तुतियों और सत्य नियम का पालन करने से उसे प्राप्त कर लेते हैं। जिनका मन व इन्द्रियों पर वश नहीं है वे इस लोक में नीचे नरक के गड्ढे में गिरते हैं।

• आज विज्ञान की विविध शाखाएँ जिन्हें हम भौतिकी (Physics), रसायनविज्ञान (Chemistry), जीवविज्ञान (Biology), ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy), भूगर्भविज्ञान (Geology), वनस्पति विज्ञान (Botany), जन्तु विज्ञान (Zoology), अस्थि पञ्जर विज्ञान (Anthropology), पुरातत्त्व विज्ञान (Archeology), शरीररचना विज्ञान (Anatomy), शरीरक्रिया विज्ञान (Physiology) इत्यादि के रूप में पहचानते हैं वह सब सृष्टि में काम कर रहे ऋत नियमों का ही अध्ययन है। भौतिकी के महत्वपूर्ण घटक चुम्बक (Magnet), ध्वनि (Sound), विद्युत् (Electricity), उष्मा (Heat), प्रकाश (Light) आदि का अध्ययन, रसायनशास्त्र में वर्णित ९२-११८ तत्वों का अध्ययन भी ऋत नियमों का ही अध्ययन है।

• सम्पूर्ण सृष्टिविद्या (Cosmic Science) का अनन्त विस्तार ऋत नियमों का ही विस्तार है। समुद्र में बूँद के समान नमूने के बतौर उसके कुछ संकेत हमने ऊपर दर्शाए हैं। उन सब को पूर्ण रूप से समझना और अविकल रूप से शब्दों में रख पाना सर्वोत्तम बुद्धि वाले मानव के लिये भी असंभव है।

• वेदों में ज्ञानियों के लिये 'ऋतसापः' ऋत का पालन करने वाले या ऋत का स्पर्श करने वाले, 'ऋतावानः' अर्थात् ऋत से युक्त, 'ऋतावृधः' अर्थात् अपने

आचरण से ऋत की वृद्धि करने वाले, 'ऋतज्ञाः' अर्थात् ऋतनियमों को जानने वाले, इन सब विशेषणों का प्रयोग हुआ है। वेद की यह शिक्षा सदा स्मरण रखने योग्य है। आइये हम सब भी साधन पथ पर चलते हुए ऋत साप, ऋतावान, ऋतावृध बनें।

☞ जैसे भौतिक जीवन दूसरों के सहयोग के बिना एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ सकता, सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् मनुष्य को कितना सारा सहयोग व पोषण देता है, तब वह जीवित रह पाता है, साथ में उसका अपना पुरुषार्थ तो होता ही है। ठीक यही नियम अध्यात्म में भी लागू होता है बिना मार्गदर्शक गुरुजनों के, बिना शास्त्रों के, बिना अन्तर्वासी भगवान् या अपनी अन्तरात्मा के, बिना अपनी तीव्र अभीप्सा व पुरुषार्थ के यह यात्रा भी आगे नहीं सरक सकती। इन साधनों में कहीं भी कमी रह गई तो जीवन की गति रुक जायेगी, यह सदा याद रखना चाहिये।

☞ क्या जीवन के लिए जीवन से भी बड़ी कोई चीज हो सकती है? हाँ, जीवन्तुलक्ष्य।

☞ ईश्वर में विश्वास, शास्त्र में विश्वास, गुरुजनों की वाणी में विश्वास, ऋतनियमों में विश्वास और अपने आप में विश्वास; आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए इन सभी विश्वासों की परम आवश्यकता है।

☞ किसी भी कामना की आँधी सूचनात्मक ज्ञानदीप को तत्काल बुझा देती है। अतः वासनाओं की तूफानों से बचने के लिए हमें धी, धृति व स्मृति रूप शुद्ध ज्ञान दीप चाहिये।

☞ जो बीत गया उसके साथ क्यों रहना। अशुभ व अभाव को विचार के द्वारा भाव में बदलकर व्यक्ति दुःख के बीज बोता रहता है। अतीत के शोक, वर्तमान के राग व भविष्यत् के भय से मुक्त साधक योगी ही दुःख-मुक्त पूर्णसुख, शान्ति व आनन्द का जीवन जीता है।

४०४०७७७

१४. प्रज्ञापराध

आयुर्वेद के एक महान् ग्रन्थ चरक में हमें शिक्षा के रूप में एक सुन्दर वाक्य सुनने को मिलता है— 'प्रज्ञापराधो मूलं सर्वरोगाणाम्'। शरीर व मन में विकारों के रूप में पैदा होकर जो कष्ट देते हैं, व्यक्ति को तोड़ डालते हैं वे रोग कहाते हैं (रुजन्ति ते रोगाः)। जैसे शरीर-सम्बन्धी सैकड़ों प्रकार के रोग होते हैं— ज्वर, खाँसी, जुकाम, पेट दर्द, कमर दर्द, सिरदर्द, वातविकार, कफविकार, पित्तविकार इत्यादि। उसी प्रकार काम-क्रोध-लोभ-मोह-मान-मद-ईर्ष्या-असूया इत्यादि अनेकानेक मानस रोग होते हैं। आचार्य चरक यह देख रहे हैं— रोग चाहे शारीर हों या मानस, वे अकारण नहीं आते, उनका कोई न कोई कारण होता है। कारण दो प्रकार के हो सकते हैं— नित्य या आगन्तु। रोगों का कारण नित्य होता तो न तो उसे हटाया जा सकता और न ही उससे बचा जा सकता। कारण यदि आगन्तु है तो उसे हटाया भी जा सकता है और सावधानी रखी जाए तो बचा भी। आगन्तु कारण के भी दो रूप हो सकते हैं— सामान्य और विशेष। सामान्य वह होता है जो सब जगह मिले और विशेष वह जो कहीं मिले कहीं न मिले। महामति आचार्य चरक ने सभी शारीर व मानस रोगों का एक सामान्य कारण, एक साझा कारण खोजकर बतलाया— 'प्रज्ञापराध'। आचार्य ने यह बात यथाप्रसंग सम्पूर्ण शास्त्र में बार-बार दोहराई है।

आचार्य ने स्वयं ही अपने महान् कण्ठ से यह बतलाने की भी कृपा की है कि प्रज्ञापराध क्या होता है। वे कहते हैं—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।

प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥ (चरक शा० १.१०२)॥

धी, धृति और स्मृति से च्युत हुआ व्यक्ति जब कोई अशुभ कर्म करता है तो वात-पित्तादि सभी शारीर दोष और रजस्-तमस् आदि मानस दोष प्रकुपित हो जाते हैं यही प्रज्ञापराध है।

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।

प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥ (च० शा० १.१०९)॥

बुद्धि से विषम देखना, जो जैसा है उसे वैसा न देख पाना और फिर गलत समझ के कारण गलत प्रवृत्ति का होना, गलत आचरण करना ही प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध मन के क्षेत्र में आता है अर्थात् मन के द्वारा ही इसे देखा जा सकता है।

धी, धृति और स्मृति ये तीनों ही प्रज्ञा के भेद हैं। प्रज्ञा की तीनों शक्तियाँ जब ठीक-ठीक काम करती हैं तो ही व्यक्ति प्रज्ञावान् कहा जाता है। तीनों में से कोई एक, दो या तीनों ही भ्रष्ट हो जाती हैं तो इसे ही 'प्रज्ञापराध' इस शब्द से कहते हैं। आचार्य ने इन तीनों का ही पृथक्-पृथक् लक्षण किया है, पृथक्-पृथक् स्वरूप दर्शाया है। 'धी-विभ्रंश क्या है?' इस बारे में आचार्य कहते हैं—

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।

ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥ (च० शा० १.११)

नित्य में अनित्य और अनित्य में नित्य, हित में अहित और अहित में हित देखना ही विषमाभिनिवेश (अयथाभूतत्वेन निश्चय) है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न देख पाना ही बुद्धिविभ्रंश है। यदि कोई यह पूछे कि यह बुद्धिविभ्रंश कैसे है? तो इसके उत्तर में यही कहना होगा कि बुद्धि सर्वदा सम (यथाभूत) ही देखती है। बुद्धि की यह योग्यता है कि जो चीज जैसी है उसको वैसा देखे, किन्तु बुद्धि यदि अपनी इस योग्यता का निर्वाह ठीक से नहीं कर पा रही हो तो इस असमदर्शन को बुद्धिविभ्रंश कहना उचित ही है। योगशास्त्र में बुद्धिविभ्रंश को 'अविद्या अर्थात् अविवेक अर्थात् विपरीत ज्ञान' इन नामों से स्मरण किया है। न्यायदर्शन में इस स्थिति को 'मोह या मिथ्याज्ञान' कहा है। अर्थात् वह बुद्धि जो अपने हित-अहित, नित्य-अनित्य को ठीक-ठीक नहीं देख पा रही है, जो हितकारक खान-पान, आहार-विहार, व्यवहार आदि है उसे अहितकारक समझ रही है और जो अहितकारक है उसे हितकारक। इसी प्रकार जो बुद्धि आत्मादि नित्य तत्त्वों को नित्य और शरीरादि अनित्य पदार्थों को अनित्य नहीं समझ पा रही है तो इसे भी प्रज्ञापराध का एक महत्वपूर्ण घटक

धीविभ्रंश कहा जायेगा। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ के ३१, ३२ वें श्लोक में राजसी तामसी बुद्धि के नाम से शब्दान्तर से धीविभ्रंश का ही वर्णन हुआ है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।

अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥१८.३१॥

जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को यथार्थ नहीं जानता है, पार्थ! वह बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥१८.३२॥

पार्थ! तामसी बुद्धि तमोगुण (अन्धकार) से आवृत्त होने के कारण सब कार्यों बातों को विपरीत ही मानती है अर्थात् अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म, अच्छी वस्तु को बुरी और बुरी वस्तु को अच्छी, परम तत्त्व को तुच्छ और तुच्छ को परम— इस प्रकार सब कुछ विपरीत मानती है।

प्रज्ञापराध का दूसरा घटक है धृतिभ्रंश। धृतिभ्रंश का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।

नियन्तुमहितादर्थान् धृतिर्हि नियमात्मिका। (च० शा० १.१००)

यदि धृतिभ्रंश हो रहा है तो विषयों में डूबे हुए मन को अहित अर्थ से कभी भी रोका नहीं जा सकता क्योंकि धृति ही तो नियन्त्रण करने वाली शक्ति है। मन व इन्द्रियों का नियंत्रण करने रूप अपने कर्म से धृति जब भ्रष्ट हो जाती है तो उस स्थिति को 'धृतिभ्रंश' नाम से कहा जाता है। जब कभी व्यक्ति का मन अशुभ में, अधर्म में या अपने संकल्पित पथ से अन्य पथ पर जाने लगता है, इन्द्रियाँ अपने विषयों में दौड़ने लगती हैं तो धृति उन्हें रोके रखती है। भाव यह है— मनुष्य के पास यह एक अद्भुत सामर्थ्य वाली शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने को अकार्य या अशुभ से रोक कर रखता है। मनु ने भी 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं०' धर्म के दस लक्षण बताते समय धृति को सबसे प्रथम स्थान पर रखा है क्योंकि उसके बिना धर्ममार्ग में प्रवेश ही नहीं है। संस्कृत में धृ धातु

‘पकड़ कर रखना’ इस अर्थ में प्रयुक्त होती है जैसे ‘हस्ते धृत्वा गच्छति’ हाथ में पकड़ कर जा रहा है। सो धर्ममार्ग में अपने को पकड़कर रखना ही धृति है। श्रीमद्भगवद्गीता में धृति के तीन भेद बताए हैं, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

धृत्या यथा धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥१८.३३॥

जिस अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा मोक्ष के साधनभूत भगवद् उपासना रूप योग से मन, प्राण और इन्द्रियों की सब क्रियाएँ धारण की जाती हैं अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियों की सब चेष्टाएँ जिसके द्वारा शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोकी जाती हैं, वह धृति सात्त्विकी है। सात्त्विकी धृति द्वारा धारण की हुई इन्द्रियाँ ही शास्त्रविरुद्ध विषय में प्रवृत्त नहीं होती।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने को नियन्त्रण में रखने वाला मनुष्य, जिस अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा एकाग्रता रूप योग से मन, प्राण व इन्द्रियों की चेष्टाओं को धारण किया करता है, हे पार्थ! वह इस प्रकार की धृति सात्त्विकी है। गाड़ी में जो स्थान ब्रेक का है जीवन में वही स्थान धृति का है।

यथा तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥१८.३४॥

हे अर्जुन! फलाकाङ्क्षी पुरुष जिस धृति से अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है पार्थ! वह धृति राजसी है।

यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

जिस धृति के द्वारा दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न (निद्रा), भय (त्रास), शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ता। अर्थात् विषय सेवन को ही अपने लिये बहुत बड़ा सुख, सौभाग्य व पुरुषार्थ मानकर उन्मत्त की भाँति मद आदि को मन में सदा कर्तव्य रूप से समझता हुआ जो कुत्सित बुद्धिवाला मनुष्य इन सबको छोड़ता नहीं अर्थात् धारण ही किये रहता है। उसकी जो धृति है, वह तामसी मानी गयी है।

स्मृतिभ्रंश का निरूपण करते हुए कहते हैं—

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।

भ्रंश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् । (चरक शा० १.१०१)

रजोगुण तमोगुण से आवृत्त आत्मा वाले जिस व्यक्ति की तत्त्वज्ञान में स्मृति भ्रष्ट हो जाती है वह स्मृतिभ्रंश का लक्षण है, क्योंकि स्मर्तव्य विषय स्मृति में स्थित रहता है, स्मृति के अपराध से स्मर्तव्य विषय का विस्मरण हो जाता है। योगशास्त्र में भी स्मृति साधन को ज्ञान प्राप्ति का अन्यतम साधन बताया है— अर्थापत्ति से वहाँ यह बात ध्वनित होती है कि स्मृति नहीं तो ज्ञान भी नहीं (श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञा०)। यो० सू० १.२०

चरक में सूत्रस्थान के उपसंहार के रूप में एक बड़ा ही सारगर्भित संदेश उपलब्ध है—

समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम् ।

सुखं समग्रं विज्ञाने विमले संप्रतिष्ठितम् ॥

श्लोक में पठित ‘अविज्ञाने’ यह शब्द शब्दान्तर से प्रज्ञापराध की ओर ही इङ्गित कर रहा है। भाव यह है— शरीर व मन का समग्र दुःख (द्वयाश्रयम्) प्रज्ञा का विपरीत अर्थ अविज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान या प्रज्ञापराध पर ही टिका हुआ है। इसी प्रकार शरीर व मन का सम्पूर्ण सुख शुद्ध ज्ञान में प्रतिष्ठित है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रज्ञा (शुद्धबुद्धि या सात्त्विकबुद्धि) की महिमा गाते हुए कहा—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ गीता १८.३॥

अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष— इन सब को जो बुद्धि ठीक-ठीक जानती है, हे पार्थ! वह बुद्धि सात्त्विकी है। जैसा कि पहले ही कहा गया कि ‘धी, धृति, स्मृति’ प्रज्ञा की ये तीन अवस्था विशेष हैं। प्रज्ञावान् व्यक्ति इन तीनों को स्वस्थ रखता हुआ पूर्ण सुखमय जीवन जीता है।

१५. पाँच यम

योग ही वास्तव में विश्व संस्कृति का मूलाधार है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अङ्ग हैं, उनमें पहला अङ्ग है— 'यम'। यम का पाणिनि द्वारा प्रदर्शित अर्थ है 'उपरामता' अर्थात् अलग हटना। किससे? दूसरे प्राणियों के साथ सम्पर्क में आने पर जो हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं उनसे अलग हटना अर्थात् अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह में जीना (अहिंसा-सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। यो० सू० २.३०) इन्हीं पाँच यमों को 'महाव्रत' यह अन्वर्थ नाम भी दिया है जो प्रत्येक देश-काल-जाति और परिस्थिति में परिपालनीय होते हैं।

प्रथम यम है— अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है— मन, वाणी व कर्म से किसी को भी अन्यायपूर्वक कोई दुःख न पहुँचाना। खुद जीओ और दूसरों को भी जीने दो। दूसरों के लिए जीना ही असली जीना है। दूसरों का ध्यान रखना, उनसे प्रेम करना, दूसरों के प्रति मैत्री-करुणा-मुदिता के भाव में जीना ये सब अहिंसा धर्म के ही विविध रूप हैं। एक अहिंसक व्यक्ति को यह करना ही होगा।

दूसरा है— सत्य। सत्य का अर्थ है— यन्मनसा मनुते तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति अर्थात् जो मन में हो वही वाणी से निकलना चाहिये, जो वाणी से कह दें वह कर्म में भी आना चाहिये। पर आज के इस भौतिकवादी युग में सब कुछ विपरीत है। व्यक्ति सोचता कुछ है, कहता कुछ और है और करता कुछ और ही है। परिणाम यह है— किसी को किसी पर विश्वास नहीं है। जीवन में एक कृत्रिमता सी आ गई है। अपनी वास्तविकता को कोई प्रकट नहीं होने देना चाहता। हर कोई मुखौटे पहनकर एक दूसरे की जड़ें काटने में लगा हुआ है। व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन में जमीन आसमान का अन्तर है। दूसरों का खून चूसने वाला चाहता है कि दुनिया उसे दयालु कहे, कदम-कदम पर झूठ बोलने वाला चाहता है कि

दुनिया उसे सच्चा और ईमानदार कहे। चोर अपने को सत्पुरुष और सदाचारी कहलाने का दम्भ भरता है। ये सब इसीलिए कि हम सत्य का नाम तो लेते हैं परन्तु आचरण करते हैं असत्य का। इस दुविधा का एक ही उपाय है— **अनृतात् सत्यं गमय।** सत्य का व्यापक अर्थ है भगवान् के ऋत नियमों में जीना, जो भगवान् के ऋत नियमों में जीता है वह परम सत्य भगवान् को उपलब्ध हो जाता है।

तीसरा है— अस्तेय। अस्तेय का अर्थ है— स्तेय (चोरी) का त्याग। मन, वचन, कर्म से परपदार्थ के लोभ का त्याग। इस शिक्षा का मूल यजुर्वेद के ब्रह्माध्याय के प्रथम मंत्र में ही इस रूप में प्रस्तुत किया गया है— **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'** अर्थात् किसी के धन को लेना तो बहुत दूर की बात मन से भी लालच न करना। वैदिक संस्कृति का कथन है कि पैसा एक साधन है साध्य नहीं, रास्ता है मंजिल नहीं। जो भगवान् को ही सबका स्वामी मालिक स्वीकार कर लेता है, उसके मन में भी किसी भी पदार्थ की अधर्म व अन्यायपूर्वक चाह व स्वामित्व का मोह शेष नहीं रहता।

चतुर्थ यम है— ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ है, प्राण, भूमा, ज्ञान, एवं ब्रह्म परमात्मा तथा चर्य का अर्थ है इन तत्त्वों की साधना, सिद्धि या प्राप्ति। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर में विचरण करना या उसकी महत्ता में विचरण करना। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि मानवता के क्षेत्र में अपने को उदार बनाना, छोटेपन या ओछेपन से ऊपर उठना। ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ है— अपनी इन्द्रियों पर संयम करना। वैदिक संस्कृति का कहना है कि विषयों में जो रस है वह अल्प है। हम तो ब्रह्म अर्थात् महान् होना चाहते हैं फिर अल्प में, छोटे में, क्षुद्र में क्यों उलझें। उपनिषद् में कहा है— **यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।** अर्थात् महत्ता में सुख है, अल्प में सुख नहीं। मनुष्य को क्षणिक सुखों के पीछे न भागकर इन्द्रियों को संयम की लगाम से पकड़ना चाहिये ताकि उसका छोटापन (छिछोरापन) समाप्त हो जाये।

पाँचवा यम है— अपरिग्रह। परिग्रह का अर्थ है— चारों ओर से ग्रहण

करना। मनुष्य का जीवन परिग्रह का जीवन बना हुआ है। हर चीज का उपयोग (धन, सम्पत्ति, सम्बन्ध, विचार-मान्यताएँ, शुभ कर्म) व्यक्ति अपने अहं को बढ़ाने में करता रहता है। वैदिक संस्कृति कहती है— अपरिग्रही बनो। कम से कम में जीना अर्थात् क्या इसके बिना भी मेरे जीवन का निर्वाह हो सकता है, शेष जो भी हमें विवेकपूर्ण पुरुषार्थ व न्यायपूर्वक उपलब्ध हो उसे सेवा में लगा देना ही सच्चा परिग्रह है।

खुद मरना सीख— सार रूप में वैदिक संस्कृति का यही सन्देश है कि हे प्राणी! तू मरने के स्थान पर दूसरों को बचाने के लिए खुद मरना सीख। झूठ, बेईमानी तथा मक्कारी के स्थान पर सच और ईमानदारी सीख, दूसरों का माल हड़पने के बजाय सन्तोष सीख, उच्छृंखलता के स्थान पर संयम सीख और दुनियाँ से चिपटने के बजाय उससे अलगाव से रहना सीख।

☞ कोई सीधा स्वर्ग में नहीं पहुँचता। महान् नरक में से गुजरकर ही स्वर्ग के दर्शन होते हैं। स्वर्ग, शाश्वत-सुख या मुक्ति तक की यात्रा के योगमार्ग में मिथ्याज्ञान के कारण क्षणिक सुखों का आकर्षण तथा राजसिक व तामसिक बुद्धि के कारण कई बार महान् नरक के भी दर्शन होते हैं। साधक को बहुत सावधानी व विवेक पूर्वक गुरु, शास्त्र, साधना व भगवत् शरणागति में रहकर पूर्ण सात्त्विकता के साथ धर्म के मार्ग पर चलकर इन नारकीय दुःखों से बचकर स्वर्ग की ओर बढ़ना चाहिये।

☞ आत्मनिष्ठ पुरुष सूर्य की तरह चमकता रहता है सदा ज्ञान से ओत-प्रोत, प्रसन्न, सहज आनन्द से परिपूर्ण।

४०४०४०४

१६. धर्म का स्वरूप

धर्म का लक्षण क्या है? जो हमारी आन्तरिक माँग, सहज स्वाभाविक माँग, हम सबकी मूल माँग को पूरा करे। हमारी मूल माँग क्या है? हम सब की मूल माँग है 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' की। अभ्युदय और निःश्रेयस क्या हैं? अभ्युदय है 'समृद्धि' (Prosperity) और निःश्रेयस है 'समस्त बन्धनों से मुक्ति, सतत ज्ञान समाधान में जीना अर्थात् सर्वदा आनन्द (Bliss), विशुद्ध प्रेम (Divine-Love) व सौन्दर्य (Beauty) का सतत अनुभव, अपने चिन्मय स्वरूप में स्थिति, आत्मसाक्षात्कार (Enlightenment), ईश्वर में स्थिति, आन्तरिक सजगता (inner-awareness), पूर्ण निर्भयता और विनय, प्रसन्नता (Happiness), शान्ति (Peace), पूर्ण सन्तोष व तृप्ति (Contentment), सरलता ऋजुता (अन्दर और बाहर की एकरूपता), पूर्ण सहजता, परम पवित्रता (Purity), सब प्रकार की दिव्यता (Divinity) इत्यादि' रूप में जीना।

समृद्धि क्या है? अपने भौतिक अस्तित्व (शरीर) के साधन जो कि परिश्रम व ईमानदारी पूर्वक जुटाये जाते हैं, जिनको जुटाने में दूसरों के साथ न तो कोई स्पर्द्धा होती है और न कोई देखा-देखी। इस प्रक्रिया से जो साधन प्राप्त होते हैं यदि उनमें एक अपूर्व संतोष का भाव भी जुड़ा हुआ है तो ही वे समृद्धि के अन्तर्गत गिने जाते हैं। इस सम्बन्ध में संसार भर के लोगों को तीन श्रेणियों में बाँटकर देखा जा सकता है। **एक वे हैं** जो 'साधनविहीन दुःखी दरिद्र' हैं। **दूसरे हैं** 'साधन सम्पन्न दुःखी दरिद्र'। यह कैसे? क्योंकि उनके पास जो है उसमें उन्हें संतोष या सन्तुष्टि नहीं है, दूसरों के साधनों के साथ तुलना है अतः सदा न्यूनता का आभास होता रहता है, उस न्यूनता को पूरा करने के लिए परस्पर संघर्ष है, स्पर्द्धा है, ऐसी स्थिति में सुख कहाँ? अतः कहा गया 'साधन सम्पन्न दुःखी दरिद्र'। **तीसरे लोग हैं** 'साधन सम्पन्न सुखी, प्रसन्न व समृद्ध'। ये वे लोग हैं जिन्होंने अपने विवेक या समझदारी के प्रकाश में अपनी आवश्यकताओं को सुनिश्चित किया है और इस प्रकार जो उनके पास है

उससे पूर्ण सन्तुष्ट हैं।

इस प्रकार देखा गया— समृद्धि का सम्बन्ध एकान्ततः रुपया-पैसा या वस्तुओं (Cash & Kind) के साथ ही नहीं है बल्कि व्यक्ति के भावों के साथ भी है। हाँ! समृद्धि के स्वरूप को बताने के लिए इतना सा और जोड़ा जा सकता है कि अपनी जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद कम से कम कुछ साधन किसी असहाय की मदद करने के लिए भी बच जाने चाहिए। **समृद्ध व्यक्ति पदार्थ का सदुपयोग और दूसरे का पोषण करने की सोचता है, जबकि दरिद्र की सोच संग्रह और शोषण से आगे नहीं बढ़ती।**

सार यह निकला— अभ्युदय का सम्बन्ध मुख्यतः पदार्थ के साथ तो है ही पर ज्ञान और भाव के साथ भी है तथा निःश्रेयस का सम्बन्ध पूर्णतः ज्ञान व भाव (Right understanding - Right feeling) के साथ ही है। जीवन कुल मिलाकर 'पदार्थ, ज्ञान व भाव' इन तीनों पर आधारित है। सुविधा केन्द्रित जीवन ज्ञान व भावों को साथ लेकर नहीं चलता, सुविधाओं को ही सुख मान बैठता है और सामान को सम्मान। जबकि वास्तविक सुख तो 'पदार्थ, ज्ञान व भाव' तीनों की सम्मिलित क्रिया से ही उत्पन्न होता है। प्राचीन भाषा में मानव की मूल माँग को पूरा करने के लिए शब्दान्तर से 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' का निर्देश किया है। उनका कहना है— केवल अर्थ (पदार्थ) और काम (शरीर व मन की कामनाओं) से जीवन का पूरा नहीं पटता, साथ में धर्म और मोक्ष भी चाहिए। धर्म और मोक्ष में ज्ञान व भाव का समावेश हो जाता है।

☞ भोगों का सुख कभी भी क्षण-क्षण में सतत नहीं होता जबकि आत्मा का सुख सदा बना रहता है। इसीलिये भोगसुख को 'अल्प' और आत्मसुख को 'भूमा' कहा जाता है। भूमा में स्थित होने के लिये किसी भी प्रकार से अल्प का त्याग या अल्प के मोह को त्याग करना ही होगा। भूमा की उपलब्धि (प्राप्ति) अब तक कभी की हो जाती, केवल एक अल्प ने मार्ग रोका हुआ है।

४०४०३३

१७. क्लिष्ट व अक्लिष्ट वृत्तियाँ

क्लिष्टवृत्ति व अक्लिष्टवृत्ति क्या हैं? चित्त के ज्ञानात्मक व्यापार को वृत्ति कहते हैं, वह व्यापार दो प्रकार का है— चित्त में अज्ञान को या क्लेशों को बढ़ाने वाला व्यापार क्लिष्टवृत्तियों के अन्तर्गत आता है तथा अज्ञान या क्लेशों को मिटाने वाला चित्त का व्यापार अक्लिष्टवृत्तियों के अन्तर्गत। मैं एक शरीर हूँ, मैं सुन्दर या असुन्दर हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं कुछ हूँ दूसरों से विशेष या हीन, ये सब हैं 'क्लिष्टवृत्तियाँ'। चित्त की अक्लिष्टवृत्तियाँ तीन रूपों में कार्य करती हैं— **पहला** लौकिक विषयों, ऐन्द्रियिक कामनाओं, तृष्णाओं व एषणाओं में दोष-दर्शन कराकर उनसे साधक को हटाती हैं, जिससे कि साधक के जीवन में अपर-वैराग्य घटित होता है। **दूसरा** नेति-नेति के द्वारा साधक को उसके अपने चिन्मय स्वरूप को ढूँढने में भी अक्लिष्टवृत्तियाँ ही मदद करती हैं। अक्लिष्टवृत्तियाँ ही साधक के समक्ष यह रहस्य उद्घाटित करती हैं कि 'न तो तू किसी से विशेष है, न हीन, बल्कि तू तो शुद्ध-ज्ञानरूप, चिन्मयस्वरूप है अर्थात् जैसे तू है वैसे ही सब के सब तेरे दूसरे मनुष्य भाई हैं'। इस प्रकार साधक अहंता और हीनता से मुक्त हो जाता है। **तीसरा** अक्लिष्टवृत्तियाँ साधक को अपने द्वारा स्वयं को भगवान् के एक भक्त के रूप में या ईश्वर के एक सेवक के रूप में या ईश्वर के एक बालक के रूप में देखने के लिए दिशा देती हैं। अक्लिष्टवृत्तियों के बल पर ही साधक अपने को ईश्वर के लिए काम करने वाले तथा ईश्वर के लिए अपने कर्मों की हविः (भेंट) चढ़ाने वाले एक याज्ञिक के रूप में देख पाता है, ईश्वर को अपना सुहृत्-सखा-बन्धु-माता-पिता-गुरु-आचार्य-राजा-न्यायाधीश स्वीकार कर पाता है।

क्लेश क्या है? चित्त में रहने वाला ऐसा ज्ञान जो तथ्यों को ठीक-ठीक नहीं देखने देता। बाह्य परिस्थितियाँ, घटनाएँ, तथ्य जो भी हों, किन्तु चित्त उसे अपने सीमित ज्ञान के अनुसार ग्राह्य-अग्राह्य, सुखप्रद-दुःखप्रद, लाभप्रद-हानिप्रद देखता है, यह ज्ञान जब यथार्थ दर्शन नहीं करा पाता है तो क्लेशदायक

होता हुआ क्लेश कहा जाता है। ये क्लेश संख्या में पाँच हैं— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

अस्मितादि क्लेशों के कितने-कितने रूप हैं? चार-चार, प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न और उदार। बाल्यकाल में, गाढ़ निद्रा में, प्रलय में, एक शरीर से दूसरे शरीर के धारण करते समय बीच के उत्क्रमण काल में सभी क्लेश 'प्रसुप्त' होते हैं। सामान्य जीवन क्रम में विरोधी क्लेश एक दूसरे से 'विच्छिन्न' होते रहते हैं, जैसे राग के उभरने (उदार होने) से क्रोध विच्छिन्न, क्रोध के उभरने से राग विच्छिन्न हो जाता है। योग साधना व प्रतिपक्ष-भावना से क्लेश 'तनु' होते हैं तथा सतत ज्ञान की स्थिति में रहने से दग्धबीज अवस्था को भी प्राप्त हो जाते हैं। योग साधना के बिना कभी भी क्लेश तनु या उससे अगली स्थिति दग्धबीज अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते, यह सदा स्मरण रखने योग्य है। योगसाधना है— अपने लिये बाह्य से निरपेक्ष अन्तर्मुख होकर जीना।

* * *

☞ एक दृष्टि से पाप-पुण्य को हम ऐसा समझ सकते हैं— हमने किसी का किसी शुभ-मङ्गल या अच्छाई की ओर ध्यान आकृष्ट किया, वह हमारा पुण्य बन गया। इसके विपरीत हमने किसी का किसी अशुभ-अमङ्गल या बुराई की तरफ ध्यान दिला दिया, तो वह हमारा पाप बन गया। व्यक्ति को बहुत सावधान रहना चाहिये कि कहीं वह अपने व्यवहार, अपनी वाणी, अपने आचरण से दूसरों का गलत बातों की ओर ध्यान न दिला बैठे। क्योंकि यह उसका पाप बनकर उसके जीवन की जड़ों को खोद डालेगा। प्रज्ञावान् व्यक्ति को अपने जीवन वृक्ष को पुण्यजल से सतत सिञ्चित करते रहना चाहिये। यह जीवन का एक महान् सौभाग्य होगा।

☞ श्रवण-मनन-निदिध्यासान से ज्ञान सुप्रतिष्ठ हो जाता है, सहज हो जाता है।
☞ यथार्थ-ज्ञान से ग्राह्य का ग्रहण और त्याज्य का त्याग सहजरूप से होता रहता है।

४०४०७७

१८. प्रेक्षापूर्वकारी : सम्भिन्नबुद्धि

महाभाष्यकार पतंजलि ने किसी प्रसङ्ग में प्रेक्षापूर्वकारी तथा सम्भिन्नबुद्धि इन दो महत्त्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है। प्रेक्षा का अर्थ होता है प्र+ईक्षण अर्थात् प्रकृष्ट दर्शन अर्थात् प्रकर्षयुक्त दर्शन अर्थात् विशेष दर्शन। सम्भिन्न शब्द 'मिले हुये' अर्थ का वाचक है। सम्भिन्नबुद्धि का अर्थ हुआ— मिली हुई बुद्धिवाला (Confused mind)। संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं— एक प्रेक्षापूर्वक कार्य करने वाले और दूसरे आगे-पीछे का विचार न करके, बस! जो उनके सामने आया वही करते चले जाते हैं चाहे परिणाम सुखदायी हो या दुःखदायी। प्रेक्षापूर्वक कार्य करने वाले लोग किसी काम को करने से पहले अच्छी प्रकार विचार करके देखते हैं कि तू जो काम करने जा रहा है उसके क्या-क्या लाभ-हानि हो सकते हैं। हानि का पलड़ा यदि भारी होता है तो वे उस काम को कदापि नहीं करते अर्थात् बेशक वर्तमान में उन्हें किसी प्रकार का लाभ होता हुआ भी दिखाई दे रहा हो पर यदि परिणाम में दुःख-हानि-कष्ट मिलता प्रतीत हो रहा हो तो उसमें वे कदापि प्रवृत्त नहीं होते। जबकि सम्भिन्न-बुद्धि वालों को बस वर्तमान का लाभ या सुख चाहिये, परिणाम क्या होगा— यह उनके विचार में ही नहीं आता। एक दृष्टि से प्रेक्षापूर्वकारी 'परोक्षप्रिय' होते हैं तो सम्भिन्नबुद्धि 'प्रत्यक्षप्रिय'।

भगवद्गीता में वार्ष्णेय कृष्ण के मुख से कृष्णद्वैपायन कहते हैं— यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। अर्थात् कुछ कार्य आरम्भ में तो विष के समान प्रतीत होते हैं पर उनका परिणाम अमृत जैसा होता है। विद्याप्राप्ति, किसी नवीन कला का शिक्षण, धर्म का आचरण, सत्य की राह पर चलना, वाक्संयम, मनःसंयम, शरीर संयम इत्यादि कर्म कुछ ऐसे हैं जिन्हें करते समय व्यक्ति को बहुत ही एकाग्र रहने की आवश्यकता होती है। मन को इधर-उधर न बिखरने देने के लिये अपने मन को प्रतिकूल या बाधक इच्छाओं से खाली करना होता है। बहिर्मुख मन को अन्तर्मुख करने के लिये बहुत कष्ट से गुजरना

पड़ता है— यह हम सब का ही प्रतिदिन का अनुभव है, पर साथ में यह भी स्पष्ट है कि इन सब का परिणाम कितना सुखद होता है। प्रेक्षापूर्वकारी कारण-कार्य (Cause & effect) के अकाट्य सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखता है कि जिस जाति का बीज होता है उसी जाति का वृक्ष बनता है और आगे उसी जाति के फल लगते हैं। सो प्रकृत में भी वह देखता है कि अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम सुख व दुःख के रूप में व्यक्ति को अवश्य भोगने पड़ते हैं।

प्रेक्षापूर्वकारी आगे विचार करता है जैसे एक शरीर में विजातीय तत्त्व इकट्ठे हो जाते हैं तो शरीरस्थ प्राकृतिक शक्तियाँ उसके साथ अन्तिम क्षण तक लड़ती हैं और उसे नष्ट करने का प्रयास करती हैं, बस उसी प्रकार समष्टि में भी जब कोई व्यक्ति-विशेष अपनी किसी आहंकारिक माँग के अनुसार समष्टि के विरुद्ध कार्य करता है तो समष्टिगत शक्तियाँ उस व्यक्ति को अपने अन्दर से बाहर फेंकने के लिये उग्र रूप धारण कर लेती हैं। या तो व्यक्ति अपनी अलग चाल को छोड़ देता है अन्यथा उसको नष्ट कर दिया जाता है। व्यष्टि और समष्टि में चल रहे कारण-कार्य (Cause & effect) के इस सततगामी चक्र को प्रेक्षापूर्वकारी ध्यान से देख लेता है— इसलिये ऐसा कोई भी काम नहीं करता जो समष्टि के प्रतिकूल हो— मोटी भाषा में कहें तो जो समाज के दुःख का कारण बन रहा हो। वह अपने आपको कभी भी सम्पूर्ण समाज से अलग-थलग एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में नहीं देखता। वह देखता है जैसे शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग मिलकर ही अपने अस्तित्व को बनाये रखने में समर्थ हो पाते हैं अन्यथा विघटित हो जाते हैं, इसी प्रकार समष्टि से अलग चलने में मुझे सुख की बजाय दुःख ही उठाना पड़ेगा। इस सब का अवलोकन कर प्रेक्षापूर्वकारी कभी भी इतना स्वार्थी नहीं होता जैसे कि उस हाथ का हाल हो जाता है जो उसके पास आये हुए पदार्थ को अपने पास ही रखने के लोभ में उसे आगे मुख तक नहीं पहुँचाता। हाथ के द्वारा अपने अधिकृत अंश के त्याग करने में ही हाथ का भी लाभ छिपा है, यह जितना स्पष्ट है उतना ही प्रेक्षापूर्वकारी को समष्टिगत यज्ञ-चक्र स्पष्ट होता है। सम्भिन्नबुद्धि को ये सब चीजें उक्त

रूप में नहीं दिखाई देतीं।

प्रेक्षापूर्वकारी व्यष्टि और समष्टि को धारण करने वाले नियमों व शक्तियों को यथायथ धर्म के रूप में पहचानता है। यम-नियम, दया व दान ही वे नियम हैं जिन पर व्यक्ति और समाज टिका हुआ है अथवा धैर्य, सहनशीलता, इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, अचौर्य, आन्तर-बाह्य शुचिता (पवित्रता), उत्तमबुद्धि (शुद्धबुद्धि), यथार्थ ज्ञान, सच्चाई (मन-वचन-कर्म की एकरूपता), अक्रोध इत्यादि वे मूलभूत नियम हैं जिनके विपरीत चलने पर व्यक्ति व समाज दोनों ही विखण्डित होते चले जाते हैं। जहाँ प्रेक्षापूर्वकारी ‘सुखस्य मूलं धर्मः’ इस आर्षवचन को अपना आधार बनाकर चलता है, वहाँ सम्भिन्नबुद्धि को इसमें कोई आस्था नहीं होती। उसका आधार वाक्य होता है— ‘सुखस्य मूलम् अर्थः’ वह अर्थ और उससे सिद्ध होने वाली कामनाओं की सम्पूर्ति के लिये तत्काल धर्म की बलि चढ़ा देता है, जबकि प्रेक्षापूर्वकारी किसी भी बिना (शर्त) पर, चाहे वह कोई बड़े से बड़ा प्रलोभन है या कोई कामना (इच्छा) अथवा किसी भी प्रकार का कोई भय है— यहाँ तक कि जीवन की सुरक्षा को भी धर्म के समक्ष तुच्छ मानता है। धर्म उसके लिये नित्य होता है— सुख-दुःख अनित्य, निरन्तर बदलती रहने वाली वस्तु। इसी प्रकार जीव (आत्मा) को एक नित्य तत्त्व के रूप में देखता है तथा इस दृश्यमान शरीर को अनित्य। प्रेक्षापूर्वकारी मानवमात्र को लक्ष्य कर महाभारतकार व्यास ऋषि ने अपने सम्पूर्ण काव्य (जो कि उत्तर काल में मनीषियों के द्वारा निखिल ज्ञान-विज्ञान का आकर कहा गया है) का सार एक श्लोक में प्रस्तुत करते हुये यही तो उद्बोधन दिया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज् जीवितस्यापि हेतोः ।

धर्मो नित्यो सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो धातुरस्य त्वनित्यः ।।

जहाँ सम्भिन्नबुद्धिव्यक्ति को आपातरमणीय विषयों में रस व आनन्द दिखाई देता रहता है— वहाँ प्रेक्षापूर्वकारी को उनकी परिणाम-परितापिता, कटुता, खिन्नता व विरसता ही दृग्गोचर होती रहती है। सम्भिन्नबुद्धि इन विषयरूपी

विषधरों की प्रतीयमान कोमलता व लावण्य से मुग्ध होकर सदा ही उनके पीछे दौड़ पड़ता है और भूल जाता है उनके अन्दर छिपे हुये जहरीले विष को, जिसका कि पहले भी वह भ्रान्तिवश अनेकों बार शिकार हो चुका था। इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन ही इन भयंकर सर्पों से डसा जाता हुआ बीतता रहता है। जब कि प्रेक्षापूर्वकारी इन विषयों से कभी अकस्मात् मुग्ध हो भी जाये तो सदा-सदा के लिये सम्भल जाता है और कभी भी अपने आप को उसी पूर्व विपत्ति में नहीं फंसने देता। अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी गिरता भी है तो बार-बार नहीं गिरता, जबकि सम्भिन्नबुद्धि को या तो अपने पतन का पता ही नहीं चलता और पता चल भी जाये तो कुछ दिन में फिर वही पुनरावृत्ति कर बैठता है और इस प्रकार इस अन्तहीन पुनरावृत्ति के क्रम में से गुजरता रहता है। इसलिए आओ हम सब अपने जीवन को प्रेक्षापूर्वकारी बनायें।

☞ अहंकार कभी भी अन्तःसुख (आन्तरिक सुख) को नहीं पहचान सकता, इसीलिये उसे कभी भी उसकी चाह नहीं होती। अहंकार को जिस सुख का परिचय है वह है— ‘प्रचलित मान्यताओं से मिलने वाला सुख अर्थात् बड़ा घर, बड़ी गाड़ी, बड़ा पद, स्वर्णाभूषण, सत्ता (Power), सम्पत्ति, समाज से मिलने वाला सम्मान, वैषयिक सुख इत्यादि’। इससे आगे अहंकार की पहुँच नहीं है।

☞ जिस मनुष्य को विषयों का सुख सदा ही हलाहल जहर मिली हुई खीर के समान दिखाई देता रहता है अथवा जैसे किसी विषधर सर्प या बिच्छू या बाघ की उपस्थिति मृत्युरूप दिखाई देती है, उसी प्रकार जिन्हें विषयों का सम्पर्क साक्षात् मौत ही दिखाई देता है, वे ही विषय-सुख की मोहकता व मादकता से मुक्त हो पाते हैं, शेष तो सब इस मृत्यु के चबेने बनते रहते हैं। ‘सर्पदर्शन और सर्प से हटना’ ये दोनों क्रियायें एक साथ घटित होती हैं, इनमें काल का अन्तर नहीं होता।

☞ स्थिरता व सजगता में ही हम भगवान् के साथ एकत्व में रहते हैं। कर्म करते हुए भी यदि स्थिरता व सजगता बनाये रख सकें तो एकत्व भंग न हो।

४०४०४०४

१९. मैं कौन ?

‘मैं कौन हूँ’— इसका स्पष्ट उत्तर वेद ने यों दिया है—

अहमिन्द्रो न पराजिग्यऽइद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन ।। (ऋ० १०.४८.५)

मैं इन्द्र हूँ, मुझे पराजित करके मुझसे मेरा धन कोई नहीं छीन सकता। क्योंकि मैं अपने ऐश्वर्य के कारण कभी पराजित नहीं हो सकता, मैं कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता।

मैं पुरुषोत्तम हूँ, मैं इन्द्र हूँ— इन सब वाक्यों का एक ही अर्थ है और वह यह है कि ‘मैं शक्तिमान् हूँ, मैं शक्ति का केन्द्र हूँ। मेरे इन्द्र होने का ही यह स्पष्टीकरण है कि मेरा कोई पराभव नहीं कर सकता। ‘मैं’ नाम की जो वस्तु है, वह शक्तिमान् है या निर्बल है, इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र में इस रूप में दिया है कि मैं शक्तिमान् हूँ, मैं इन्द्र हूँ। इन्द्र का अर्थ है शत्रुओं का विदारण करने वाला (इन्+द्र)। मैं इन्द्र हूँ— इसका यही अर्थ है कि मैं इतना सामर्थ्यवान् हूँ कि अपने समस्त शत्रुओं का विदारण कर सकता हूँ और मेरा कोई पराभव नहीं कर सकता।

परन्तु जिस प्रकार सामर्थ्यशाली विद्युत् समस्त पदार्थों में विद्यमान है किन्तु घर्षणादि प्रयोगों से उसे प्रकट करना आवश्यक होता है, इसी प्रकार ‘मैं’ के अन्दर वह इन्द्रशक्ति छिपी हुयी है जो साधना और अनुष्ठान द्वारा प्रकट होती है। यह तो निश्चित है कि शक्ति है और ‘मैं’ निर्बल नहीं बल्कि सबल है। परन्तु किसी में यह शक्ति प्रसुप्त होती है तो किसी में प्रकट। इसके प्रसुप्त होने व प्रकट होने के स्तर में अन्तर हो सकता है किन्तु वह शक्ति है अवश्य। उस शक्ति का सम्पादन ही मानव जीवन की साधना है और यही मानव जीवन की उपयोगिता है।

इन्द्र की एक सभा है, इन्द्र उस सभा का अध्यक्ष है, अन्य सब देव उस सभा के सभासद् हैं। आत्मा के रूप में इन्द्र उसी शरीर में निवास करता है। जहाँ इन्द्र निवास करता है वही स्वर्ग है, वही अमरावती है, वही नन्दनवन है।

४०४०४०४

२०. होशपूर्ण जीवन

मनुष्य जिस जीवन को जीता है, उसे अन्दर से पूर्ण होश में रहते हुए भी जी सकता है और बेहोश रहते हुए भी। 'जीवन' का अर्थ है शरीर, वाणी, मन-बुद्धि-अहंकार व इन्द्रियों की समस्त क्रियायें। शरीरादि के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली इन सब क्रियाओं को होश में रहते हुए करने का तात्पर्य यह है— 'अन्तर्जागरण, अन्तःप्रकाश, ध्यान, साक्षिभाव या द्रष्टा-भाव के साथ करना'। इसको विस्तार पूर्वक इस रूप में समझा जा सकता है— नासिका से श्वास-प्रश्वास का आना-जाना सतत चल रहा है, यह क्रिया साक्षिभाव या ध्यान के बिना भी स्वाभाविक रूप से तो हो ही रही है, किन्तु इसी क्रिया को अपने मन के होश (Awareness) अर्थात् अपनी अन्तश्चेतना के साथ भी किया जा सकता है। इसी प्रकार वाणी का बोलना, आँखों से देखना, भोजन करना, किसी की बात सुनना, झाड़ू लगाना, खेत में घास उखाड़ना, गायों की सेवा करना, पौधों में पानी डालना, अपने शरीर से सम्बद्ध स्नानादि क्रियाओं का करना, किसी भी अच्छी प्रकार रटी हुई चीज का पाठ करना (संध्या हवन के मन्त्रों का पाठ, अष्टाध्यायी सूत्रपाठ इत्यादि), कोई लेख लिखना, किसी भी वस्तु का अपने हाथों से आदान-प्रदान करना, राह-चलना, मन से विचार करना इत्यादि समस्त क्रियाओं के सन्दर्भ में समान रूप से एक ही नियम लागू होता है कि ये सब की सब विविध क्रियायें अभ्यास बल से भी होती हैं और आन्तरिक प्रकाश या साक्षिभाव के साथ भी की जा सकती हैं।

सामान्य व्यक्ति अन्दर से अचेत रहता हुआ ही इन क्रियाओं को करता रहता है। क्रियाओं के साथ मात्र अवचेतन मन का योग होता है, जागरित मन उनके साथ जुड़ा हुआ नहीं होता। किन्तु योगी की क्रियायें आन्तरिक होश के साथ होती हैं, यही योग की स्थिति है। होश होश को जन्म देता है और बेहोशी बेहोशी को। होश की पराकाष्ठा ही योग है अर्थात् एकदम चिन्मय होकर जीना। यही है वर्तमान क्षण में जीना, भूत और भविष्यत् से मुक्त होकर जीना।

सत्य में या शाश्वत में स्थित होने का यही एक साधन है। यह होशपूर्ण जीवन प्रज्ञा विशेष की उपलब्धि का एक ऐसा साधन है, जो कि भूतकाल की सुखद व दुःखद स्मृतियों के प्रति मरना जानता है। जीवन जीने की यह एक ऐसी कला है जहाँ दुःख के लिए कोई स्थान ही नहीं बचता, क्योंकि चिन्मयता के साथ आनन्द सदा अविभक्त रहता है। इस स्वबोध से स्वधर्म की उपलब्धि मानो ऐसे ही होती है जैसे सूर्य से प्रकाश और उष्णता की। मनुष्य का स्वधर्म है— स्वराज्य, सहजता, समता, सामञ्जस्य (Harmony), आनन्द इत्यादि।

☞ कोई भी पदार्थ या कोई चेतन प्राणी मनुष्य आदि जो सबसे अधिक प्रिय लगता है वही सबसे अधिक रुलाता है।

☞ यह सदा याद रखना चाहिए कि बहुत कुछ खोते हुए स्पृद्धा के द्वारा आगे बढ़ा जाता है, यदि इसके लिए किसी ने अपने को तैयार कर लिया है (उसे यह खोना स्वीकार्य है) तो ठीक है, किन्तु सचेत मन इसके लिए तैयार नहीं हो पाता।

☞ 'स्पृद्धा' एक ऐसा भयानक भूत है कि इसी में संवेदनशील व्यक्ति के लिए समस्त दुर्भाग्य के बीज छिपे रहते हैं तो भी तमस् में डूबे हुए व्यक्ति के बाह्य विकास के लिए स्पृद्धा एक साधन हो सकती है।

☞ शुभ में, धर्म में, सत्य में, आत्मा में, मङ्गल में सहज प्रतिष्ठा ही साधना की पराकाष्ठा है।

☞ हविष्यान्न (यज्ञशेष) खाकर भी काम-कांचन में मन रहे तो समझो साधना में कहीं कमी है।

☞ अज्ञान का स्वाभाविक परिणाम 'भेद-दर्शन' और ज्ञान का 'अभेद (एकत्व) दर्शन'। भेद-दर्शन से दूसरों की तुलना में अपने में विशेषता का अनुभव। अभेद-दर्शन से अन्तर्निर्हित समानता की अनुभूति। भेद-दर्शन से अपने में 'हीनता' और 'अहंता' का अनुभव और उससे विक्षोभ, अतृप्ति; अभेद-दर्शन से प्रेम, शान्ति व तृप्ति का अनुभव।

२१. अपने असली स्वरूप की खोज

शास्त्रों में जो यह वचन मिलता है कि 'आत्मा' हमारी हृदय गुहा में रहती है तो उसका अभिप्राय यही होता है कि बुद्धिरूपी गुहा में रहती है। बुद्धि अर्थात् ज्ञान आत्मा का बाहरी आवरण होता है, उस आवरण को पार करने पर आत्मा का अनुभव या दर्शन होता है। अन्यथा केवल ज्ञान ही हमारे अनुभव में आता है। यद्यपि आत्मा के कारण ही उस ज्ञान का अस्तित्व है, आत्मा के कारण ही ज्ञान प्रकाशित हो पाता है, किन्तु आत्मा में स्थिति के लिये ज्ञान का भी निरोध करना होता है। जब आत्मविषयक ज्ञान ('मैं हूँ') या इदंविषयक ज्ञान ('यह है') अनुभव में आता है तब तक विशुद्ध आत्मस्वरूप में (द्रष्टा में) स्थिति नहीं होती। यद्यपि 'मैं हूँ' इस बोध में आत्मा का ही बोध रहता है किन्तु दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति की एकात्मता के बिना यह बोध नहीं हो सकता, अतः आत्मस्वरूप में स्थिति के लिये सर्वथा वृत्तिनिरोध चाहिये (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् १.३, पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्य-स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ४.३४) इसी भाव को एक अन्य ज्ञानी पुरुष ने इस रूप में प्रकट किया है कि— 'नीरवता वह द्वार है जिससे अनन्त में प्रवेश पाया जाता है'।

बुद्धि-शरीर-मन-इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी अर्जित किया जाता है— वस्तु-व्यक्ति-विचार-सम्बन्ध अर्थात् विद्या, बल, धन, सम्मान-यश-कीर्ति, जन-समर्थन, शक्ति (Power), पद, उन्नत चरित्र, पुत्र या शिष्य आदि। आत्म और अनात्म (पुरुष व प्रकृति, चेतन व जड़, द्रष्टा व दृश्य, प्रकाशक व प्रकाश्य, ज्ञाता व ज्ञेय, भोक्ता व भोग्य, प्राण व रयि, साध्य व साधन, गन्तव्य व मार्ग) की दृष्टि से यदि विभाजन करके देखा जाए तो जो कुछ भी 'साधन' इस नाम से जाना जाता है और आगे फिर उन साधनों से जो कुछ भी साधन प्राप्त किये जाते हैं वे सब अनात्म रूप ही होते हैं। किन्तु अज्ञान के कारण अर्थात् आत्म की अनात्म के साथ (द्रष्टा की दृश्य के साथ, चिन्मय तत्त्व की जड़ के साथ) तदाकारापत्ति (अध्यास) के कारण व्यक्ति अनात्मभूत

समस्त प्रपञ्च को अपना स्वरूप ही मानता रहता है, 'मैं' के रूप में ही देखता रहता है। इसको अज्ञान इसलिये कहा जा रहा है कि यह 'अतस्मिन् सः' बुद्धि है। अर्थात् जो वह नहीं है वह मान लेना रूप बुद्धि है। ज्ञान नाम तो 'तस्मिन् सः' बुद्धि का है अर्थात् जो वह है उसे ही वह मानना। बुद्धि जब अत्यन्त एकाग्र, निर्मल, शुद्ध होती है तो इस अवस्था को योगशास्त्र में 'विवेकख्याति' 'सत्त्वपुरुषान्यतारख्याति' 'प्रख्यारूपचित्तसत्त्व' 'परम प्रसंख्यान' 'धर्ममेघध्यान' इत्यादि नामों से कहा गया है। बुद्धि का यह रूप सत्त्वगुण से लबालब भरा होता है, इस अवस्था में बुद्धि में रजोगुण (क्रिया) व तमोगुण (स्थिति अर्थात् क्रिया व प्रकाश की आवेकरूपता) नगण्यप्राय हो जाते हैं, अदृश्य ही हो जाते हैं।

इस उपर्युक्त स्थिति को योगशास्त्र में विभिन्न प्रसङ्गों में बड़े अच्छे से समझाया है। विभूतिपाद के अन्तिम सूत्र में कहा है— 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' पुरुष जितना शुद्ध है उतनी ही जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तो अध्यास टूट जाता है, पुरुष केवल हो जाता है अर्थात् अभी बद्धावस्था में जो पुरुष की स्थिति है वह केवल नहीं है, बुद्धि के साथ एकरूप हो रहा है, तदाकारापत्ति की स्थिति में है, अध्यास टूटने पर ही पुरुष केवल स्थिति को प्राप्त होता है। बुद्धि की इस उपर्युक्त ज्ञानरूप स्थिति को साधनपाद के 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' (२.२६) तथा 'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा' (२.२७) इन सूत्रों तथा कैवल्यपाद के 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' (४.२९) एवं 'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्' (४.३१) इन सूत्रों में दर्शाया गया है। बुद्धि की इस चरम विशुद्धि को प्राप्त करने के दो रास्ते हैं— एक है नेति-नेति के द्वारा अनात्म का निराकरण करते-करते आत्मा को पा लेना।

यह एक तथ्य है— बुद्धि आत्मा के जितना निकट रहती है, शुद्ध होती जाती है और जितना वह अनात्म में लीन रहती है उतनी ही अशुद्ध रहती है, अशुद्ध होती जाती है।

दूसरा मार्ग है— भक्ति प्रधान (भावप्रधान)। कण-कण में अपने प्रियतम को देखना, प्रियतम के लिये ही जीना, उसी के लिये कर्म करना, कर्मों से

प्राप्त फलों को भी उसी के लिये अर्पित कर देना, अपने लिये कुछ भी न चाहना, कर्म करते समय लाभ-हानि में सम रहना। इस प्रक्रिया से भाव शुद्ध होते-होते बुद्धि एकाग्र हो जाती है। भावों की अशुद्धि ही बुद्धि को चञ्चल या जड़ बना देती है। भाव शुद्धि के मार्ग से बुद्धि में सत्त्वगुण को बढ़ाया जाता है सत्त्वगुण की वृद्धि चिज्जड़ग्रन्थि को खोल देती है। जड़-चेतन के भेद को खोल देना ही बुद्धि का परम पुरुषार्थ है। आगे तो बुद्धि का कुछ काम ही नहीं बचता। जो होना है वह स्वाभाविक नियम से स्वतः होता है।

☞ इस संसार में सब दुःखी हैं, कोई भी दुःख से मुक्त नजर नहीं आता। किसी को एक प्रकार का दुःख है तो दूसरे को कोई दूसरे प्रकार का दुःख है। सुखी वही है जिसका मन निर्मल है, शान्त है, एकाग्र है, समर्पण भाव में है या ज्ञान से आलोकित है।

☞ कर्म की बड़ी महिमा है। कर्म से हम देवता बन सकते हैं और राक्षस भी।

☞ मनुष्य के हाथ में दो ही चीजें हैं— सद्-इच्छा और सत्-प्रयास या पूर्ण-प्रयास।

☞ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हमें ऐसा काम करना है जो याद रखने योग्य हो— गौरव एवं प्रसन्नता दे।

☞ ज्ञान की अवस्था में प्रकृति (बुद्धि) ही 'कर्म की कर्त्री' होती है, अवश्य ही आत्मा की उपस्थिति भी वहाँ अपरिहार्य रूप में रहती है, किन्तु आत्मा केवल तटस्थ द्रष्टा के रूप में ही वहाँ उपस्थित रहता है, कर्ता के रूप में नहीं होता। भक्ति भाव में यद्यपि कर्म का कर्ता तो आत्मा ही होता है किन्तु वह समर्पित होकर भगवान् के लिए कर्म करता है। दोनों ही अवस्थाओं में मन अकाम हो जाता है। मन के अकाम होते ही चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, वृत्तियों का शान्त होना ही समाधि है। समाधि में स्वतः ही ज्ञान का अवतरण प्रारम्भ हो जाता है।

☞ देश का प्रत्येक नागरिक यदि अपना यह लक्ष्य बना ले कि 'मुझे प्रज्ञावान् बनकर जीना है?' तो यह देश की भी और भगवान् की भी सचमुच बहुत बड़ी सेवा होगी।

४०४०७७७

२२. जीवन के दो पथ

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (अथर्व० ५.३०.७)

जीवन मार्ग पर आरोहण करना, तत्पश्चात् आगे की ओर पग बढ़ाना प्रत्येक जीव का जीवनमार्ग है।

मनुष्य के चलने के लिए दो पथ हैं— सुपथ और कुपथ, अमृतपथ और मृत्युपथ, सरलपथ और कुटिलपथ, सत्यपथ और मिथ्यापथ, भद्रपथ और दुरितपथ, ज्ञानपथ और अज्ञानपथ, प्रकाशपथ और अन्धकारपथ, योगपथ और भोगपथ, आत्मपथ और इन्द्रियपथ, समर्पणपथ और अहङ्कारपथ, एकाग्रतापथ और चञ्चलतापथ, निर्भ्रान्तपथ और भ्रान्तपथ, देवपथ और असुरपथ, वेदपथ और स्वार्थी व अज्ञानमय व्यक्तियों के द्वारा निर्मित पथ, शास्त्रपथ और कामकारपथ (मनमोजी पथ), शान्तिपथ और कलहपथ, ध्यानपथ और बेहोशपथ, अप्रमादपथ और प्रमादपथ, मुक्तिपथ और बन्धनपथ, श्रेयपथ और प्रेयपथ, संतोषपथ और तुष्टिपथ। अब चुनाव मनुष्य के अपने हाथ में है, वह प्रथम का चयन करता है या दूसरे का। प्रथम स्वर्ग को जाता है दूसरा नरक में। पहले का फल है ऊर्ध्वारोहण, दूसरे का रसातल। आजतक युगों-युगों में उत्पन्न सभी बुद्धिमान् पुरुषों ने प्रथम का ही चयन किया है। अतिसुदूर भूतकाल में पैदा हुए वैदिक ऋषियों ने भी शतशः सहस्रशः मन्त्रों के माध्यम से विभिन्नरूपों में यही एक गीत गाया है। कभी वे कहते हैं— **दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।।** दुरितों से बचाओ, कल्याण को प्राप्त कराओ। तो दूसरी जगह इसी बात को यूँ कहते हैं— **अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान्.....। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः.....।** हे ज्ञानमय ज्योतिर्मय प्रभो! हमें सुपथ से ले चलो और कुटिलतायुक्त मार्ग से बचाओ। कभी कहते हैं— **उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।** हे वरणीय प्रभो! तुम हमारे उत्तम-मध्यम और निकृष्ट (सत्त्व-रजस्-तमस्) बन्धनों को खोल दो, जिससे हम अदिति माँ जिसके नियम अखण्डित हैं, त्रिकाल में भी जिसके नियमों का उल्लंघन करने का सामर्थ्य किसी भी जड़ चेतन में नहीं है— उस अदिति माँ के अनागस (पाप रहित) शिशु बन जायें,

सर्वथा पापमुक्त जीवन जीयें। कहीं प्रार्थना करते हैं—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृणं बृहस्पतिर्मे तदधातु।

शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ (यजु० ३६.२)

जो मेरे नेत्र की या अन्तःकरण की न्यूनता या मन की व्याकुलता है उसको बृहस्पति (सब लोकों का स्वामी परमेश्वर) मेरे लिए पूर्ण कर दे। जो सब संसार का रक्षक है वह हमारे लिए कल्याणकारी हो।

दूसरी जगह— **यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदधम्।** (यजु० ३५.२१) हे विस्तार युक्त दिव्य ज्ञान की देवि! हमें सब प्रकार से विस्तृत सुख दो और हमारे पापों को हटा कर अच्छी प्रकार शुद्ध कर दो।

और एक मन्त्र देखिए—

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्।

चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ (यजु० ३५.७)

हे मृत्यु! जो तेरा देवयान मार्ग से भिन्न दूसरा मार्ग है उसके अनुकूल रहकर उस दूसरे मार्ग से ही चला जा। चक्षुःसम्पन्न और सुनते हुये तेरे लिए मैं कहता हूँ कि तू हमारी इन्द्रियादि प्रजा और वीर भावों को विषयों की चोट से मत मार। और भी देखिए—

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।

अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ (यजु० ३५.१०)

हे प्रियजनों! काम-क्रोध-लोभादि नुकीले पत्थरों से भरी हुई नदी प्रवाहित हो रही है, इसको पार करने के लिए तुम अच्छी प्रकार से प्रयत्न करो, खड़े हो जाओ, इसे तर जाओ। यहाँ जो दुःखदायी पदार्थ हैं, तैरने में बाधा डाल रहे हैं उनको हम त्याग देवें और कल्याणकारी बलों को लक्ष्य कर तैर जावें।

अपाघमप कित्विषमप कृत्यामपो रपः।

अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्यं सुव॥ (यजु० ३५.११)

हे अपामार्ग ओषधि के समान पाप व दुःखों को दूर करने वाले मेरे आत्मन्! आप हमसे पाप, मन की मलिनता व दुष्ट क्रिया को दूर कीजिये।

बाह्य इन्द्रियों के चञ्चलतारूप अपराध को दूर कीजिये और बुरे प्रकार की निद्रा में होने वाले बुरे विचार को दूर कीजिये।

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु० ३५.१४)

हम अन्धकार से परे, सुखस्वरूप, दुःखों से पार उतारने वाले देव को जो दिव्यगुण युक्त, सर्वोत्तम ज्योतिःस्वरूप है, ऐसे अन्तर्यामी रूप से व्याप्त जो सब चराचर का स्वामी परमात्मा है उसको हम अपनी ज्ञान दृष्टि से देखते हुए उच्च भाव को प्राप्त हों।

अग्न आयूषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।

आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ (यजु० ३५.१६)

हे अग्ने! तुम ही हमारे जीवन और अन्नादि जीवनीय पदार्थों (आयुरिति अन्ननाम) को पवित्र करते हो। हमारे लिए बल और विज्ञान (ऊर्जम् इषं च) को अच्छी प्रकार उत्पन्न कीजिए तथा दुष्ट हिंसक कुत्तों के समान हानिकारक विचारों को हमसे दूर कीजिए।

अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन। (यजु० ३५.१५)

हे मनुष्यो! ज्ञान व ब्रह्मचर्यादि के द्वारा मृत्यु को दूर करो।

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्। (ऋ० ९.७३.१)

सत्य की नौकाओं ने शुभकर्म करने वाले को संसार सागर से पार उतार दिया।

ज्ञानी व प्रज्ञावान् पुरुष सत्य और असत्य के अन्वेषण में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर इन दोनों के भेद को जानकर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण करता है। यही जीवन की धन्यता है। इसी काम के लिये दाता ने यह मनुष्य जीवन रूपी दिव्य उपहार हमें दिया है। हम दाता की भेंट का कितना आदर कर रहे हैं यह हमें अपने जीवन से प्रमाणित करना है।

२३. सांख्ययोग व भक्तियोग

‘सांख्य के अनुसार जीव क्या है’ यदि इस प्रश्न की छानबीन की जाये तो प्रकाशक और प्रकाश्य, विज्ञाता और विज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, स्वामी और स्व, चिन्मय स्वरूप चेतन और बुद्धि का सम्मिश्रित रूप ही जीव है। जीव इन उपर्युक्त दोनों रूपों का ऐसा समुच्चय है कि जैसे सर्वथा पृथक् दो चीजें मिलकर एक हो गई हों। पानी में नमक जैसे घुल जाये और अब वे दोनों एक ही प्रतीत होने लगें, इसी प्रकार प्रकाशक चेतन और प्रकाश्य बुद्धि एक रूप में ही अनुभव होने लगते हैं। सांख्य मार्ग की साधना के अनुसार साधक को जो कुछ करना होता है वह यही है कि इन सम्मिलित दोनों रूपों में से प्रकाशक, विज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता, स्वामी या चेतन रूप को प्रकाश्य, विज्ञेय, दृश्य, भोग्य, स्व या जड़ से अलग कर देना। साधना की यह क्रिया कुछ ऐसी ही है जैसे कि कोई वैज्ञानिक उपायों का आलम्बन लेकर उस मिले हुए नमक व पानी को अलग कर डाले। यही मुक्ति है, मोक्ष है, यही ईश्वरप्राप्ति है, यही आत्मसाक्षात्कार है, यही कैवल्य है, यही परवैराग्य का फल (स्वरूप में स्थिति) है, यही ब्रह्मप्राप्ति है, यही श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ‘मम साधर्म्यम्’ ‘मामेवैष्यसि’ ‘निवसिष्यसि मय्येव’ ‘ब्रह्मभूयाय कल्पते’ ‘ब्राह्मी स्थिति’ ‘ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति’ ‘पुरुषोत्तम में स्थिति’ है।

इस उपर्युक्त स्थिति को पाने का एक उपाय तो ‘तत्त्वाऽभ्यासात् नेति-नेति त्यागात्०’ (सां० ३.७५) सांख्य में उपवर्णित हुआ है तो दूसरा उपाय भी है जिसे योगसूत्रों में जगह-जगह ‘ईश्वर-प्रणिधान’ नाम से कहा गया है। ‘कस्मै देवाय हविषा विधेम’ इत्यादि शतशः सहस्रशः वेदमन्त्रों के द्वारा स्तुति, प्रार्थना व उपासना के रूप में तथा श्रीमद्भगवद्गीता में अव्यभिचारी भक्तियोग या समर्पणयोग या अनन्य शरणागति के रूप में एक पूर्णसाधन स्वीकारते हुए जिसका महिमागान किया गया है। इस पथ से चलने वाले साधकों को सांख्यमार्ग (ज्ञानमार्ग) के पथिकों की तरह प्रारम्भ से ही जड़ से चेतन को अलग करके देखने, खोजने-परखने या अन्वेषण करने की बात नहीं कही

जाती, बल्कि यह कहा जाता है कि आज जिस दिन तुम साधना के पथ पर चलने का संकल्प कर रहे हो, जो कुछ भी जिस रूप में भी हो, अपने आप को पूर्णरूप से उस ईश्वर को दे डालो जिसके बारे में आचार्योपदेश तथा शास्त्र से सुना है अपना शरीर, अपना मन, अपना प्राण, अपने पास जो कुछ रखते हो उसे— अपने विचार, अपने भाव, अपनी समझ, अपने कर्म, अपनी छोटी से छोटी क्रियाएँ या एक शब्द में कहें तो ‘अपना मैं व मेरा’ सब कुछ उसे दे डालो। उसे न तो तुम्हारी आवश्यकता है, न तुम्हारे पदार्थ की, न तुम्हारे उपहारों की, न तुम्हारे कर्मों की, न किसी विचार या भाव की। वह तो सर्वथा पूर्ण है, अकाम है, आनन्दमय है; किन्तु तुम्हें उसकी आवश्यकता है, उसके बिना तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने का तुम्हारे पास एक ही उपाय है— समर्पण! समर्पण! समर्पण! इस समर्पण से तुम्हारे अन्दर स्वतः ही शुद्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। तुम्हारे कर्म शुद्ध होने लगते हैं, प्रकृति के आकर्षण ढीले पड़ने लगते हैं, विकार धीरे-धीरे स्वतः ही शान्त होने लगते हैं, आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त होने लगती है, शरीर से तादात्म्य टूटने लगता है, धर्म तुम्हारा स्वभाव बनने लगता है, किसी भी वस्तु, व्यक्ति पर अधिकार भाव समाप्त होने लगता है। यह समर्पण दिनानुदिन बढ़ता हुआ जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो मानो तुम साधना करने वाले नहीं रहते बल्कि तुम्हारे अन्दर ‘वही’ साधक बनकर साधना करने लगता है। उस स्थिति में तुम स्वतः ही सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हो।

सांख्यमार्ग (ज्ञानमार्ग) से चलने वाला साधक जैसे अपने आपको गुणों व गुणों की क्रियाओं और उनके विकारों से अलग करके चिन्मय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, पूर्णरूप से जड़ता से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेता है, उसी प्रकार इस भक्तियोग से चलने वाला साधक भी समर्पण की पूर्णता में अपने अन्तर्यामी चिन्मय स्वरूप भगवान् को उपलब्ध कर लेता है।

ये दोनों ही मार्ग प्रकृतिभेद से साधकों को इष्ट फल देने वाले हैं। दोनों ही मार्गों का गन्तव्य एक ही है। भगवद्गीता में कहा है— लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। (गीता ३.३)

अर्थात् हे निष्ठाप अर्जुन! पहले (दूसरे अध्याय में) ही मैं यह कह चुका हूँ कि इस संसार में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं। ज्ञानयोग सांख्यों की और कर्मयोग योगियों की। और भी—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग् उभयोर्विन्दते फलम् ॥ (अ० ५.४)

यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (अ० ५.५)

जो स्थान (पद अर्थात् लक्ष्य) सांख्यमार्ग वाले ज्ञानयोगियों द्वारा प्राप्त किया जाता है वही स्थान भक्तिप्रधान कर्मयोगियों द्वारा भी प्राप्त कर लिया जाता है। अतः सांख्य एवं योग (भक्तियोग) दोनों को जो एक रूप में देखता है, वही ठीक-ठीक देखता है।

मार्ग तो दो ही हैं, अन्य सब राजयोग, ध्यानयोग, बुद्धियोग, समत्वयोग इन्हीं उपर्युक्त दो मार्गों के सहायक हैं। राजयोग या ध्यानयोग के द्वारा अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुख किया जाता है। बुद्धियोग एक प्रकार का विचार योग है, जिसके बल से हम आचार्योपदेश व शास्त्र द्वारा उद्घाटित तथ्य को समझ पाते हैं। व्यवहार में अनुकूलता प्रतिकूलता के उपस्थित होने पर संयम साधने के लिए मन को स्थिर रखने का नाम समत्वयोग है। पूछा जा सकता है कि क्या कर्मयोग एक स्वतन्त्र मार्ग नहीं है? साधकों द्वारा मार्गों का विभाजन दर्शाते समय यद्यपि 'कर्मयोग' इस शब्द का भी प्रयोग तो किया जाता है किन्तु यह कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं है। वैसे कर्म तो मनुष्य मात्र को करने होते हैं चाहे कोई ज्ञानी है या अज्ञानी, रागी है या विरागी, गृहस्थ है या संन्यस्त, ब्रह्मचारी है या वनस्थ, स्वामी है या सेवक, ब्राह्मण है या क्षत्रिय, वैश्य है या श्रमिक। मनुष्य ही नहीं सम्पूर्ण जड़-चेतन सृष्टि कर्म-निरत दिखाई देती है। अतः कर्म का तो त्याग हो ही नहीं सकता। विचार्य यह है कि कर्म किस भाव के साथ किये जा रहे हैं। कर्म सकाम होकर भी किये जाते हैं और निष्काम होकर भी। कर्म जब संसार के भोगों (सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, वैषयिक-सुख)

को लक्ष्य कर किये जाते हैं, परमेश्वर के विधान का अतिक्रमण करके नहीं बल्कि उसके विधान के अनुसार अर्थात् धर्मानुसार जब उन कर्मों को किया जाता है तो वे 'सकाम कर्म' के श्रेणी में आते हैं। धर्म का अतिक्रमण करके किये गये कर्मों को तो सकाम कर्म भी क्या कहें फिर तो वे 'निषिद्ध कर्म' इस नाम से अभिहित होते हैं। किन्तु जब सब दुःखों से छूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों को किया जाता है तो यह 'निष्काम कर्म मार्ग' बन जाता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेद विषय विचार में श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी कहा है— 'स (कर्मयोगः) सदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते'। वहीं पर एक दूसरी जगह लिखते हैं— 'उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात् ? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते'। सार यह है कि जब साधक फलाशा से रहित होकर कर्म करता है तो इससे उसका रजोगुण क्षीण होने लगता है और इसके परिणामस्वरूप साधक का मन अकाम होकर भगवान् में स्थित हो जाता है। कर्म करने की इस प्रक्रिया में समस्त यज्ञों के अधीश्वर परम प्रभु के लिये ही अपने सभी कर्मों को आहुति के रूप में अर्पित करना होता है। इस प्रकार अन्ततः कर्मयोग भक्तियोग का ही रूप धारण कर लेता है।

जैसा कि ऊपर कहा— कर्म तो ज्ञानयोगी (सांख्य मार्गी) को भी करने होते हैं किन्तु भाव में अन्तर होता है। ज्ञानयोगी तटस्थ रहता हुआ कर्मों को अलिप्तभाव से करता है। 'गुणाः गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' (३.२८), त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः । (४.२०), नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । (५.८), कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ (५.११), सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ ५.१३ ॥ श्रीमद्भगवद्गीता के उपर्युक्त वचन ज्ञानयोगी के आधारस्तम्भ होते हैं। ज्ञानयोगी का सारा जोर कर्मों के कर्तृत्व का नाश करने में होता है। ऐसी युक्ति से कर्म करता है कि कर्म करते

हुए भी कुछ नहीं कर रहा होता। उसकी साधना का सम्पूर्णसार अकर्ता भाव में छिपा होता है। जबकि भक्तिमार्गी कर्मों के कर्तृत्व का नाश नहीं करता बल्कि कर्मों को भगवान् के लिये समर्पित करता है। किन्तु अपने वृद्धिशील समर्पण के द्वारा अन्ततः वह भी अकर्ताभाव में ही पहुँच जाता है। क्योंकि समर्पण की पूर्णता में स्वयं भगवान् ही उसके माध्यम से कर्म करने लगते हैं।

• भक्तियोग

किसी ने पूछा— भक्तियोग घटित होने पर क्या होता है? हमने कहा— भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम व पूर्ण समर्पण। जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्चेतन (शुद्ध चिन्मयस्वरूप) की प्राप्ति तथा अन्तराय समूह का अभाव घटित होता है (ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। यो० सू० १.२९)। इस मार्ग पर चल रहे व्यक्ति में अन्तःप्रकाश, सहज प्रज्ञा, व्यवहार में सहज प्रसन्नता, भयमुक्ति, कर्म व कर्मफलों का उस अन्तर्वासी मार्गदर्शक गुरु के लिये अर्पण (ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा। यो० भा० २.१ तथा ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। यो० भा० २.३२) अकामता, शुद्धि, मुक्ति, आनन्द की धारा सर्वदा-सर्वत्र प्रवाहित रहती है। योग व्यास भाष्य (२.३२) में कहा है— शय्या अथवा आसन पर रहते हुए अथवा राह चलते हुए आत्मस्थ (स्वरूपस्थ) तथा परिक्षीण हो गये हैं हिंसा आदि वितर्कजाल जिसके ऐसा वह योगी संसारबीज अविद्या (मिथ्याज्ञान, विपरीतज्ञान) को क्षीयमाण रूप में निरीक्षण करता हुआ नित्यमुक्त (नित्यतृप्त) और अमृत का भोग करने वाला हो (शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी)।

अपने चित्त को सदा-सर्वदा प्रशान्त ईश्वरीय ज्ञान, बल व आनन्द में स्थापित रखना भक्ति है। ईश्वर को विस्मृत करके या ईश्वर से विस्मृत होकर कोई कर्म करने से ईश्वर में कर्म का समर्पण नहीं होता। वह कर्म पूर्णतया अभिमान पूर्वक ही होता है। 'मैं अकर्ता हूँ' (मैं कर्म अपने सुख के लिए नहीं कर रहा हूँ) ऐसी भावना करके हृदय के अन्दर या बाहर सर्वत्र ईश्वर का

स्मरण करते हुए कोई भी कर्म करने से तथा 'उस कर्म का फल योग, निवृत्ति या ईश्वर प्राप्ति की ओर जाए' ऐसा सोचकर कर्म करने से ही उस कर्म का ईश्वर में समर्पण होता है। समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू० २.४५) पर व्यासदेव जी महाराज ने लिखा है— 'ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः...' अर्थात् भावना के द्वारा जिसने अपने आपको ईश्वर में निमग्न कर दिया है उसे मन की समाधि प्राप्त हो जाती है। समाधि है ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था, ध्यान है धारणा की एकतानता। समाधिसिद्ध कहने से समस्त योगाङ्ग ही कथित हो गये हैं। शास्त्र में कहा है— यम-नियम में से किसी एक के भी नष्ट होने पर सम्पूर्ण योगानुष्ठान ही भङ्ग हो जाता है। ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं तपो दमः। सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः। एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते।। (कूर्मपुराण २.११.६९-७०)।

ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर की भक्ति) शरीर व प्राण को स्थिर, निश्चल और मन-इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) कर देती है। ईश्वरप्रणिधानाद्वा (यो० सू० १.२३) पर भाष्यकार ने कहा है— प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण; तदभिध्यानादपि योगिन आसनतमः समाधिलाभः समाधिफलञ्च भवति। अर्थात् प्रणिधान (भक्तिविशेष) के द्वारा आवर्जित अर्थात् अभिमुखीकृत या रिझाया गया ईश्वर अभिध्यान के द्वारा योगी पर अनुग्रह करता है। आत्मा के अन्दर या अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में क्लेश, कर्म, विपाक (जाति, आयु व भोग रूप फल) और आशय (वासना) से रहित ईश्वर की सत्ता का अनुभव करके आत्मनिवेदन पूर्वक उसी पर निश्चिन्त व निर्भर रहना भक्ति का स्वरूप है। जैसा कि पहले ही कहा— समस्त कार्य हृदयस्थ ईश्वर के द्वारा मानों प्रेरित होकर कर रहा हूँ, ऐसी भावना दिनरात प्रतिक्षण अनुभव करना 'ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण' है। इसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानशून्यता तथा ईश्वर में संस्थिति सिद्ध होती है।

ईश्वर सम्यक् शरणागत भक्त की भक्ति के द्वारा अभिमुख होकर 'इसका अभिमत सिद्ध हो' ऐसी जो इच्छा करते हैं, यही अभिध्यान है। यहाँ

भाष्यकार का यह अभिप्राय है— सांसारिक सुख-दुःख हमारे अपने कर्मों से उत्पन्न होते हैं। किन्तु ईश्वरप्रणिधान रूप उपासना कर्म से ईश्वर की अभिमुखता प्राप्त करके उनके अनुग्रह से पारमार्थिक विशेष ज्ञान पाया जाता है।

भाव यह है कि जो योगी ईश्वर पर सब कुछ समर्पण करके उनसे ही प्रज्ञालाभार्थ निश्चितबुद्धि हैं, वे ही ईश्वर के अभिध्यान बल से उपकृत होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र भी इस भक्तियोग की महिमा को विविध रूपों में गा रहा है तथा सम्पूर्ण वेद भी इसी भक्ति मार्ग से सब साधकों को आगे बढ़ा रहे हैं। अथर्ववेद ६.७९.३ में कहा है ‘भक्तिवांसः स्याम’। ‘कस्मै देवाय हविषा विधेम’ इत्यादि शतशः सहस्रशः मन्त्रों से उसकी भक्ति करने का ही तो संदेश दिया गया है। इसीलिये वेद को भगवान् का भक्तिगीत कहा जाता है। इस प्रकार भक्तियोग के द्वारा भगवान् में हमारा अनन्य प्रेम व पूर्ण समर्पण घटित हो जाता है। साधक की यह भक्ति जब नित्य स्मरण में बदल जाती है तो उस को शुद्ध ज्ञान प्राप्त कराने में निमित्त बनती है। ऐसा शुद्ध ज्ञान जिसके लिये कहा गया है— ‘विद्ययाऽमृतमश्नुते’।

• ज्ञानयोग

किसी ने पूछा ज्ञानयोग घटित होने पर क्या होता है? हमने कहा— निवृत्ति या निष्काम प्रवृत्ति अर्थात् या तो पूर्ण रूप से अपने चिन्मय स्वरूप में अवस्थान (निवृत्ति) या फिर अपने चिन्मय स्वरूप की साक्षिता में मन, बुद्धि, इन्द्रियों व शरीर का अकाम रहते हुए अपने-अपने काम में प्रवृत्ति। जिसके परिणामस्वरूप सब परिस्थितियों में समता (समत्वं योग उच्यते। गीता २.४८) अर्थात् जय-पराजय, लाभ-हानि, मान-अपमान, हर्ष-शोक के अत्यन्त संवेदनशील प्रसङ्गों में भी चित्त की एकरूपता। इसी स्थिति का दिग्दर्शक श्रीराम के जीवन का एक पावन-प्रसङ्ग उपलब्ध है। गुरु वशिष्ठ कहते हैं— जब श्रीराम को राज्याभिषेक के लिये बुलाया गया और जब वनवास जाने के लिये निर्देश मिला, दोनों ही स्थितियों में श्रीराम के चेहरे पर मैंने थोड़ा सा भी अन्तर नहीं पाया (आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च। न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।।)

जब चित्त सब स्थितियों में ‘सम’ हो जाता है तो कर्मों का बन्धन टूटने लगता है। कर्म अकर्म हो जाते हैं, कर्मों में निर्लेपता व असंगता आ जाती है। ‘योगः कर्मसु कौशलम्’ चरितार्थ हो जाता है। ‘कर्म’ संस्कारों के माध्यम से बन्धन स्वभाव वाले होते हुए भी साधक को बाँध नहीं पाते। साधक को समत्वयोग के द्वारा कर्मविषयक यह सहज कुशलता प्राप्त हो जाती है। इन सबके चलते साधक में सहज प्रज्ञा व सहज प्रसन्नता घटित हो जाती है।

जब ‘ज्ञानयोग या ज्ञानयोगी’ शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि अमुक व्यक्ति या अमुक साधक संस्था-संचालन, गोसेवा, कृषि या जनसेवा आदि कार्यों में व्यस्त न होकर शास्त्रों पर विचार कर रहा है या मनोविज्ञान पर कोई पुस्तक लिख रहा है, बल्कि उसका तात्पर्य होता है— ‘द्रष्टा-दृश्य’ का विवेक करना। इस सम्पूर्ण अस्तित्व का हर घटक ‘प्रकाशक व प्रकाश्य’, द्रष्टा व दृश्य, ‘ज्ञाता व ज्ञेय’ का समुच्चय है दूसरे शब्दों में जड़ व चेतन का सम्मिलित रूप है। अब ज्ञानयोग का काम है ‘नेति-नेति’ के द्वारा अपने भीतर जड़ से चेतन को पृथक् कर देना, केवल प्रकाशक का बच जाना, केवल द्रष्टा का शेष रहना, केवल विज्ञाता मात्र का शेष रह जाना, चिन्मय अवस्था को प्राप्त हो जाना। ज्ञानयोगी पदार्थों को, कर्मों व सम्बन्धों को, प्रतिक्षण लय-उदय को प्राप्त हो रही वृत्तियों को, प्रतिक्षण चल रहे विचारों को साक्षी रूप में ताटस्थ्येन देखता है। सामान्य रूप से मनुष्य जिन पदार्थों, जिन कर्मों, जिन सम्बन्धों व जिन विचारों में जीता है उनके साथ तादात्म्य की स्थिति रहती है। ज्ञानयोगी का यह तादात्म्य टूट जाता है। सदा ही असङ्गता व निर्लेपता उसका आधार बनी रहती है, उसी के सहारे उसकी साधना चलती है। ‘पद्मपत्रमिवाऽम्भसा’ जैसे आदर्श वचनों को वह सदा अपने सामने रखता है। समस्त परिवर्तन के बीच अपने भीतर विद्यमान अपरिवर्तनीय, स्थिर, एकरस, शान्त तत्त्व पर ही उसकी दृष्टि टिकी रहती है। इस प्रकार सब अवस्थाओं में वह सदा ही अकम्पित बना रहता है सदा-सर्वदा समता में प्रतिष्ठित रहता है।

२४. सतां संगो हि भेषजम् (सत्संगतिः)

संसार में जब दो व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं, या परस्पर मिलते रहते हैं तो स्वाभाविक रूप से उनके गुण-दोषों का शनैः-शनैः एक दूसरे पर प्रभाव पड़ने लगता है। उनकी वाणी, उनका आचरण, उनकी मान्यताएँ, उनका दर्शन, उनका चिन्तन, उनकी अभिरुचियाँ, उनकी विशेषताएँ, उनका व्यवहार, उनका स्वभाव अज्ञातरूप से एक दूसरे को अपने अनुरूप गढ़ने लगता है, प्रभावित करता रहता है। स्पष्ट ही जिसकी योग्यता जितनी अधिक होती है, जिसका ज्ञान का स्तर जितना उच्च होता है, जिसकी साधना जितनी गहरी होती है, जिसकी शक्ति जितनी अधिक होती है, जो जितना सजग व जागरूक होता है, जो जितना निर्भ्रान्त होता है, अपनी दृष्टि को जिसने जितना परिष्कृत कर लिया होता है, जो जितना संदेहरहित होता है, वह उसी अनुपात में अपने से कम या अवर को, अपने से नीचे खड़े हुये को ऊपर खींचता रहता है। श्रेष्ठ आचार्य अपने विद्यार्थियों का इसी रूप में निर्माण करते हैं मानो कि पहाड़ के ऊपर से नीचे उतर कर आना और नीचे स्थित जिज्ञासुजनों को हाथ पकड़कर ऊपर ले जाना। किन्तु जहाँ ऐसा आदर्श व्यक्तित्व नहीं होता, सामान्य रूप से लगभग समान स्तर के दो व्यक्ति जब मिलते हैं तो वे एक दूसरे से प्रभावित होने लगते हैं। चञ्चल के सम्पर्क से शान्त प्रकृति वाला व्यक्ति भी अशान्त हो जाता है। कभी शान्त के सम्पर्क से चञ्चल भी शान्त रहने लगता है। पुरुषार्थी के सम्पर्क से आलसी पुरुषार्थी हो जाता है। उनमें भी जिसकी शक्ति ज्यादा होती है वह अपने से कम शक्ति वाले को अपने अनुरूप ढाल लेता है।

एक महान् योगी ने इस विषय में जो दिशा दी, उसके आधार पर अन्य जिज्ञासुओं को भी हम अपनी इस चर्चा में सम्मिलित करना चाहेंगे। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्पर्क में आने पर निम्नलिखित तीन स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं—

(१) प्रथम उच्चतम स्थिति यह होती है कि व्यक्ति अपने गुणों को छोड़ता नहीं और दूसरे के गुणों को ग्रहण कर लेता है। जैसे एक व्यक्ति विद्याप्रेमी तो है, पर शरीर से पुरुषार्थी नहीं है। उसे शरीर से श्रम करने में रुचि लेने वाला एक साथी मिल जाता है, उसके सम्पर्क से वह भी धीरे-धीरे शरीर से परिश्रमी हो जाता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी एक महापुरुष या किसी एक ही शास्त्र से बँधा हुआ है, वह किसी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आता है जो सभी महापुरुषों व सभी सच्छास्त्रों के सत्य का आदर करता है, धीरे-धीरे यह भी इसी दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। किसी वैयाकरण के सम्पर्क से दार्शनिक वैयाकरण हो जाता है और दार्शनिक के सान्निध्य में वैयाकरण दार्शनिक हो जाता है। कोई विचारक किसी सन्त के संग से सन्त हो जाता है। एक व्यायामशील व्यक्ति किसी स्वाध्यायशील के सम्पर्क में आने से स्वाध्याय भी करने लगता है। एक अन्य उदाहरण— एक कठोर सत्य बोलता है, दूसरा मधुरभाषी है। कटु सत्य बोलने वाला मधुरभाषी के सम्पर्क से मधुर सत्य अर्थात् सत्य को मधुर बोलना प्रारम्भ कर देता है। और भी— एक बहुत परिश्रमी है किन्तु समय का पालन करने में बहुत लापरवाह है, दूसरा समय पालन में बहुत सावधान (punctual) है। परिश्रमी व्यक्ति समय पालक के सम्पर्क में आने से समय पालन के गुण को भी सीख लेता है, इत्यादि।

(२) दूसरी स्थिति में व्यक्ति अन्य के गुणों को ग्रहण कर लेता है किन्तु अपने गुणों को छोड़ देता है। जैसे एक व्यक्ति प्रतिदिन गीता का पाठ करता था। यह एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आया जो अंग्रेजी का विद्वान् था। अब इसने गीता पाठ तो छोड़ दिया और अंग्रेजी पढ़ने लगा। इसी प्रकार— एक व्यक्ति बच्चों को निःशुल्क पढ़ाता था, दूसरा व्यक्ति बड़ा दानशील था, कमा-कमा कर दूसरों में खूब साधन-सम्पत्ति बाँटता रहता था। अब पहले ने भी अपना निःशुल्क पढ़ाने का काम छोड़कर यही धन-दान करना आरम्भ कर दिया। एक व्यक्ति विद्वान् होते हुये भी मौन साधना में लीन रहता था, दूसरा पढ़ाने में

ही लगा रहता था। वह पहला भी अपने मौन को छोड़कर पढ़ने में ही लग गया।
(३) तीसरी स्थिति में व्यक्ति दूसरे के गुणों को तो ग्रहण नहीं करता किन्तु अपने गुणों को भी छोड़ देता है। जैसे एक व्यक्ति वार्तालाप में बहुत धीमी संयत वाणी से बोलता था, दूसरा व्यक्ति ऊँची तेज आवाज में बोलता था और बड़ा पुरुषार्थी भी था। इसके सम्पर्क से इसके साथी ने धीमा बोलना तो छोड़ दिया किन्तु उसकी तरह पुरुषार्थ को नहीं अपनाया। इसी प्रकार एक व्यक्ति मात्र स्वाध्यायशील था, दूसरा मात्र दानशील। स्वाध्यायशील ने दूसरे की दानशीलता को तो अपनाया नहीं, पर उसकी देखा-देखी अपना स्वाध्याय करना छोड़ दिया।

ऊपर गुणों को सामने रखकर हमने तीन स्थितियाँ दर्शायीं, इसी प्रकार दोषों के सन्दर्भ में भी ऐसी ही तीन स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं—

(१) व्यक्ति अपने दोषों को छोड़ देता है किन्तु दूसरों के दोषों को ग्रहण नहीं करता। गुणों के प्रसंग में जैसे यह उत्तम स्थिति मानी जाती है कि व्यक्ति अपने गुणों को छोड़े नहीं किन्तु दूसरे के गुणों का ग्रहण कर ले, इसी प्रकार यदि व्यक्ति किसी के सम्पर्क में आकर अपने दोषों को छोड़ दे तथा दूसरे के दोषों को ग्रहण न करे तो यह उत्तम स्थिति मानी जायेगी। जैसे एक व्यक्ति विनम्र तो है पर लोभी है, दूसरा व्यक्ति अहंकारी है किन्तु उदार है। अब विनम्र के सम्पर्क से अहंकारी विनम्र हो जाता है किन्तु उसके समान लोभी नहीं बनता, तथा उदार के सम्पर्क से लोभी उदार हो जाता है किन्तु उसके समान अहंकारी नहीं बनता।

(२) दूसरी मध्यम स्थिति यह है कि व्यक्ति अपने दोषों को छोड़ दे किन्तु दूसरे के दोषों को ग्रहण कर ले। जैसे एक व्यक्ति कामी है किन्तु क्रोधी नहीं है, दूसरा व्यक्ति क्रोधी है पर कामी नहीं है। अब ये दोनों व्यक्ति जब एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो क्रोधी अक्रोधी तो हो गया किन्तु साथ में कामी भी हो गया। इसीप्रकार किसी सरल व्यक्ति के सम्पर्क से कोई जटिल व्यक्ति अपनी जटिलता को छोड़ देता है किन्तु साथ में सरल व्यक्ति के किसी दोष

को भी ग्रहण कर लेता है। और भी देख सकते हैं— किसी उदार व्यक्ति के सम्पर्क से लोभी ने अपना लोभ तो छोड़ दिया किन्तु उदार व्यक्ति के किसी दोष को भी साथ में ग्रहण कर लिया।

(३) तीसरी निम्न स्थिति इस रूप में होती है कि व्यक्ति अपने दोष को तो त्यागता नहीं किन्तु दूसरे के दोष को भी ग्रहण कर लेता है। जैसे एक व्यक्ति अहंकारी है, दूसरे किसी लोभी व्यक्ति के सम्पर्क से वह अहंकारी के साथ-साथ लोभी भी हो जाता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति बहुत स्वार्थी है, दूसरा व्यक्ति बड़ा असत्यवादी है। अब परस्पर सम्पर्क में स्वार्थी व्यक्ति असत्यवादी भी हो जाता है।

मानव जीवन में कोई भी व्यक्ति संग के सुप्रभाव-दुष्प्रभाव को जब चाहे व्यापक रूप से देख सकता है। किन्तु यह भी है कि कुछ विशेष व्यक्ति सूर्य-किरणों की तरह अच्छे या बुरे के साथ संश्लिष्ट होने पर भी अप्रभावित बने रहते हैं, पर सामान्य जन तो वायु की तरह होते हैं— जैसे वायु ठण्ड के प्रभाव से शीतल और उष्णता के प्रभाव में गर्म, कभी सुगन्धित कभी दुर्गन्धित होती रहती है। साधु पुरुष खल-संगम से खल नहीं बनते किन्तु उनके संपर्क से खल साधु बन जाते हैं या बन सकते हैं।

उपर्युक्त विषय में आदर्श स्थिति यह है कि व्यक्ति गुणग्राही, मधुग्राही बन कर रहे। जहाँ कहीं भी कोई विशेष गुण दिखाई दे, उसे भौरे या मधुमक्खी की तरह तत्काल ग्रहण कर ले। साथ में भ्रमर या मधुमक्खी जैसे गन्दगी पर नहीं बैठते वैसे ही किसी के भी दुर्गुण या हीन गुण की ओर न जाये, उसके साथ अपना मन न लगाये। मक्खी जैसे स्वभाव वाला तो कभी भी न रहे जो कि गन्दगी पर भी बैठती रहती है और मिठाई पर भी। जो व्यक्ति सच्चे अर्थों में गुणग्राही या मधुग्राही बनकर जीवन जीते हैं वे निरन्तर उन्नति करते रहते हैं, उनका जीवन सतत परिष्कृत व उज्ज्वल होता रहता है। सीखने वाले को इस विशाल संसार में बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है, मिलता रहता है।

चरक का एक तेजस्वी वचन है- ‘सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः’ बुद्धिमानों के लिये सब संसार ही आचार्य की तरह शिक्षा देने का काम करता रहता है। सबसे आवश्यक जो बात है वह यही है कि व्यक्ति में ऊँचा उठने की अभीप्सा रूपी आग सदा प्रज्वलित रहे, फिर तो अपने आप रास्ता निकलता रहता है। अन्यथा यह बड़ा कठिन कार्य है कि जहाँ गुण और दोष दोनों दिखाई दे रहे हैं वहाँ व्यक्ति दोषों की उपेक्षा करके केवल गुणों को ही देखता रहे। घनिष्ठता में तो फिर भी व्यक्ति गुणग्राही हो जाता है किन्तु सामान्य सम्बन्धों में या द्वेषात्मक सम्बन्धों में तो ऐसा हो पाना असम्भव जैसा ही रहता है। पर जब व्यक्ति का दृढ़ निश्चय हो जाता है कि जीवन को सुन्दर बनाने के लिये इसके सिवाय मेरे पास और कोई विकल्प नहीं है तो फिर गुणग्राहिता का यह कठिन मार्ग सहजता में बदल जाता है। **सज्जनों की संगति ओषधि के समान रोगों-दोषों-दुःखों व तापों को दूर करने वाली होती है।**

☞ देखना, सुनना, बोलना, बैठना, उठना, चलना इत्यादि प्रत्येक छोटी से छोटी क्रिया या बड़ी से बड़ी क्रिया आन्तरिक प्रकाश में की जा सके, अपने अन्दर केन्द्र से जुड़े रहते हुए की जा सके तो यह जीवन आनन्द से भर जाये।

☞ अमृत, विष और विषयुक्त अमृत इन तीनों में से जिसकी हम चाह करते हैं वही हमें मिलता है।

☞ हम अच्छे या बुरे जो भी काम करते हैं वे सब अपने लिए करते हैं।

☞ जीवन संघर्षों का बाग है। यहाँ फूल भी हैं कांटे भी हैं, खट्टे फल भी हैं और मीठे भी।

☞ हर क्षण सावधान रहना है। एक क्षण के प्रमाद में ही तो दुर्घटना होती है।

☞ कोई शब्द किसी ने किसी के बारे में उच्चारण किया तो भी असावधान व्यक्ति को प्रतिक्रिया होती है और खुद के बारे में किया तो भी।

४०४०७७७

२५. श्रद्धा

मनुष्य के जीवन के लिये कोई महतो-महीयान् वस्तु हो सकती है तो वह है- ‘ज्ञान’। यहाँ जिस ज्ञान की बात हो रही है- वह है आत्मा-परमात्मा आदि अतीन्द्रिय तत्त्वों का या यूँ कहें कि द्रष्टा और बुद्धि अर्थात् प्रकाशक और प्रकाश्य का अनुभवात्मक ज्ञान। जब यह कहा जाता है कि ‘विद्ययाऽमृतमश्नुते’ अर्थात् साधक विद्या से अमृत को प्राप्त कर लेता है तो ‘विद्या’ से तात्पर्य इसी अनुभवात्मक ज्ञान से होता है। इसी ज्ञान के लिये श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है- ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है- **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**, (गीता ४.३८) जो विषय मनुष्य के साक्षात् अनुभव में आ जाते हैं, उन विषयों में वह निर्भ्रान्त व संशयरहित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति शोक और मोह से मुक्त होकर पूर्ण सहज जीवन जीता है। उसके जीवन में खिंचाव-तनाव नाममात्र के लिये भी शेष नहीं रहता। न वह किसी को कष्ट देता है और न किसी से क्लेशित होता है। उसके जीवन से हर्ष-अमर्ष-भय और उद्वेगों तथा काम-क्रोध आदि विकारों का अन्त हो जाता है अर्थात् उसका जीवन पूर्णरूप से रूपान्तरित ही हो जाता है। एक अर्थ में वह मनुष्य रूप में भगवान् होकर पूर्ण स्वाधीन जीवन जीता है। तात्पर्य यही है कि वह अन्दर और बाहर से सर्वथा एकरूप हो जाता है और सदा समता में सुप्रतिष्ठित रहता है। विद्वज्जन ऐसे व्यक्ति का मूल्यांकन ‘मानवता का पका हुआ सुमधुर सुगन्धित फल’ के रूप में करते हैं।

जीवन की यह आदर्श व उच्चतम ज्ञानमय स्थिति प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को प्रारम्भ तो शब्द प्रमाण में श्रद्धा-विश्वास से या कारण-कार्य की छान-बीन करते हुए युक्तियों के आधार पर बुद्धि के निश्चय से ही करना होता है। कोई व्यक्ति जब अपने साक्षात् अनुभव को शब्दों में रखता है तो वक्ता के लिए वह प्रत्यक्ष होते हुए भी श्रोता के लिए तो वह विषय परोक्ष ही होता है। फिर भी क्योंकि वह एक आप्त पुरुष का वचन है अतः श्रोता को उसे अपनी भावना में बिठाना होता है, भावना के बल से उसे मानना होता है। छान्दोग्य में सनत्कुमार

ने भी किसी सत्य को उपलब्ध करने के लिये नारद को यही उपदेश दिया था कि जब कोई व्यक्ति किसी विषय में अपनी ज्ञानशक्ति, चाहे अभी उसकी मात्रा जितनी भी है, का प्रयोग करके निश्चयपूर्वक स्थिर हो जाता है (निस्तिष्ठति), तब वह उस सत्य को अपनी भावना में धारण करता है (श्रद्दधाति), जब उस विशिष्ट सत्य को अपनी भावना में धारण कर लेता है तो उस पर मनन करना प्रारम्भ कर देता है (मनुते) और मनन से व्यक्ति उस सत्य को विशेषरूप से जानने लगता है (विजानाति), जो किसी सत्य को विशेषरूप से जानता है और फिर वह कुछ बोलता है, किसी को कुछ बताता है तो उसका वचन सत्य वचन कहा जाता है (सत्यं वदति) अर्थात् प्रत्यक्ष की हुई या परीक्षित बात को जब वह दूसरों के समक्ष रख रहा होता है तो वह 'सत्यवादी' इस उपाधि से विभूषित होता है। सो इस प्रक्रिया में श्रद्धा की भूमिका किसी परोक्ष सत्य को अपने उपलब्ध ज्ञान के अनुसार बुद्धि से समझकर अपनी भावना में यथायथ रूप से धारण करने के रूप में होती है (श्रत् सत्यं धीयतेऽस्यां भावनायां सा श्रद्धा) जो कि सत्य की साक्षात् अपरोक्ष उपलब्धि में कारण बनती है। जिसने किसी सत्य को अपनी भावना में पूर्ण रूप से धारण कर लिया तो उसे देर या सवेर उस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव भी हो ही जाता है। (श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्, श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया सत्यमाप्यते, श्रद्धया विन्दते वसु)।

श्रद्धा के विषय में ऋषियों (सत्य के द्रष्टाओं) की ऐसी सम्मति है या ऐसी दिव्य घोषणा है कि यह मनुष्य के द्वारा सेवनीय धर्मों के शीर्ष स्थान पर स्थित है (श्रद्धां भगवस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि, ऋग० १०.१५१.१)। किसी सत्य को उपलब्ध करने के लिये एक ऐसी विशेष तपश्चर्या की आवश्यकता होती है, मन की एक ऐसी विशिष्ट अन्तर्मुखीन असाधारण वृत्ति की अपेक्षा होती है, जिसमें प्रचण्ड आध्यात्मिक पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना अपेक्षित होता है। क्योंकि जीवन का यह मार्ग छुरे की धार पर चलने जैसा होता है अतः तदर्थ अपने को स्थिर रखने हेतु जो अपरिमित बल चाहिये, उसे श्रद्धा ही साधक के लिए प्रदान करती है। साधक वह सब करने के लिये सहज रूप से तैयार हो जाता है जो उसे करना चाहिए (श्रद्धया हूयते हविः, तस्य हि

श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते)।

वेद-उपनिषद्-श्रीमद्भगवद्गीता से लेकर समस्त प्राचीन भारतीय वाङ्मय में शब्दों के माध्यम से जिस अतीन्द्रिय सत्य (परम तत्त्व) का वर्णन हुआ है तथा उस सत्य को उपलब्ध करने के लिए जिस साधन प्रणाली का बखान मिलता है, उसके बारे में यदि किसी के मन में संशय या उसके स्वरूप के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है तो व्यक्ति एक इञ्च भी अपने मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। जब साधक यह देखता है कि जिन शतशः देवताओं का महिमामय वर्णन वेदों में मिलता है, वे सब देवता तेरे भीतर ही हैं, सब के सब तेरे साथ हैं, उन्हें पाने के लिये कहीं दूर नहीं जाना है, केवल इस सत्य को स्वीकार भर करना और इसकी तरफ देखते रहना— मात्र इतना ही करना है तो उसकी सब बाधाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, पथ एकदम सरल हो जाता है।

जो साधक अपने को श्रद्धावान् भी समझता रहता है किन्तु फिर भी यदि उसे श्रद्धानुरूप इष्ट फल (लक्ष्य) प्राप्त नहीं हो पा रहा है तो इसका कारण उसका संशय नहीं बल्कि अपनी उस श्रद्धा (स्वीकृत सत्य) का विस्मरण होते रहना है। जैसे किसी अच्छी प्रकार युक्तिपूर्वक कारण-कार्य शृंखला में से गुजर कर जाने (समझे) हुए विषय में भूल पड़ जाए, बीच में प्रमाद आ जाए तो वहाँ भी फल का व्यत्यास (व्यतिक्रम) देखा जाता है, उसी प्रकार श्रद्धा के क्षेत्र में अर्थात् माने हुए विषयों में भी वैसा ही होता है। सो चाहे ज्ञान का क्षेत्र हो या श्रद्धा का— दोनों ही क्षेत्रों में साधक को अप्रमाद अवस्था में जीने की तो समान रूप से आवश्यकता है। इसीलिये महाभारत में सनतसुजात ने अप्रमाद को अमृत और प्रमाद को मृत्यु कहा है। योगशास्त्र में कहा है कि यदि श्रद्धा पूर्ण है तो वह माँ की तरह स्वयं साधक की देखभाल कर लेगी। श्रद्धा के रहते प्रमाद आ ही नहीं सकता, क्योंकि किसी भी सत्य को अपनी बुद्धि में धारण करने से उसके प्रति एक विशेष लगाव, प्रेम उत्पन्न हो जाता है। वह प्रेम व्यक्ति को उस सत्य से इधर-उधर हिलने नहीं देता। अतः श्रद्धा से उत्साह (वीर्य) और तत्सहभावी 'स्मृति' (इष्ट की स्मृति, लक्ष्य की स्मृति, आत्मस्मृति) भी सहज रूप से बनी रहती है।

एक महान् सन्त ने श्रद्धा को संवर्ग (श्रद्धा वाव संवर्गः संवर्जनात् संग्रहणात् संग्रसनाद्वा संवर्गः) के रूप में देखा है। श्रद्धा वह तत्त्व है जो समस्त अशुभ को निगल जाती है। जैसे ज्योति अन्धकार को अपने अन्दर समेट लेती है, ज्योति के रहते अन्धकार दिखाई नहीं देता, प्रकाश ही प्रकाश बना रहता है, उसी प्रकार श्रद्धा के रहते श्रद्धाविरोधी तत्त्व अस्तित्व विहीन हो जाते हैं। साधक के समक्ष, साधक की भावना में श्रद्धेय विषय ही प्रकाशित रहता है।

सम्पूर्ण कथनोपकथन को साररूप में ऐसा समझ सकते हैं— ज्ञान का क्षेत्र प्रत्यक्ष होता है किन्तु श्रद्धा सदा परोक्ष विषय में या बुद्धि के द्वारा अंशतः जाने हुए विषय में होती है। श्रद्धा साधक को आंशिक ज्ञान से शनैः शनैः सम्पूर्ण ज्ञान की तरफ बढ़ाती है। (अग्निनाऽग्निः समिध्यते, ऋग्वेद १.१२.६)। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि किसी आप्त पुरुष या प्रमाणभूत शास्त्र से सुना हुआ ज्ञान भी सत्य ही होता है, किन्तु वह वक्ता के लिये प्रत्यक्ष व स्पष्ट होते हुए भी श्रोता के लिये वैसा नहीं होता। उस आंशिक रूप से स्वीकृत सत्य को पकड़कर बृहत् सत्य (प्रत्यक्ष अनुभव) की ओर बढ़ना होता है। श्रद्धा साधन है, ज्ञान साध्य है। किन्तु ज्ञान होने पर कोई श्रद्धावान् श्रद्धा से रहित नहीं हो जाता। बस इतना ही है कि उसका काम पूरा हो जाता है। परमात्मा, वेदज्ञान, पुनर्जन्म, कर्मफल, मुक्ति इत्यादि विषय में बहुत कुछ जान लेने पर भी, तर्क-युक्तियों से सुनिश्चय हो जाने पर भी कुछ न कुछ मानने के लिए भी शेष बचा ही रहता है— ‘इति शुश्रुम धीराणाम्’ (यजुर्वेद ४०.११) ऐसा कहना पड़ता है और यह सब श्रद्धा का क्षेत्र है।

योगसूत्रों के भाष्यकार व्यासदेव जी ने श्रद्धावीर्यस्मृति० १.२० सूत्र का भाष्य करते हुए कहा है कि विवेकविषय में चित्त का सम्प्रसाद श्रद्धा है (विवेकविषये चेतसः सम्प्रसादः = अभिरुचिमती बुद्धिः, अभिरुचिरूपायाः श्रद्धाया वीर्यं प्रयत्नः, ततः स्मृतिः = ध्यानम्, सदा समनस्कतोपतिष्ठते--। श्रद्धा = मानसी प्रीतिः, योगो मे भूयादित्यभिलाषा)। सम्प्रसाद का अर्थ है— आगम, अनुमान तथा आचार्योपदेश से ज्ञात जो यथार्थवस्तुविषयक इच्छाविशेष, जिसके ‘अभिरुचि, उत्कटेच्छा, अभीप्सा’ ये सब पर्याय हैं, वह है ‘सम्प्रसाद’।

दूसरे शब्दों में सम्प्रसाद का अर्थ है— ‘प्रीति’। मुझमें सदा विवेक जागरित रहे, मुझमें योग सिद्ध हो जाए— ऐसी तीव्र अभीप्सा को ‘सम्प्रसाद’ कहते हैं। यह ‘प्रीति’ समर्थ-माता के समान असंख्य प्रतिबन्धों का तिरस्कार करके योगी की रक्षा करती है, फलतः योग भङ्ग (बाधाग्रस्त) नहीं होता। ‘श्रत् (सत्यम्) धीयतेऽनया सा श्रद्धा’ इस निर्वचन से किसी विषय में चित्त का लगाव विशेष, किसी ध्येय के लिए चित्त की ललक, चित्त का अपने ध्येय में रमे रहना, चित्त का अपने लक्ष्य में मग्न रहना, चित्त का ध्येय से हटाए ही न हटना, अहोरात्र चित्त का अपने इष्ट में डूबे रहना, किसी विषय विशेष में चित्त की अपार प्रसन्नता का होना, इन शब्दों के माध्यम से श्रद्धा के स्वरूप को समझा जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है— चूँकि पूर्वजन्मों में अर्जित संस्कारों को लेकर मनुष्य के बालक का जन्म होता है, अतः उन बुद्धिगत धर्माधर्म के संस्कारों के आधार पर सात्त्विक, राजसिक व तामसिक भेद से श्रद्धा के तीन भेद हो जाते हैं। संसार में विभिन्न अभिरुचियों वाले लोग जो दिखाई देते हैं वे उनके संस्कारों (चाहे वे पूर्वजन्मों से आये हैं या वर्तमान जन्म में संगृहीत हुए हैं) के ही कारण तो हैं। वर्तमान जन्म में भी माता-पिता, गुरु-आचार्य व परिवेश, सत्संग तथा शास्त्रों के सहयोग से संस्कारों का निर्माण होता है।

गीता में भगवान् कहते हैं— श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः (गीता १७.३) मनुष्य श्रद्धामय है अर्थात् किसी न किसी विषय में उसकी मानसी प्रीति होती ही है, जिस विषय में प्रीति होगी उससे विपरीत विषय में अप्रीति भी होगी ही। जिस जीव की जैसी श्रद्धा है, वह स्वयं भी वही है, अपनी उस श्रद्धा के अनुरूप ही उसका स्वरूप या व्यक्तित्व होता है। अर्थात् मनुष्य की संरचना ही ऐसी है कि वह श्रद्धा से विरहित तो कभी होता ही नहीं। यह बात अलग है कि उसकी श्रद्धा किस विषय में है। पूर्वजन्मोपार्जित संस्कारों के अनुसार उसकी श्रद्धा (अभिरुचि, अभीप्सा, उत्कट इच्छा) यदि अतीन्द्रिय तत्त्वों की खोज में है, जीवन को सम्पूर्णतया समझने में है, उसे एकान्त में रहने से प्रसन्नता मिलती है, गीतोक्त दैवी सम्पत्ति (१६.१-३) के श्रवण-मनन से चित्त में प्रफुल्लता बढ़ती है, मैत्री-करुणा-मुदिता पसन्द हैं, चित्त में धर्म-ज्ञान-

वैराग्य-ऐश्वर्य सहज स्फुरित होते रहते हैं, गीता में कहे हुए ज्ञान के लक्षणों (१३.७-११) त्रिगुणातीत के लक्षणों (१४.२२-२७) भक्त के लक्षणों (१२.१३-२०) स्थितप्रज्ञ के लक्षणों (२.५५-७२) को जीने की चाह है, भगवान् और उसके ज्ञान को खोजने में जीवन को समर्पित करने की चाह है तो समझना चाहिए कि उसकी श्रद्धा सात्त्विक है। जो शक्ति, सम्पत्ति, सम्मान और वैषयिक सुखों को जीवन का सार समझते हैं उनकी श्रद्धा राजसिक होती है तथा जो आलस्य-प्रमाद-निष्क्रियता व अशुभ कर्म, स्वार्थ, हिंसा आदि में रचे-पचे हैं वे तामसिक श्रद्धा वाले होते हैं।

वेद में एक स्थल पर यह भी कहा है कि 'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।' (यजु० १९.७७) अर्थात् प्रजाओं के निर्माता ने सत्य और अनृत को सर्वथा अलग-अलग कर दिया है। अनृत में अर्थात् असत्य के प्रति जीवों के हृदय में अश्रद्धा अर्थात् अरुचि, अप्रीति रख दी है और सत्य में रुचि, प्रीति। किन्तु रजोगुण, तमोगुण से प्रभावित बुद्धि संगदोष व इन्द्रिय दोष के चलते उचित शिक्षा व संस्कारों के अभाव में सत्य व अनृत का ठीक-ठीक स्वरूप पकड़ नहीं पाती। ऐसे में जब सत्य को अनृत और अनृत को सत्य समझ बैठती है तो उसी के अनुसार श्रद्धा-अश्रद्धा, रुचि-अरुचि, प्रीति-अप्रीति चलती रहती है। इस प्रकार अश्रद्धेय विषय को श्रद्धेय समझकर जो श्रद्धा होगी अथवा श्रद्धेय विषय को अश्रद्धेय समझ कर जो अश्रद्धा होगी, उसके अनुसार ही व्यक्ति की ग्रहण व त्याग रूप प्रवृत्ति या निवृत्ति होगी। जिसके परिणाम स्वरूप न तो उसे सत्य की उपलब्धि होगी, न सुख की।

ऋग्वेद में श्रद्धा की महिमा में गाया गया श्रद्धा सूक्त भी यहाँ द्रष्टव्य है—

श्रद्धयाग्निः सम् ईध्यते श्रद्धया हूयते हविः।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वैदयामसि।। ऋग्० १०.१५१.१॥

जब मनुष्य में आस्तिक्यबुद्धि उत्पन्न होती है, तभी उसके द्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती है, तभी उसमें हवि का हवन किया जाता है। श्रद्धा से प्रज्वलित की हुई अग्नि में श्रद्धा से दी हुई हवि ही फलदायिनी होती है। अश्रद्धा

से प्रज्वलित की हुई अग्नि और उसमें दी हुई हवि का फल कभी प्राप्त नहीं होता। श्रद्धाविहीन यजमान की हवि को देवता स्वीकार नहीं करते (नाश्रद्धानस्य हविर् जुषन्ते) कौशिकसूत्र ७३.१८। भागधेय (धर्म) के मस्तक पर स्थित अर्थात् धर्म की प्रधान अङ्गभूता श्रद्धा की हम इस वेदवचन से घोषणा करते हैं—
अश्रद्धाम् अनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः (यजु० १९.७७)।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।

प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।।२।।

हे श्रद्धे! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक निर्धनों को धन और देवों को हवि देता है और हे श्रद्धे! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक धन और हवि देने की इच्छा रखता है, उस उपासक को प्रिय और मधुर फल की प्राप्ति होती है। उसका अवश्य भला होता है। हे श्रद्धे! दूसरों को खिलाने वालों में और यज्ञयाग आदि कर्म करने वालों में तू अपने इस वचन को लोकप्रिय कर दे कि शुद्ध हृदय में आस्तिक्य भाव और श्रद्धा को धारण करने से ही मधुर फल की प्राप्ति होती है, इसे धारण किये बिना दूसरों को खिलाने और यजन आदि कर्म करने वालों को मधुर फल की प्राप्ति नहीं होती।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धाम् उग्रेषु चक्रिरे।

एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकम् उदितं कृधि।।३।।

हे श्रद्धे! दान, दिव्यता आदि गुणों से युक्त देव नाम से पुकारे जाने वाले मनुष्य जिस प्रकार यह विश्वास करते हैं कि बढ़े हुए बल वाले असुरों को (ऋ० ५.५१.११) वरुण आदि देवों ने श्रद्धा और आस्तिक्य भाव के कारण ही परास्त किया है, उसी प्रकार तू दूसरों को खिलाने वाले और यज्ञयाग आदि करने वाले जनों में हमारे इस कथन को प्रसिद्ध कर दे कि श्रद्धा और आस्तिक्य भाव के बिना किये हुए कर्म का मधुर फल कदापि प्राप्त नहीं होता।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।

श्रद्धां हृदय्यं याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।४।।

दान दिव्यता आदि गुणों से युक्त और यज्ञयाग आदि का सम्पादन

करने वाले जन प्राणायाम आदि के उपायों के द्वारा रक्षणबल प्राप्त करके श्रद्धा की उपासना करते हैं। अर्थात् रक्षणबल के साथ-साथ श्रद्धा के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। मनुष्य हृदय के सङ्कल्प से श्रद्धा को प्राप्त करता है और वह श्रद्धा से ही लौकिक और अलौकिक धनों को प्राप्त करता है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।

श्रद्धां सूर्यस्य निमृचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

हम प्रातःकाल में श्रद्धा को पुकारते हैं, परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे अन्तःकरण में आस्तिक्यभाव जागरित करे। मध्याह्न और सूर्यास्त के समय भी उसी की कामना करते हैं। हे श्रद्धे! तू हमें इस लोक और इस जीवन में श्रद्धावान् कर दे, आस्तिक्यभाव से युक्त कर दे।

श्रद्धा को समझने के लिए एक और विशेष प्रसङ्ग प्रस्तुत किया जा रहा है— प्राचीन काल में जब ब्रह्मचारी गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए आचार्य के पास जाता था तो समिधा हाथ में लिए हुए समर्पण के भाव में आचार्य से प्रार्थना करता था कि मैं अग्निस्वरूप महान् ज्ञानवान् आचार्य के लिए अपने आप को समर्पित कर रहा हूँ जिससे मैं भी साक्षात् ज्ञान रूप अग्नि बन जाऊँ। हे जातवेद आचार्य! आप मुझे श्रद्धा और मेधा प्रदान करो—

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदः प्रयच्छतु ॥ (अथर्व० १९.६४.१) यहाँ मेधा का अर्थ है— धारणावती बुद्धि जो लौकिक-अलौकिक विषयों को जानने में सक्षम हो। यह कहा जा सकता है कि आजकल की सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली मेधा को ही विकसित करने का उपक्रम है। ब्रह्मचारी आचार्य से जो दूसरी वस्तु माँग रहा है— वह है श्रद्धा। यहाँ श्रद्धा से तात्पर्य है आन्तरिक प्रीतियुक्त भावनाओं से ओतप्रोत हृदय, सत्य धर्म व न्याय के प्रति आत्म समर्पण, करुणा व प्रेम पूरित अन्तःकरण की चाह, व्यष्टि और समष्टिगत जीवन में सुख-शान्ति-समृद्धि के लिये तीव्र ललक, अपने अन्तःसत्य तथा सब में व्याप्त सत्य को जानने मानने पहचानने के लिये तीव्र अभीप्सा, अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्ण सच्चाई, संवेदनशीलता, नमनीयता, आत्मवत् दूसरों से व्यवहार, सर्वभूतात्मभाव, ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ प्रार्थना

के अनुसार सब के लिए कल्याण का भाव, मन का पूर्ण सन्तुलन और एकाग्रता इत्यादि।

आचार्य जब बच्चे का उपनयन करता है तो बच्चे को अपना आशीर्वाद देते हुए श्रद्धा का बीज ही उसके अन्तःकरण में बो रहा होता है। आचार्य कहता है— इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ ।। ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ।। ओं प्रजापतये त्वा परिददामि । देवाय त्वा सवित्रे परिददामि । अद्भ्यस्त्वौषधिभ्यः परिददामि । द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि । विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ।।

आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय में आस्तिकभाव के बीज बो रहा है। वह अपने को इन्द्र का, अग्नि का, प्राण का ब्रह्मचारी समझे। आचार्य कहता है— मैं नहीं स्वयं प्रजापति ही तेरा उपनयन कर रहा है। मैं तुम्हें प्रजापति को ही सौंप रहा हूँ। मैं तुम्हें सर्वोत्पादक सविता के लिए समर्पित कर रहा हूँ। मैं तुमको ओषधियों के लिए, सम्पूर्ण द्यावापृथिवी के लिए, समस्त देवों के लिए, सब भूतों के लिए, एक वाक्य में कहें तो सम्पूर्ण अस्तित्व के लिए ही सौंप रहा हूँ। सार यही है कि सम्पूर्ण अस्तित्व का अपने को एक अविभाज्य अङ्ग मानकर जीवन जीना ही श्रद्धा का उच्चतम स्वरूप है।

जब अपने से बड़े व्यक्तियों के प्रति ‘श्रद्धा’ रखने की प्रेरणा दी जाती है तो उसका भाव होता है— उनके प्रति गौरव, सम्मान, कृतज्ञता, प्रेम व स्नेहसिक्त हृदय से परिपूर्ण रहना, उनके प्रति उद्घाटित रहना, ग्रहणशील होकर जीवन जीना। कहना अनावश्यक है कि जब कोई किसी सत्य को या किसी के जीवन को महत्त्व देता है, आदर देता है तो उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि वह भी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धा को हमने विभिन्न कोणों (Angles) से देखने का प्रयास किया है। हमारे जीवन के विकास में श्रद्धा की कितनी अपरिहार्यता, कितना महत्त्वपूर्ण योगदान है, इसे सहज ही समझा जा सकता है।

२६. शुद्ध हृदय

एक महान् ज्ञानी पुरुष का कहना है— ‘मनुष्य भावनाप्रधान सत्ता (Entity) है, बुद्धि की अपेक्षा हृदय सत्य के अधिक निकट होता है’। किन्तु यह कथन शुद्ध-हृदय पर ही लागू होता है। यदि हृदय में अभी मान-मद-माया-ईर्ष्या-घृणा-भय-राग-द्वेष-लोभ-मोह रूप अशुद्धि शेष है तो उस अवस्था में तो शास्त्र व गुरु-आचार्यों के वचनों का सहारा लेकर कठोर छान-बीन करते हुए अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करना चाहिये।

मनुष्य का बालक जहाँ पूर्वजन्मों से बहुत सारे अच्छे-बुरे संस्कार अपने साथ लाता है, वहाँ इस जन्म में भी माता-पिता, परिवेश, विद्यालय, समाज व साथियों से बहुत कुछ अनावश्यक बातें सीख लेता है। यद्यपि अच्छाई की तरफ भी ध्यान तो दिलाया जाता है किन्तु साथ-साथ बाल्यकाल से ही सम्पूर्ण परिवेश के द्वारा बुराई, दुष्ट व्यसन, दुष्ट विचार, सुखाभास (मिथ्या सुख) की ओर भी बहुत अधिक ध्यान दिला दिया जाता है। ऐसे में बुद्धि की विश्लेषण क्षमता को यदि काम में न लिया जाये तो केवल भावनाओं के सहारे चलना महाविपत्तिकर हो जाता है। इस सन्दर्भ में आदर्श व्यवस्था तो यही होगी कि बच्चों को लगभग १० वर्ष की आयु तक कुशल व पवित्र संरक्षण में रखा जाये। तत्पश्चात् उनमें अच्छे-बुरे को देख पाने की दृष्टि विकसित की जाये। उन्हें सिखाया जाये कि ज्ञान के द्वारा अशुद्ध भावनाओं का नियंत्रण और उनका परिवर्तन कैसे होता है। यह सब करते हुए आत्मानुशासन या स्वानुशासन की महिमा विकसित की जाये। जब तक व्यक्ति अन्तरात्मा, अन्तर्बोध, अन्तर्भास, अन्तःप्रकाश, अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणाओं को उपलब्ध करने की विद्या से परिचित नहीं हो जाता तब तक उसे अपनी तर्क-बुद्धि का पूरा उपयोग लेना चाहिए। उस अवस्था में तो बुद्धि के अनुशासन में चलने में ही व्यक्ति का भला है। किन्तु अन्ततः मनुष्य के लिए बुद्धि का सर्वोत्तम लाभ यही हो सकता है कि भगवान् की इस महान् देन का हृदय को शुद्ध करने में पूर्ण उपयोग किया जाये। शुद्धहृदय व्यक्ति का मन पूर्णतः शान्त व एकाग्र हो जाता

है, पुनः उसके परिणामस्वरूप व्यक्ति में दिव्य प्रज्ञा का जन्म हो जाता है जो कि व्यक्ति को सब तत्त्वों का यथार्थ बोध करा देती है। परिणामतः उसके जीवन में हेय का हान और उपादेय का उपादान सहज रूप से घटित हो जाता है। व्यक्ति जीवन में सब प्रकार की उलझनों से मुक्त हो जाता है, सर्वथा सहज हो जाता है, ‘प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः’ वाली स्थिति आ जाती है।

मनुष्य आध्यात्मिक पर्वत पर चढ़ना चाहता है तो सबसे पहला काम जो उसके करने के लिये है, वह यह है कि वह शीलवान् बने। शीलवान् बनने का अर्थ है— सह-अस्तित्व का अभिन्न अङ्ग होकर जीना, अपने लिये और सबके लिये पूर्ण सहज होकर जीना, परस्पर पूरक व सहयोगी होकर जीना, अहङ्कारमुक्त व विकारमुक्त होकर जीना इत्यादि। व्यक्ति जब शीलवान् होता है तो उसके हृदय के दुर्भाव (काम, राग, तृष्णा, स्वार्थ, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, मान-मद-मोह-माया, अहङ्कार) स्वतः ही झड़ने लगते हैं, व्यक्ति सबका प्रिय हो जाता है। शीलवान् व्यक्ति के मन-बुद्धि शुद्ध-शान्त व स्थिर होकर सहज समाधि को प्राप्त कराने में निमित्त बन जाते हैं। मन-बुद्धि की स्थिर अवस्था का नाम ही समाधि है। समाधि का अवश्यंभावी परिणाम है— ‘प्रज्ञा की उपलब्धि’। प्रज्ञा का अर्थ है— सहज प्रकाश।

बाह्य विधि-विधान, शास्त्र व आचार्योपदेश, तार्किक बुद्धि, सामाजिक परम्पराएँ— ये सब मिलकर व्यक्ति को उसके अपने सच्चे स्वरूप को खोजने में निमित्त व सहयोगी बनते हैं। किन्तु व्यक्ति का हृदय यदि शुद्ध नहीं है तो इन सभी चीजों का उसको अपने असली स्वरूप की खोज करने में कुछ लाभ नहीं मिलता। इसलिये सबसे प्रमुख जो करने का काम है, वह यह है कि व्यक्ति अपने हृदय को शुद्ध करे, अर्थात् व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति, अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा, अपने पास उपलब्ध बुद्धि व ज्ञान आदि साधनों को हृदय को शुद्ध करने में लगाये। फिर शुद्धहृदय व्यक्ति को प्रज्ञा (सम्यग् दृष्टि) तो प्राप्त हो ही जाती है। सम्यग्दृष्टि, सत्यदृष्टि ही तो वह वेद है जो शाश्वत ने प्रत्येक मनुष्य के हृदय में समान रूप से रखा हुआ है।

हृदय क्या है? बुद्धि क्या है? और भावना क्या है? हृदय है बुद्धि का अन्तिम छोर। बुद्धि है— निश्चयात्मक ज्ञान (आत्म विषयक निश्चय या विषय विषयक निश्चय), भावना है— उस निश्चयात्मक ज्ञान के साथ जुड़ी हुई प्रियता-अप्रियता। ज्ञान एक सामान्य शब्द है जैसा कि प्रमाणशब्द। प्रमाण सदा-सर्वदा ठीक ही हो यह आवश्यक नहीं, ठीक भी हो सकता है और दुष्ट भी। इसी प्रकार प्रमाण से उपलब्ध प्रमेय विषयक ज्ञान भी ठीक या गलत (शुद्ध या अशुद्ध) दोनों ही हो सकता है। यह सत्य है कि प्रमाण यदि निर्दुष्ट है तो ज्ञान भी निर्दुष्ट (शुद्ध) ही होता है और यदि प्रमाण दुष्ट है तो ज्ञान भी दुष्ट (अशुद्ध) ही होगा। ज्ञान की अशुद्धि ही हृदय की अशुद्धि है तथा ज्ञान की शुद्धि हृदय की शुद्धि। हृदय के अनुरूप ही भावना होती हैं। यदि हृदय शुद्ध है तो भावना शुद्ध होगी और अशुद्ध है तो अशुद्ध। चूंकि प्रमाण ही ज्ञान को उपलब्ध करने का साधन है अतः मनु महाराज ने प्रमाण को ठीक-ठीक उपलब्ध करने के लिये अत्यन्त बल दिया है—

प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रं च विविधागमम्।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ (मनु० १२.१०५)

अर्थात् जो यह चाहता है कि मुझे धर्म का ठीक-ठीक ज्ञान हो उसे 'प्रत्यक्ष, अनुमान व शास्त्र' तीनों को यथार्थ, शुद्ध व निर्भ्रान्त रूप में जान लेना चाहिए।

• किसी ने किसी ज्ञानी पुरुष से पूछा कि यह पता कैसे चले कि हमारा हृदय शुद्ध है या अशुद्ध? ज्ञानी पुरुष ने उत्तर दिया— लक्षणों को देखकर। हृदय जब शुद्ध होता है तो व्यक्ति हर अवस्था में प्रसन्न रहता है कभी भी दुःखी नहीं होता, समस्त उतार-चढ़ाव में सहज रहता है, काम-क्रोध-लोभ आदि विकार सिर नहीं उठाते, सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री, दुःखियों के प्रति करुणा तथा पुण्यात्माओं को देखकर प्रसन्नता का भाव आता है, सब प्राणियों का मङ्गल करने में लगा रहता है पर अपने लिये उनसे कुछ भी नहीं चाहता, अपने लिये कुछ भी आग्रह, आशाएँ या अपेक्षाएँ नहीं रखता, सेवा में रस आता है, ध्यान उसके लिये करने की वस्तु नहीं होती बल्कि स्वतः होता है, सब के साथ प्रेम की स्थिति

बनी रहती है, दूसरों के द्वारा किये गये अपमान, तिरस्कार व अपव्यवहार से विक्षुब्ध नहीं होता, अपनी सहज शान्ति में बना रहता है, दूसरों के प्रति संवेदनशील होता है, अपने लिये कम से कम लेना चाहता है और बदले में दूसरों को अधिक से अधिक देना चाहता है, धर्म उसका शील (स्वभाव) बनने लगता है। इन सभी लक्षणों से जो भी विपरीत लक्षण होंगे वे अशुद्ध हृदय के लक्षण होंगे निरन्तर दुःख भोग, विकारों का पूर्ण साम्राज्य, तेरे-मेरे का प्रगाढ़ भाव, प्रतिशोध, असंतोष, कामनाओं का अम्बार, अपने को पहल दूसरों का तिरस्कार, असंवेदनशील, सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान व वैषयिक सुखों में तृप्ति का अनुभव, मात्र पदार्थों से बड़प्पन का भाव, अर्थ और काम ही जीवन का सारतत्त्व। एक शब्द में कहें तो अहङ्कारकेन्द्रित जीवन ही अशुद्ध हृदय व्यक्ति का सर्वस्व होता है।

• भगवान् की 'स्तुति' है उसका महिमा-गान। स्वभावतः उससे स्तोता के हृदय में स्तोतव्य के प्रति प्रेम पैदा होता है। स्तुति की चरम परिणति भगवान् की महिमा का हृदय में बैठ जाना है। प्रार्थना है— प्रार्थी की अन्तिम आवश्यकता, अन्तिम माँग। 'प्रार्थना' कुछ वाक्यों का ऊपर-ऊपर से उच्चारण करना मात्र नहीं है बल्कि सम्पूर्ण सत्ता के रोएँ-रोएँ की माँग है प्रार्थना। ऐसी प्रार्थना अवश्य चरितार्थ होती है, इसमें संशय करने के लिये कोई अवकाश नहीं है। उपासना है— उपास्य के साथ उपासक का सम्बन्ध स्थापित हो जाना। इसका अन्तिम फल है उपासक का उपास्य जैसा ही बन जाना। अग्नि के समीप में, उसके इर्द-गिर्द में रहते हुए भी अग्नि की उपासना होती है किन्तु असली उपासना तो अग्नि के बीच में जाकर बैठ जाना है, अग्निमय हो जाना है। जिस किसी देवता का ध्यान किया जाता है, उसकी शक्ति, उसका अंश ध्याता में अनुप्रविष्ट हो जाता है। निरुक्त परिशिष्ट में कहा है— 'यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति'। उपनिषदों में भी कहा गया है— 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्' ब्रह्मवित् परम सत्य को प्राप्त कर लेता है। तथा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'। ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

२७. भाव— श्रद्धा, भक्ति व प्रेम

किसी ने प्रामाणिक गुरु-आचार्यों से अथवा सत्य शास्त्रों से अतीन्द्रिय तत्त्वों के विषय में कुछ सुना, पर अभी अनुभव में नहीं आ पाया, फिर भी उस सुने हुये में एक अनन्य मानसी प्रीति तो बन गई, ऐसी प्रीति कि बेशक अब उसके विरोध में सारी दुनिया भी खड़ी हो जाये तो भी अब वह प्रीति टूट नहीं सकती, बल्कि दिनों दिन बढ़ती ही जाती है तो ऐसी उस अखण्ड प्रीति का नाम है 'श्रद्धा'! इस श्रद्धा को न तो किसी परीक्षा का भय होता है और न ही यह किसी भी बड़े से बड़े प्रलोभन के सामने झुकना जानती है। यदि कभी श्रद्धा को किसी भी भय या प्रलोभन ने झुका दिया, या वह किसी भी कारण से विचलित हो गई तो समझना होगा कि वह अपने पैर ठीक से नहीं जमा पाई थी। कभी-कभी किसी तेजस्वी व्यक्ति की वाणी या उसके जीवन की सुन्दर छवि या कोई शास्त्रवचन हमारे हृदय में सीधा घुस जाता है, ऐसी स्थिति में हम उस महान् व्यक्ति के लिये अपने आप को न्यौछावर कर देना चाहते हैं, बिना बचाये अपने आप को दे डालना चाहते हैं। उसकी सेवा करने में अपने सम्पूर्ण जीवन की धन्यता समझते हैं। ऐसी श्रद्धा कभी भी वापस मुड़ कर नहीं देखती। किन्तु सदा-सर्वदा ऐसी श्रद्धा नहीं होती, प्रारम्भ में वह आंशिक ही होती है, तो भी उसे बार-बार श्रवण-मनन के द्वारा या विचार के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ती जाती है, जीवन की कठिनाइयाँ, विशेषकर अध्यात्म मार्ग की कठिनाइयाँ स्वतः ही कम होती चली जाती हैं। फिर यह श्रद्धा साधक को स्वयं सम्भालती है। किन्तु श्रद्धा की महिमा को पूरा का पूरा बुद्धि से नहीं समझा जा सकता है। कुछ चीजें ऐसी हैं कि जिन्हें तद्गुरु होकर ही समझ सकते हैं— जैसे कि भगवान् को समझने के लिये भगवन्मय, भक्ति को समझने के लिये भक्तिमय और प्रेम को समझने के लिये प्रेममय होना होता है उसी प्रकार श्रद्धा को समझने के लिये श्रद्धामय होना होता है।

यह भक्ति क्या है? भजन का अर्थ है सेवन करना या सेवा करना (भज सेवयाम्)। कुछ वाक्यों के प्रयोग के आधार पर भजन या भक्ति, सेवन या

सेवा के अर्थ को समझने का प्रयास करते हैं। जैसे देवदत्त भगवान् का भजन कर रहा है, आजकल वह भगवान् की भक्ति में लीन है। वह अमुक महापुरुष के प्रति बहुत भक्ति रखता है। वह एक बहुत बड़ा भक्त है। व्यक्ति को स्वामी-भक्त होना चाहिये। भक्ति के बिना जीवन नीरस हो जाता है। भक्ति से जीवन में सरसता आ जाती है। इसी प्रकार सेवन या सेवा शब्द के प्रयोगों को भी देख सकते हैं— वह आजकल तक्र-सेवन कर रहा है, तक्रसेवी को रोग नहीं पकड़ते, रुग्ण अवस्था में औषध सेवन कर लेना चाहिये। अभक्ष्य पदार्थों का सेवन मन व बुद्धि को विकृत कर देता है। वह अपने माता-पिता की सेवा में बहुत रुचि लेता है। वह व्यक्ति जन सेवा को ही भगवान् की सेवा समझता है। भगवान् का भजन, भगवान् की भक्ति, भगवान् की सेवा करने से हृदय शुद्ध होता है।

यहाँ इन उपर्युक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि भजन या सेवा का अर्थ है—दूसरे को भावना के स्तर पर आत्मसात् करना। 'भक्ति' इस शब्द के समानार्थक एक अन्य शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है— 'उपासना'। इस प्रकार भक्ति या उपासना से भजनीय या उपास्य के साथ अभिन्नता हो जाती है। भक्त अपनी भक्ति के द्वारा भगवान् में तन्मय हो जाता है जिससे उसमें भी आराध्य जैसी ही शान्तिमयता आदि गुण प्रकट होने लगते हैं। जब व्यक्ति किसी की सेवा करता है तो उसमें भी वह दुःखी के दुःख या जरूरतमन्द की जरूरत को आत्मसात् ही तो करता है।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में सेवधातु का एक प्रयोग किया है— 'सेवस्व विद्वज्जनम्' अर्थात् तू विद्वज्जन का सेवन कर, उसके निकट रह। लोक भाषा में भी एक प्रयोग मिलता है— 'कबूतरी या मुर्गी अण्डा से रही है' 'अण्डा सेना' यहाँ सेवन का ही 'सेना' अपभ्रंश हो गया है। उक्त प्रयोग में मुर्गी के द्वारा अण्डे की निकटता को दर्शाया जाता है। इसी प्रकार का आयुर्वेद में भी एक प्रयोग उपलब्ध होता है— 'पथ्यं भजमानस्य' पथ्य का सेवन करने वाले का अर्थात् युक्ताहार-विहार का सेवन करने वाले का, ऐसा अर्थ होता है। इसी शैली में 'हिताहारविहारसेवी', 'आप्तोपसेवी' प्रयोग भी मिलते हैं। 'भगवान् का सेवन

या भगवान् का भजन' इन शब्दों का अर्थ होगा— भगवान् की निकटता में रहना। जिसका फल होता है— भगवान् के गुण-कर्म-स्वभावों का धारण होना।

चित्तगत विविध भावों में एक है रति (अनुरक्ति), जो आलम्बन भेद से श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, प्रेम, वात्सल्य, स्नेह आदि रूपों में प्रकट होती है। अनुराग का यह भाव अपने प्रियतम इष्ट देव के प्रति भक्ति के रूप में प्रकट होता है। चित्त का और यही भाव पुत्रादि के प्रति वात्सल्य के रूप में, भ्राता आदि के प्रति स्नेह के रूप में, गुरु या किसी पूज्य के प्रति श्रद्धा के रूप में हुआ करता है। कोई किसी के निकट क्यों रहता है? किसी से क्यों प्रेम करता है? इसका हेतु कोई स्वार्थ, कोई प्रयोजन सिद्धि आदि कुछ भी हो सकता है, किन्तु जब अपने इष्ट देव में किसी भी लौकिक स्वार्थ के बिना ही परम-प्रेमरूपा भक्ति (निकटता) होती है तभी उसे 'भक्ति' यह नाम दिया जाता है। जब कोई किसी की निकटता में रहता है तो स्वाभाविक रूप से उसके धर्म निकट रहने वाले में आ ही जाते हैं।

अब हम यह जानना चाहते हैं— प्रेम क्या है? 'प्रेम' यह शब्द 'प्रिय' इस शब्द से भाव अर्थ में इमनिच् (इमन्) प्रत्यय करके सिद्ध होता है (किसी शब्द के बाद में जो शब्द जुड़ जाता है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं)। 'भाव' इस अर्थ से तात्पर्य? शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त भाव शब्द से कहा जाता है। जिस गुण के कारण किसी शब्द का किसी अर्थविशेष में प्रयोग होता है, उस गुण को भाव कहते हैं। हिन्दी में भावप्रत्ययान्त शब्दों के लिये 'भाववाची संज्ञायें' (जैसे मानवता) और अंग्रेजी में 'Abstract Noun' जैसे 'Humanity' शब्द का व्यवहार होता है। प्रिय क्या है? 'प्रीणाति' इति प्रियः। जो तृप्त कर दे वह प्रिय। 'तृप्ति देने वाला' यह हृदय का एक भाव विशेष भी हो सकता है और कोई व्यक्ति या पदार्थ भी।

सो प्रेम शब्द का अर्थ हुआ 'प्रियस्य भावः प्रेम अर्थात् प्रियता'। अर्थात् प्रियता और प्रेम समानार्थक हो गये। जैसे 'मनुष्यता' इस गुण के कारण 'मनुष्य' शब्द का 'मनुष्य' अर्थ में प्रयोग होता है, उसी प्रकार 'प्रियता या प्रेम'

गुण के कारण 'प्रिय' शब्द का 'प्रिय' अर्थ में प्रयोग होता है। मनुष्यता के अभाव में जैसे मनुष्य का कोई अस्तित्व ही नहीं, उसी प्रकार प्रियता (प्रेम) के अभाव में 'प्रिय' शब्द के अर्थ की कोई कल्पना नहीं। सरलार्थ यह निकला कि प्रेम ही वह तत्त्व है जिसके होने से या जिसके रहते प्रिय अर्थात् तृप्ति देने का गुण (भाव अर्थात् Feeling) अस्तित्व में आता है। अर्थात् जीवन में जिसे तृप्ति चाहिये उसे प्रेममय होकर जीना होगा।

एक महान् सन्त अपना अनुभव सुनाते हैं— 'श्रद्धा-भक्ति-प्रेम दूरी-देरी-मजबूरी को समाप्त कर देती है'। श्रद्धा होने पर 'दूरी' नहीं रहती, यद्यपि श्रद्धेय (किसी के द्वारा दिया गया उपदेश, कोई महापुरुष कोई देवता, कोई इष्ट मित्र अथवा स्वयं भगवान्, कोई सिद्धान्त, कोई प्राप्तव्य लक्ष्य) बहुत दूर है, कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा, केवल उसके प्रति मानसिक लगाव (श्रद्धा) है, किन्तु वह लगाव ऐसा है कि मानसिक सान्निध्य के कारण दूरी रहती ही नहीं, जैसा कि कहा है—

जल में बसे कमोदिनी चन्दा बसे अकास।

जो जांही को भावता सो तांही के पास।।

इसी प्रकार भक्ति होने पर 'देरी' समाप्त हो जाती है, क्योंकि भक्ति में भजनीय के समीप होना होता है। समीप ही पहुँच गये तो अब मिलने में देरी क्या रही। दूसरी तरफ से कहें तो यह भी कहा जा सकता है कि यदि भगवत् मिलन नहीं हो रहा है तो भक्ति जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हो रही, भक्ति में कहीं कमी रह रही है। 'प्रेम में कोई मजबूरी नहीं' यह तो लौकिक सम्बन्धों में भी आसानी से देखा जा सकता है। प्रेम प्रेमी को प्रेमपात्र से सहज रूप से जोड़े रखता है, वहाँ किसी भी प्रकार की कोई 'मजबूरी' नहीं होती। कितना भी कष्ट, परेशानी आये तो भी व्यक्ति के मन में एक क्षण के लिये भी मजबूरी का भाव नहीं आता। छोटे बालक के साथ माता के व्यवहार को, माता के आचरण को सामने रखकर प्रेम के इस मजबूरी रहित स्वरूप को समझा जा सकता है।

२८. ज्ञान और भाव

कुछ मूलभूत ज्ञान तो मनुष्य व मनुष्येतर सभी प्राणियों को जन्म से होता ही है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी हमें बाल्यकाल से सिखाया जाता है—माता-पिता, परिवेश, गुरुजन, विद्यालय, समाज, मित्र या साथी, अड़ोस-पड़ोस, पुस्तकों या ग्रंथों आदि के द्वारा; वह सब हमारी बुद्धि के परिष्कार की एक प्रक्रिया है। ये माता-पिता, गुरुजन आदि हमारी बुद्धि के परिष्कारकर्ता होते हैं, उनके द्वारा किये गये परिष्कार के अनुसार हमारी बुद्धि बनती चली जाती है। अर्थात् माता-पिता, गुरुजन आदि सब के सब हमें जिस अनुपात में परिष्कृत-अपरिष्कृत मिलते हैं उसी के अनुसार हमारी बुद्धि में परिवर्तन घटित होता रहता है। परिष्कृत मार्गदर्शन मिलने पर आन्तरिक रूप से विकसित होते हुए हम एक अच्छे मनुष्य, जितेन्द्रिय, कर्तव्य-परायण, दूसरों का ध्यान रखने वाले, ऋषि, ज्ञानी व देवता बन जाते हैं तथा वैसा न मिलने पर अविवेकी, स्वच्छन्द, स्वार्थी, दूसरों के प्रति संवेदनाओं से शून्य, मनुष्य के रूप में पशुओं से भी बदतर, हिंसक, क्रूर व स्वकेन्द्रित जीवन जीते हैं।

यहाँ देखना यह है कि यह परिवर्तन घटित कैसे होता है? उत्तर स्पष्ट है—**ज्ञान के द्वारा**। जब हमें किसी के द्वारा सिखा दिया जाता है या हम स्वयं ही किसी भी उपाय से यह सीख लेते हैं कि शुद्ध ज्ञान का पर्यवसान एकत्व में होता है तो सम्पूर्ण अस्तित्व को अपने शरीर के अङ्गों की तरह परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से सुसम्बद्ध एक बृहत् इकाई के रूप में देखने लगते हैं। जिन्हें ऐसा शुद्ध ज्ञान (सात्त्विक ज्ञान) नहीं मिलता वे इन सभी इकाइयों को अलग-अलग ही देखते हैं उन्हें इन इकाइयों को जोड़ने वाला कोई भी एकता सूत्र (unity in diversity) दिखाई नहीं देता। यदि और भी निचले स्तर का ज्ञान होता है तो एक कार्य (वस्तु-व्यक्ति) को ही आग्रहयुक्त होकर सम्पूर्ण के समान सब कुछ मान लिया जाता है, उसमें कुछ युक्ति भी नहीं खोजी जाती।

व्यक्ति जो यह देखता है कि मेरा देह ही सब कुछ है, इसी के लिए सब

क्रिया-कलाप हैं तो वह भी और जो देहात्मभाव से ऊपर उठकर सर्वात्मभाव में पहुँच जाता है वह भी ज्ञान के कारण ही होता है। ‘ओम् महः पुनातु हृदये’ इत्यादि वैदिक प्रार्थनाओं के माध्यम से हमारा ध्यान दिलाया गया है कि हमारी सत्ता में एक ‘भाव’ नाम का तत्त्व भी है उसे फैलाने से वह फैल जाता है, उसकी तरफ ध्यान न देने से वह संकुचित ही पड़ा रहता है। शास्त्रों के समस्त विधि-निषेध, मर्यादापालन, अनुशासन, शिक्षण, श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि उसी भाव (प्रेम) नामक तत्त्व को विस्तीर्ण करने के लिए हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि शुद्ध ज्ञान से हमारी बुद्धि में भाव शुद्ध रूप में प्रकाशित होता है। अशुद्ध ज्ञान से अशुद्ध भाव ही प्रकाशित होता है और वही हमारा ग्राह्य बना रहता है। ज्ञान हमारे लिए ग्राह्य व त्याज्य का भेद वर्गीकृत करके दिखाता रहता है और उसके पश्चात् जो हम ग्राह्य व त्याज्य के ग्रहण और त्याग करने का निर्णय लेते हैं उस समय भाव (भावना) के आधार पर ग्राह्य को ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् उस काम में प्रवृत्त हो जाते हैं और यदि अनावश्यक समझते हैं तो ज्ञान के द्वारा उसका त्याग कर देते हैं, उस काम को नहीं करते हैं। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान यदि अशुद्ध होता है तो उसी के अनुसार चीजें ग्राह्य व त्याज्य होती हैं और यदि शुद्ध होता है तो उसके अनुसार।

ज्ञान और भाव के बीच सम्बन्ध देखा जाये तो कभी ज्ञान कारण होता है तो भाव उसका फल, कभी दूसरे समय भाव कारण बनकर ज्ञान को जन्म देता है अर्थात् शुद्ध भाव से ज्ञान का भी परिष्कार हो जाता है और अशुद्ध भाव है तो ज्ञान अपरिष्कृत ही रहता है। ये दोनों ‘भाव व ज्ञान’ Reciprocal बनकर एक दूसरे को बढ़ाते रहते हैं। शुद्ध ज्ञान से शुद्ध भाव फिर शुद्ध भाव से शुद्ध ज्ञान, इसी प्रकार अशुद्ध ज्ञान से अशुद्ध भाव और आगे अशुद्ध भाव से अशुद्ध ज्ञान पैदा होते रहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी संभव है कि हृदयहीन शुष्क ज्ञान से व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द की परिस्थितियों व व्यक्तियों को देख रहा होता है ऐसा ज्ञान अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी विनाशकारी होता है। दूसरी ओर ज्ञानहीन आवेगों के वशीभूत होकर भी निर्णय लेता रहता है। ये निर्णय भी

ठीक नहीं होते। प्रकृत में आदर्श स्थिति यह है कि ज्ञान के आलोक में प्रेम से परिपूर्ण हृदय हो। भावों की अशुद्धि राग-द्वेष हैं और ज्ञान की अशुद्धि यह है कि जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न दिखाना। पूर्णता के लिए 'भाव और ज्ञान' दोनों को शुद्धतम करने की आवश्यकता है, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

जब ज्ञान व भाव हमारे शुद्ध होते हैं तो कर्म भी हमारे शुद्ध होते हैं। अर्थात् हम अशुभ कर्मों से हटकर शुभ कर्मों को प्राप्त हो जाते हैं। हम धीरे-धीरे दिव्यकर्मा या निष्कामकर्मा, ब्रह्मकर्मा, आप्तकर्मा, आप्तकाम, आत्मकाम हो जाते हैं। 'ज्ञान' जानकारीयाँ व सूचनाएँ संकलित करना मात्र नहीं है। यद्यपि यह भी ज्ञान का एक चरण है। किन्तु अभी तो यह पूर्ण शुद्ध ज्ञान नहीं है।

• यद्यपि भावना और ज्ञान एक सिक्के के दो पहलू की तरह हैं, एक सामने होता है तो दूसरा तिरोहित, तो भी कोई व्यक्ति सिक्के के एक पक्ष को प्रमुखता देते हुए किसी कार्य को केवल भावना से भी कर सकता है और केवल ज्ञान से भी, किन्तु वहाँ होते दोनों ही हैं। यह बात अलग है कि वे भावना और ज्ञान कैसे हैं, वे शुद्ध या अशुद्ध दोनों भी हो सकते हैं। किन्तु जब शुद्ध ज्ञान होता है तो भावना अशुद्ध नहीं हो सकती, इसी प्रकार अशुद्ध ज्ञान है तो भावना शुद्ध नहीं हो सकती। शुद्ध-अशुद्ध ज्ञान के अनुरूप ही सदा भावना होती है। कभी-कभी व्यक्ति भावनाहीन ज्ञान और ज्ञान-विहीन भावना की स्थिति में भी देखा जाता है। एक निष्कर्ष यह है कि भावना जैसी भी है, भावना के रहते व्यक्ति किसी कार्य को छोड़ नहीं सकता। हाँ! ज्ञान होने पर तो दोनों स्थिति हो सकती हैं, चूँकि ज्ञान का काम लाभ-हानि, सुख-दुःख, उचित-अनुचित, हित-अहित दिखाना है, अतः ज्ञान ने किसी वस्तु-व्यक्ति-विचार-भाव या क्रिया (कर्म) में यदि लाभ, सुख, औचित्य या हित अधिक दिखा दिया तो वह कार्य अवश्य होगा और यदि हानि, दुःख, अनौचित्य या अहित अधिक दिखा दिया तो फिर वह कार्य होने वाला नहीं है, अर्थात् ज्ञान किसी विषय को त्यागना चाहे तो त्याग भी कर सकता है, किन्तु भावना ऐसी युक्ति नहीं जानती कि किसी विषय में भावना उत्पन्न हो जाये और उसे छोड़ दे। यह भावना पर्वत से लुढ़कने वाले पत्थर की तरह होती है। भावना गति है, गाड़ी में ऐक्सीलरेटर की

तरह है, किन्तु ज्ञान ब्रेक भी है और गति देने वाली प्रेरक शक्ति ड्राइवर भी। ज्ञान विहीन भावना ऐसी है जैसे कि ब्रेकरहित गाड़ी या फिर ऐसी गाड़ी जिसका चालक अन्धा है। भावनारहित ज्ञान ऐसा है कि व्यक्ति जिस मार्ग व लक्ष्य को देख रहा है या जिस पर वह चल रहा है उसमें उसका प्रेम नहीं है। रोते-रोते आगे बढ़ रहा है, 'तत्कारी और तद्द्वेषी' बनकर ही गाड़ी को खींच रहा है। ज्ञान और भावना का समुच्चय ऐसा है जैसे चालक भी स्वस्थ है, गाड़ी में ब्रेक भी हैं, गाड़ी बड़े ही प्रेम के साथ मार्ग पर दौड़ भी रही है, लक्ष्य भी सामने है कि कहाँ जाना है। इस प्रकार यात्रा में आनन्द ही आनन्द है।

• जीवन की पूर्णता 'ज्ञान और भावनाओं की शुद्धि'

दृष्टि की स्वस्थता के साथ-साथ मन की एकाग्रता या दूसरे शब्दों में भावनाओं की शुद्धि या निर्मलता भी चाहिये। भावनाओं का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने हृदय के साथ होता है। मन का जो गहरा भाग है वही है 'हृदय'। हृदय के शुद्ध होने से दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध प्रेम पूर्ण हो जाते हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' चरितार्थ होने लगता है, 'जीवन को सुन्दरतम बनाने के लिए' अब इस शुद्ध हृदय से अभीप्सा उठने लगती है। ऐसे में व्यक्ति शान्ति में जीना चाहता है। उत्तेजना भरे ऐन्द्रियिक सुख अरुचिकर और स्वादहीन लगने लगते हैं। जो दृष्टि प्राप्त हुई है उसे चरितार्थ करना चाहता है। व्यक्तित्व का यह भाग स्वस्थ होने से अन्ततः 'ज्ञान' स्वभाव का अङ्ग बनने लगता है। 'पुरुषार्थ' प्रारब्ध (स्वभाव) को बदलने के लिए सक्रिय हो उठता है। 'सम्यग् दृष्टि' से जहाँ जीवन प्रकाशमय होता है, वहीं 'भावनाओं' से जीवन बल-सम्पन्न (उत्साह सम्पन्न) होता है। 'सम्यक् दर्शन' जीवन के लिये 'आँख' है तो भावनाएँ 'पैर'। इसे हम ऐसा समझ सकते हैं— किसी के पास भावनाएँ तो हों पर दृष्टि न हो तो वह व्यक्ति जीवन के संदर्भ में अन्धा है। दूसरी तरफ व्यक्ति के पास दृष्टि तो है पर भावनाएँ नहीं हैं तो समझना होगा वह व्यक्ति लंगड़ा है। यात्रा के लिये 'दृष्टि' और 'पैर' दोनों चाहियें। 'जीवन एक यात्रा है' इसमें तो क्या संशय? कोई भी प्रज्ञावान् मनुष्य जीवन को एक यात्रा के रूप में देखता ही है।

२९. व्रत-दीक्षा-तप

मनुष्य जीवन का लक्ष्य, प्रयोजन, उद्देश्य क्या है? इस बारे में यदि विचार किया जाये तो उसका उत्तर यही निकल कर आता है कि 'सत्य का अन्वेषण' 'भगवान् की खोज' 'अपनी असली आत्मा की खोज'। यह कार्य इतना जटिल व कठिन है कि सामान्य बुद्धि से इस दिशा में एक कदम भी आगे नहीं रखा जा सकता। इस खोज के लिये व्यक्ति को विशेष प्रज्ञावान् बनना होता है (दृश्यते त्वग्रा बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । कठो०) अर्थात् सूक्ष्मदर्शी ही अपनी सूक्ष्म व पैनी बुद्धि के द्वारा उस सत्य का अनुभव कर पाते हैं जो सर्वत्र विप्रसृत (फैला हुआ) है।

अब प्रश्न यह है कि जीवन की इस महनीय उपलब्धि को अधिगत करने के लिये प्रारम्भ कहाँ से किया जाये? इसके उत्तर में कहना होगा कि जैसे किसी भी यज्ञ को निष्पन्न करने के लिये सर्वप्रथम यज्ञ वेदी में अग्नि की स्थापना की जाती है, वैसे ही अपनी हृदय रूपी यज्ञ वेदी में कोई विशिष्ट संकल्पाग्नि या अभीप्साग्नि या व्रत रूपी अग्नि को स्थापित किया जाये। जैसे भौतिक यज्ञ की सम्पन्नता के लिये आवश्यक समिधा-सामग्री, घृत, शाकल्य आदि की उपयोगिता व अपरिहार्यता स्पष्ट है वैसे ही नियम यहाँ भी प्रयोज्य है किन्तु इस समस्त-सम्भार के जुटा लेने पर भी अग्नि के बिना कोई भी यज्ञ कल्पनीय नहीं है। इसीलिये इस विषय में यह कहा जाता है कि अग्नि में सब देवताओं का वास है, अग्नि सब देवताओं का मुख है, (अग्निः सर्वा देवताः / अग्निर्वै देवानां मुखम्) अत एव यज्ञ में किसी कारणवश यदि अग्नि बुझ जाये तो तत्काल उसे प्रज्वलित करने का उपक्रम किया जाता है। अग्नि को सतत उदबुद्ध रखने के लिये आहुतियों का सतत तारतम्य अपेक्षित होता है। कहा है— 'अग्निरायुष्मान् स समिद्भिरायुष्मान् । तेन० ...' समिधारूप आहुतियों के बिना अग्नि शीघ्र ही बुझ जाती है।

इस प्रकार सत्य के अन्वेषण, सत्य की खोज रूप इस महायज्ञ को सम्पन्न करने के लिये साधक को अपने भीतर अभीप्सा रूपी अग्नि को स्थापित करके उसकी सतत परिचर्या करनी होती है। भौतिक अग्निहोत्र के बहाने से यजमान (साधक) को यही सब कुछ करने के लिये ध्यान दिलाया गया है, समझाया गया है। जिन मन्त्रों का वहाँ विनियोग है, उन मन्त्रों को बोलता हुआ यजमान कहता है— हे त्रिलोकी के स्वामी सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मैं विशालता में द्युलोक के समान तथा विस्तीर्णता में पृथिवी के समान हो जाऊँ। हे देवयजनी पृथिवी! देवों के लिये यजनस्थली देह-प्राण व मन की संघात भूत पृथिवी! तेरी पीठ पर अन्नाद अग्नि को आहुति भक्षण के लिये स्थापित करता हूँ। यहाँ अग्नि को अन्नाद कहा गया है— अर्थात् अग्नि होता है आहुति रूप अन्न का भक्षण करने वाला। ॐ भूर्भुवः स्वर्गोरिव भूमा पृथिवीव वरिष्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यादधे ।। (यजु० ३.५) ॐ उदबुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च । अस्मिन्त्यधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ।। (यजु० १५.५४)

यजमान कहता है— हे मेरे संकल्पाग्नि! मेरे अभीप्साग्नि! तुम उदबुद्ध हो जाओ, प्रदीप्त हो जाओ। प्रतिपल जागरित रहो। तुम और यह यजमान दोनों मिलकर इष्ट और पूर्त का निष्पादन करो। परमदेव का यजन, ब्रह्म की उपासना यहाँ 'इष्ट' है तथा ब्रह्मज्ञान का अपने जीवन, आचरण, व्यवहार, लेखनी या प्रवचन आदि के द्वारा प्रसारण या फैलाव 'पूर्त' है। समस्त दिव्यताएँ और यह यजमान इस उत्कृष्टतम सिद्धिस्थल या आत्मा-परमात्मा के सायुज्यस्थल में विराजमान होंगे। इसके पश्चात् देह-प्राण व मन की प्रतीक बनी तीन समिधाओं को अपनी अभीप्साग्नि में छोड़ने के लिये 'अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्वस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ।' इत्यादि मन्त्रों को पढ़ता है। मन्त्र में कहा गया है— हे जातवेद अग्ने! हे सर्वव्यापिन्! हे सर्वज्ञ प्रभो! परमात्म अग्निदेव मुझ यजमान का यह आत्मा तेरा इध्म है,

इन्धन के समान है। जैसे भौतिक अग्नि इन्धन को प्राप्त कर प्रदीप्त हो उठता है, उसी प्रकार इस मेरे आत्मारूपी इन्धन को अपनी ज्योति से प्रदीप्त करो और फिर प्रदीप्त हुए उस आत्म इन्धन से तुम दीप्त हो जाओ और भी अधिक दीप्त, अभिव्यक्त और प्रवृद्ध हो जाओ, बढ़ जाओ। आप हमको ज्ञान, बल, आनन्द, तप व सद्गुण रूप प्रज्ञा से, इन्द्रियशक्तिरूपी पशुओं से, ब्रह्मतेज से, यथोचित दिव्यसामर्थ्य से निश्चय पूर्वक बढ़ाएँ।

यद्यपि परमज्योतिःस्वरूप, परमेश्वर स्वयं प्रकाश है, किसी अन्य अग्नि से उसके और अधिक प्रकाशित होने की कोई सम्भावना नहीं है फिर भी एक अर्थ में अग्नि से अग्नि बढ़ती है ‘अग्निनाग्निः समिध्यते’ (ऋ० १.१२.६)। इसको हम ऐसा समझ सकते हैं कि परमात्मारूप अग्नि के द्वारा हमारी आत्माओं के प्रदीप्त होने से वह परमात्मा जगत् में और भी उत्तरोत्तर अभिव्यक्ततर होता है, उसकी ज्योति विस्तार को प्राप्त होती है। जैसे अन्यत्र भी कहा है— ‘सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः’ (ऋ० १.९१.११) हे सोम! हे परमानन्द! हम तेरे उपासक तेरी स्तुतियों की महिमा को जानते हैं। स्तुतियों से तू निश्चय ही वृद्धि को प्राप्त होता है। इसलिये हम तुझ इष्ट देव को अपनी स्तुतियों से बढ़ाते हैं।

आगे दूसरी समिधा के आधान के लिये दो मन्त्रों के द्वारा यजमानों को निर्देश दिया गया कि हे यजमानों! आत्मान्वेषण और आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये देह, प्राण व मन की आहुति के द्वारा अर्थात् समग्र जीवन के अर्पण के द्वारा देह में स्थित उस आत्माग्नि की परिचर्या करो जिसने कि एक देह से दूसरे देह में जाने वाले अतिथि धर्म को धारण किया हुआ है, घृत की दीप्तियों से अर्थात् मन की निर्मलप्रकाश युक्त अवस्थाओं से उसे जगाओ। इस आत्माग्नि में देह, प्राण व मन के कर्मों को और उनके फलों को आहुति रूप में प्रदान करो जिससे कि यह आत्माग्नि पूर्ण प्रदीप्त हो जाये और उसके फलस्वरूप तुम्हें उसका पूर्ण ज्ञान हो जाये। **समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा।।** (यजु० ३.१)

और भी, देह और प्राण की आहुति से सम्यक् प्रदीप्त स्वयं पवित्र और दूसरों को भी पवित्र करने वाले, उत्पन्न पदार्थमात्र में विद्यमान आत्माग्नि के लिये, आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण, आत्मोपासनादि अन्तःसाधनों से तीक्ष्ण किये हुए, परिशोधित किये हुए मानस प्रकाश (घृत) को उस आत्माग्नि के पूर्ण प्रदीपन के लिये अर्पित करो। सर्वज्ञ व सर्वव्यापक अग्नि के लिये यह आहुति है। **सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा।।** (यजु० ३.२)

समिदाधान के अन्तिम मन्त्र से यजमान अग्नि को ही सम्बोधित करके कहता है— हे सब अङ्गों के रसस्वरूप, सारस्वरूप, सभी अङ्गों में रममाण, प्राणप्रिय, अङ्गारों के समान जलती हुई ज्योतिःशिखारूप, दिव्य चेतना से देदीप्यमान तेजःस्वरूप आत्माग्नि! ‘अङ्गिरा’ इस नाम से प्रसिद्ध तुझ आत्माग्नि को देह, प्राण (इन्द्रियों) की और उनके कर्मों की आहुतियों से और शुद्ध मनश्चेतना के प्रकाश से आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण, स्वाध्यायादि से युक्त उपासना के द्वारा हम आपको बढ़ाते हैं। हे निखिलदुरितदुर्गुण निवारक! सकलसुवितसद्गुणसम्प्रापक! अभद्र को हटाने में और भद्र को प्राप्त कराने में युवतम! समर्थतम आत्माग्नि! हमारे द्वारा किये गये समस्त सत्ता के समर्पण से तुम अत्यन्त प्रदीप्त हो जाओ, दिव्यज्योति से देदीप्यमान हो जाओ। **तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ट्य स्वाहा।।** (यजु० ३.३)

यजमान यह देख रहा है कि अपने देह, प्राण व मन के संघात रूप आधार पर जिस अभीप्सा, संकल्प या व्रत रूपी अग्नि को मैंने स्थापित किया है, वहाँ चैत्याग्नि प्रज्वलित हो उठी है, उस अग्नि में मैंने प्रत्येक वस्तु की भगवान् के नाम से आहुति लगाना आरम्भ कर दिया है, उधर वह अग्नि भी मेरे द्वारा प्रदत्त समस्त भाव-भावना, विचार व विविध कर्मरूप आहुति का भक्षण करके द्युलोक में भेज रहा है, जहाँ से ज्योति, शक्ति, सत्य, आनन्द व अमृतत्व की वर्षा होती है।

इस प्रकार हमने देखा— चैत्य अग्नि को जगाने की भावना से अपनी हृदयवेदी में ‘अभीप्साग्नि को स्थापित करना’ यजमान का व्रती होना है, यजमान अब ‘व्रती’ बनकर उस अग्नि की सतत सेवा करने में जुट जाता है। यजमान का अपने तन-मन, प्राण, कर्म व कर्मफलों, विविध भाव-भावनाओं का आहुतिदान रूप यह कर्म उसकी ‘दीक्षा’ बन जाता है। दीक्षा का अर्थ है, आधान की गई संकल्पाग्नि को, अभीप्सा रूप अग्नि को आहुतियों के द्वारा सतत प्रज्वलित रखना, उसे कभी भी बुझने न देना। दीक्षा को सतत जारी रखने के लिये एक तरफ संकल्प, अभीप्सा या व्रत की आवश्यकता होती है तो दूसरी तरफ उग्र तप की। तप माने मन व इन्द्रियों की एकाग्रता या प्रतिकूलताओं-बाधाओं व कष्टों को खुशी-खुशी सहना।

यहाँ सारभूत कथन यह होगा ‘संकल्प’ (अभीप्सा या व्रत) और ‘तप’ इन दो पाटों के बीच दीक्षारूपी नदी बहती है। संकल्प (अभीप्सा) दीक्षा को जीवन देता है किन्तु तप न हो तो यह जीवन की धारा भङ्ग हो सकती है, परन्तु यह भी है— कि तप करने के लिये आवश्यक बल व शक्ति को साधक दीक्षा के कारण ही जुटा पाता है। मूल में दीक्षा न हो तो तप भी क्यों करेगा? ‘दीक्षा’ की इस योग्यता को ध्यान में रखकर ही तप की अपेक्षा दीक्षा को पूजनीयता की दृष्टि से प्रथम स्थान पर रखा है। किसी शब्द का समस्त पद में अर्थात् समासयुक्त पद में पहले या पश्चात् प्रयोग करने की एक शास्त्रीय व्यवस्था या भाषा की अपनी प्रामाणिक परम्परा है। उस व्यवस्था के अनुसार जो अभ्यर्हित (महत्त्वपूर्ण या पूजित) होता है उसका समास में पूर्व प्रयोग होता है। अत एव ‘दीक्षातपसी’ यह प्रयोग साधु होता है न कि ‘तपोदीक्षे’। अब आगे पवित्रता व ईमानदारी के साथ जो दीक्षा का निर्वाह करता है उसे स्वतः ही भागवत विधान के अनुसार ‘दक्षिणा’ मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार आगे चलते-चलते दक्षिणा व्यक्ति को स्वाभाविक रूप से श्रद्धा से जोड़ देती है। यहाँ श्रद्धा का अर्थ है अपने संकल्प में, अपनी अभीप्सा में, अपने व्रत में मानसी प्रीति, ऐसी प्रीति कि निश्चितरूपेण अब वह किसी भी भय-बाधा-प्रलोभन के आगे नहीं झुकेगी। संकल्प के या अभीप्सा के पूरे होने तक यह

व्यक्ति के भीतर गूँजती रहेगी, मनुष्य के मन को अपनी उपस्थिति से घेरे रखेगी और एक बात यह दिनों दिन बढ़ती ही रहेगी, कभी भी किसी भी परिस्थिति में घटने का नाम नहीं लेगी। श्रद्धा होने पर व्यक्ति की अपने लक्ष्य से जिसकी कि अभीप्सा की जा रही है, दूरी समाप्त हो जाती है, क्योंकि श्रद्धा की अपने संकल्पित विषय में निश्चयता की स्थिति होती है, वह श्रद्धावान् व्यक्ति विचार करता है कि बेशक मुझे अभी आज अभीप्स्यमान विषय का स्पष्ट बोध या उस विषय की कार्य-प्रणाली का स्पष्ट बोध नहीं है किन्तु उसकी सत्ता के विषय में और उसके शुभ परिणाम के विषय में किसी प्रकार का कोई संशय नहीं रहा। उससे वह अपने को दूर अनुभव नहीं करता और कालक्रम में से गुजरते हुए उसे उस गुह्य सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव भी हो ही जाता है। इस सम्पूर्ण तथ्य को यजुर्वेद के एक मन्त्र में इस प्रकार कहा—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।। (यजु० १९.३०)

- ☞ एक सच्चे तीर्थ यात्री के लिये हर पड़ाव मंजिल है। अतः यात्रा का आनन्द उसके लिये मंजिल के आनन्द से कभी भी कम नहीं होता।
- ☞ आसक्ति या लगाव का ही दूसरा नाम भोग है। अनासक्त या बेलगाव होना ही त्याग है।
- ☞ अपने लिए, समाज के लिए व विश्व के लिए अपने कर्तव्यों को देखें।
- ☞ दूसरे हमारे बारे में क्या जानें? जितना हम हमारे बारे में जानते हैं उतना कोई दूसरा कैसे जान सकता है।
- ☞ कुछ का बाहर से रोना भीतर से हँसना होता है, दूसरे बाहर से हँसते हैं भीतर से रोते हैं।
- ☞ हृदय शुद्धि का साधन है— श्रद्धा-भक्ति-प्रेम पूर्वक सेवा, समर्पण, विचार, निष्कामता व प्रार्थना।

३०. अहङ्कार और प्रेम

आचरण की भूल तो सामान्य या विशेष सभी को समान रूप से तत्काल समझ में आ जाती है। किन्तु शास्त्रीय भूल (किसी विशिष्ट शास्त्र की विषय वस्तु) को कोई उस विषय का मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकता है। किन्तु चर्चा में दोनों ही पक्ष मान यही रहे होते हैं कि प्रतिपक्षी विषय को ठीक नहीं समझ रहा है। प्रायः दार्शनिक सिद्धान्तों में यह घटना अधिक घटती है। एक विषय को किसी ने अच्छे से समझ कर अपनी बुद्धि में एक विशिष्ट आकार में बिठा लिया है। दूसरे ने उसको दूसरे रूप में समझा है। क्या ऐसी स्थिति में उन दोनों में कभी एकरूपता हो सकती है? नहीं हो सकती है, असम्भव है। तो क्या ऐसे विषयों में चर्चा ही नहीं करनी चाहिए? अनुभव तो यही बताता है कि चर्चा का कोई लाभ नहीं। ज्ञान किसी को हठात् नहीं दिया जा सकता। जैसे किसी वस्तु की हमें आवश्यकता नहीं, उसे कोई मुफ्त में भी दे तो हम लेना नहीं चाहते, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक ज्ञान के विषय में भी यही नियम लागू होता है। यह वैसा ही हो जाता है जैसे कोई विद्यार्थी पाणिनि-व्याकरण पढ़ना नहीं चाहता और हम उस पर दबाव डालकर पढ़ाने लेंगे। यह हमारा मोह ही है कि हम जिस विषय को बहुत ही लाभकारी देखते हैं उसे अपने सभी प्रियजनों को देने के लिये उतावले हो जाते हैं। मीठे से मीठा जल भी बिना प्यास के किसी को पिलाना उसके लिये सुखद होगा या दुःखद? विचारशील व्यक्ति को पता चल ही जाता है कि सामने वाले को उसकी विद्या या शिक्षा की आवश्यकता है नहीं? यदि सरा-सर दिख रहा है कि यह तो गलत समझ रहा है तो भी क्या चुप ही रहना चाहिए? हाँ! ऐसे प्रसङ्गों के लिये ही तो सम्भवतः यह कथन मिलता है— ‘जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।’ (मनु० २.११०)। संसार के सभी लोग अपने-अपने रास्ते से आगे बढ़ रहे हैं। हम अपने रास्ते से उन्हें आगे बढ़ाना चाहते हैं, यह सर्वथा ही गलत बात हो जाती है। जिज्ञासु को दिया हुआ ज्ञान ही उभयसुख देने वाला होता है। किसी

ज्ञान की यदि हमें आवश्यकता नहीं है तो फिर कितना भी हमारा प्रेमी हमें देना चाहे, हम नहीं लेंगे।

हाँ! इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया में यदि दूसरे की हिंसा नहीं हो रही हो, केवल अहङ्कार के कारण दूसरा व्यक्ति किसी सत्य को स्वीकार न कर पा रहा हो और ऐसे में चर्चा करने वाले का अहङ्कार आहत होकर वह भी उसी रोग का शिकार न हो, तो चर्चा की जा सकती है। क्योंकि अहङ्कार में कभी भी इतना सामर्थ्य नहीं आ सकता कि वह अनन्त धैर्य को धारण कर ले, अहङ्कारनिष्ठ धैर्य की सदा ही अपनी सीमा होती है और वह तो टूटेगी ही। अहङ्कार का यह रोग छूत के रोग की तरह होता है, तत्काल उसके अपने साथी को भी अपनी चपेट में ले लेता है। इस प्रकार चर्चा यदि दो अहङ्कारों के बीच चल पड़ी है तो उसका कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा, क्योंकि अहङ्कार का अर्थ है— ‘जय-पराजय’। इस विशाल संसार में अहङ्कार को एक ही बात से भय लगता है कि कहीं मैं पराजित न हो जाऊँ? वह सब कुछ कर सकता है पर किसी से दबना नहीं चाहता। दो व्यक्तियों के अहङ्कार जब इस तरह एक-दूसरे को दबाना चाह रहे हों वहाँ निष्कर्ष की तो क्या कल्पना की जा सकती है? अहङ्कारगत चर्चा में उभयसुख तो असम्भव ही है। वह जानता ही एकमात्र स्वसुख को है। आज के ताजा दृष्टान्त से अहङ्कार के स्वरूप को समझना चाहें तो यह भारत पाकिस्तान के बीच खेले जा रहे मैच की तरह है। यह खेल ऐसा है या तो अनिर्णीत रहेगा या फिर एक के घर में जश्न मनाया जायेगा और दूसरे के घर में शोक का मातम।

सार यह निकला— दो पक्षों के बीच चल रही चर्चा में यदि एक पक्ष में अहङ्कार सक्रिय है और दूसरा पक्ष प्रेम की स्थिति में है तो भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है और उभयसुख भी बना रह सकता है क्योंकि प्रेम न तो हराना जानता है न हारना, न तो किसी को दबाना चाहता है न दबना, न तो किसी को मारता है न मरता है, न तो किसी को डराता है न स्वयं डरता है, न किसी को उद्विग्न करता है न स्वयं उद्विग्न होता है। प्रेम की स्थिति में बड़ा-छोटा होता ही नहीं, प्रेम तो बस प्रेम है। चूँकि प्रेम इन सब उपर्युक्त विशेषताओं

से युक्त होता है अतः वहाँ न तो धैर्य का बाँध टूटने के लिये कोई अवकाश होता है और न ही 'कितना सहन करें' जैसी कोई समस्या बीच में आती है। 'प्रेम' एक ऐसी पूर्णता है जो सम्पूर्ण धरती के साम्राज्य से, अनुयायियों के जय-पराजय से, पुरस्कारों की बौछार पर बौछार से, सर्वत्र सफलता और विजय की उपलब्धि से न तो थोड़ी सी भी बढ़ती है और न ही पराजय से, विफलता से, किसी के अपमान व तिरस्कार से, किसी की अस्वीकृति से वह पूर्णता थोड़ी सी भी घटती है। प्रेम की पूर्णता को सागर से उपमित किया जा सकता है जो हर अवस्था में पूर्ण रहता है। एक तरफ सागर में सतत नदियाँ समा रही हैं तो उनसे वह बढ़ता नहीं तो दूसरी तरफ सूर्य से असीम जलराशि का अवशोषण हो रहा है उससे कुछ घटता नहीं। सो प्रेम है तो कभी भी, किसी से भी, कहीं भी चर्चा की जा सकती है, अन्यथा तो समस्या ही है।

किन्तु यह भी याद रखना चाहिये— अहङ्कार तो मनुष्य मात्र को सहज उपलब्ध है, मनुष्य अपने साथ ही इसे लेकर पैदा होता है, किन्तु प्रेम को तो ज्ञान-ध्यान-साधना-विचार आदि के द्वारा उपलब्ध करना होता है। यद्यपि प्रेम हमारी आत्मा का हमारी परा प्रकृति का स्वभाव है किन्तु जी तो हम अपरा प्रकृति में रहे हैं। परा प्रकृति है 'केन्द्र' और अपरा प्रकृति है 'परिधि'। अभी हम अपने मूल स्रोत से अलग हुई अवस्था में जी रहे हैं। प्रतिसंलीनता या प्रतिप्रसव के द्वारा हम वापस अपने केन्द्र में पहुँच सकते हैं। मन, अहङ्कार व बुद्धि रूप अन्तःकरण से परे हमारी एक शान्त अवस्था है जो पूर्ण चिन्मय है, उसी को सच्चिदानन्द इस नाम से कहा गया है, वह प्रेममय है, वहाँ अहङ्कार की दाल नहीं गलती। अहङ्कार अपने क्षेत्र का तो शेर है, राजा है, किन्तु वहाँ तो इसका अस्तित्व ही नहीं। मन को अहङ्कार में और अहङ्कार को बुद्धि में लीन करने पर जब उससे भी उदासीन हो जाते हैं तो बुद्धि अव्यक्त अवस्था में पहुँच जाती है, यह होते ही तत्काल हम आत्मा में स्थिर हो जाते हैं। वहाँ परमशान्ति है। विक्षोभ, जय-पराजय, आकर्षण-विकर्षण, बड़े-छोटे के भेद सब के सब समाप्त हैं। इसीलिये इस अवस्था को शास्त्र में 'अद्वैत' यह नाम दिया है। हम

प्रतिदिन कितनी ही बार अनजाने रूप से द्वैत और अद्वैत अवस्था में रहते हैं। यदि हम अद्वैत को सचेतन रूप से पहचान लेते हैं तो अहङ्कारमुक्त अवस्था, प्रेममय व आनन्दमय अवस्था का सच्चा स्वरूप हमारे सामने उद्घटित हो जाता है। जीवन धन्य हो जाता है, यह अहङ्कारमुक्त अवस्था विचार के क्षेत्र की वस्तु नहीं है, विचार के माध्यम से व्यक्ति उधर बढ़ सकता है किन्तु स्वयं यह अवस्था विचार से परे की है। हाँ! उस अहङ्कारमुक्त अवस्था के तेज को प्राप्त कर, वहाँ से वापस लौट कर उस तेज के साथ यदि व्यवहार, परस्पर चर्चा या विचार विमर्श अथवा कोई कार्य आदि किया जाये तो अवश्य ही यह हमारी प्रेममय अवस्था का एक व्यावहारिक उपयोग होगा।

☞ जिसके द्वारा यह संसार स्वर्ग हो जाये और अगला लोक भी स्वर्ग बने वही धर्म है।

☞ भगवान् का बालक बनकर रहना चाहिये, मजदूर नहीं। मजदूर जो कुछ करता है उसकी मजदूरी चाहता है या मांगता है। बालक को माता-पिता की ओर से जो कुछ मिलता है उसमें सन्तुष्ट रहता है।

☞ साधक का आज जो ज्ञान का स्तर है, काल क्रम में से गुजरते हुए उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिए। प्रायः सूचनात्मक ज्ञान तो बढ़ता रहता है किन्तु उसी अनुपात में अनुभवात्मक ज्ञान की वृद्धि नहीं होती।

☞ यह धरती हमारी माँ है— यह तेरी नहीं, मेरी नहीं, उसकी नहीं, बल्कि हम सबकी है, हम सबको इस पर रहना है— एक दूसरे की सहायता करते हुये, न कि एक दूसरे को नष्ट करते हुये। यह कोई भावुक बकवास नहीं है, यह तो एक ठोस सत्य है।

☞ साधक के लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने विचार को सुस्थिर और दृढ़ रखे। सदा अमृत की ही इच्छा करे। विष या विषयुक्त अमृत उसी समय मिलता है जब पहले उसकी इच्छा की जाती है।

३१. मृत्यु

जीवन के दो छोर समझे जाते हैं— जन्म और मृत्यु (जायते...विनश्यति)। जन्म (उत्पत्ति) के द्वारा जीवन अभिव्यक्त या प्रकट हो जाता है और मृत्यु के द्वारा अप्रकट। इसीलिये जीवन की व्याख्या कुछ लोग इस रूप में करते हैं— ‘जीवन दो अंधेरों के बीच जलता हुआ एक चिराग है’। प्रायः जन्म को सुखद समझा जाता है और मृत्यु को दुःखद। मृत्यु का प्रसङ्ग उपस्थित होते ही सभी प्राणी काँपने लगते हैं, भयभीत हो जाते हैं।

भारत संहिता के निर्माता कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) ने धृतराष्ट्र के मुख से सनतसुजात ऋषि के समक्ष एक समस्या रखी कि मृत्यु क्या है? सनतसुजात ने जो उत्तर दिया, वह मनुष्य की आँखें खोल देने वाला है। उन्होंने कहा— ‘प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि’। अर्थात् प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है। प्रमाद के सिवाय इस भूतल पर मृत्यु नाम की अन्य कोई भी चीज नहीं है (नास्ति मृत्युः)। इसी प्रकार की एक कथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आती है कि प्रजापति ने सब पदार्थों को उत्पन्न करके उन्हें मरणधर्म से संयुक्त कर दिया, किन्तु ब्रह्मचारी को अपने पास रख लिया। मृत्यु ने आग्रह किया कि कृपया इसमें भी मुझे भागीदार बना लीजिए। मृत्यु के आग्रह पर प्रजापति एक शर्त के साथ ब्रह्मचारी में भी उसको हिस्सा देने के लिये राजी हो गया। प्रजापति ने कहा कि ब्रह्मचारी जिस अहोरात्र में अग्निहोत्र न करे, तत्काल आप उसे पकड़ लें। अतः ब्रह्मचारी जिस अहोरात्र में समिधाधान से अमृत अग्नि की परिचर्या नहीं करता, मृत्यु उसे पकड़ लेता है। जीवात्मा ही वह वैश्वानर अतिथि है जो नरों में अतिथि रूप में बसा हुआ है। ब्रह्मचारी को मृत्यु से बचने के लिये प्रमादरहित होकर इस वैश्वानर अग्नि (आत्मा अग्नि) की परिचर्या करनी होती है, समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयताऽतिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन।। सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे।। तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्य।। (यजु० ३.१-३)

अपने सद्बिचार और सद्भावरूपी समिधाओं की इस अग्नि में आहुति

देनी होती है। आसक्तिपूर्वक प्रकृति (षडिन्द्रियों के विषयों) के साथ सम्बद्ध होने का नाम ही प्रमाद है और यह साधक को निश्चित ही आत्मग्नि से विमुख कर देता है। कर्मकाण्ड में भी भौतिक अग्निहोत्र करते समय प्राकृत भोगों (विषय सुखों) से विरत होना होता है। वहाँ भी यदि निष्ठापूर्वक शास्त्रोक्त विधि के अनुसार यह भौतिक अग्निहोत्र सम्पन्न किया जाता है तो वह भी यजमान को मृत्यु से छुड़ाकर अमरत्व को दिलाने वाला होता है।

प्राचीन ऋषि जब यह कहते हैं— ‘मृत्योर्माऽमृतं गमय’ ‘मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्’ (यजु० ३.६०) ‘परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्’ ‘मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत’ ‘अन्तर्मुत्युं दधतां पर्वतेन’ (ऋग्० १०.१८.१, २, ४) इस प्रकार के सभी प्रसङ्गों में मृत्यु व अमृत को एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पढ़ा गया है। ‘मृत्यु’ समस्त अशुभ, अमङ्गल, अशिव, दुःख, दर्द, पीड़ा, कष्ट आदि का उपलक्षण है। इसी प्रकार ‘अमृत’ शुभ, मङ्गल, शिव, आनन्द, शान्ति, दिव्यता आदि का उपलक्षण है। एक जीवन के लिये अभिलषित है, इष्ट है, वाञ्छित है और उपादेय है तो दूसरा है अनभिलषित, अनिष्ट, अवाञ्छित और हेय। सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य की यह मृत्यु से अमृत की प्राप्ति रूप आन्तरिक अभीप्सा सहज रूप से बहती हुई चली आ रही है। मनुष्य इस सत्य को कितना ही अनदेखा करे, कितना ही इस सत्य से पलायन (Escape) करे, कितना ही मुँह मोड़े तो भी अपनी इस अन्तरतम की माँग को हटा नहीं सकता। यह उसकी अन्तिम आवश्यकता है। यह सत्य उसके मज्जा-गत हुआ-हुआ है, इसे वह साथ लेकर जन्मा है। मनुष्य के लिये इस तथ्य से बचकर निकल भागना असम्भव है।

एक अन्य दृष्टि से भी इस विषय पर विचार किया जा सकता है। **भूतकाल के प्रति मर जाने का नाम है ‘मृत्यु’**। मृत्यु पुराने को नया बना देने वाली एक शक्तिविशेष है। आज जो बीज के रूप में है, भूमि में पहुँचते ही उसमें अङ्कुर फूट पड़ता है। बीज यदि न मरे तो अग्रिम जीवन की शुरुआत कैसे हो सकती है? अङ्कुर से पौधा, पौधे से वृक्ष के विकास की प्रक्रिया में उत्तररूप के जन्म के लिये पूर्वरूप को मरना ही होता है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य

सूक्त में आचार्य के पाँचरूपों का वर्णन आता है, उनमें से एक रूप मृत्यु भी है जिसको कि सर्वप्रथम स्थान पर रखा है। ‘आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः’ अर्थात् आचार्य मृत्यु है, वरुण है, सोम है, ओषधि है, गोदुग्ध है। यहाँ मन्त्र में आचार्य को ‘मृत्यु’ कहने का तात्पर्य यही है कि आचार्य मृत्यु बनकर बालक के पशुरूप को, अबोध रूप को, अज्ञानी रूप को, उच्छृङ्खल रूप को मार कर मनुष्य, ऋषि व देवरूप में बदल देता है। बालक के अशुभ-संस्कारों का नाश करना बहुत ही आवश्यक होता है, शुभ-संस्कारों के आधान के लिये। कठोपनिषद् में योग की परिभाषा देते हुये भी आचार्य की तरह ही योग को भी शुभ-संस्कारों का उत्पादक और अशुभ-संस्कारों का नाशक कहा है (योगो हि प्रभवाम्ययौ)।

एक ज्ञानी पुरुष का कहना है— उम्र बढ़ते-बढ़ते वृद्धावस्था में व्यक्ति को होना तो हल्का चाहिये, किन्तु अज्ञान के कारण वह अपने को इतना बोझिल बना लेता है— शरीर से ही नहीं बल्कि मन से भी अत्यन्त कुरूप, शिकायतों का ढेर, उत्साहहीन, बेबस, दुःखी, परेशान, पराधीन, विषाद और तनाव से ग्रस्त। एक बूढ़ा व्यक्ति ऐसी दुरवस्था में पहुँच जाता है कि प्रकृति की ओर से मृत्यु की यह अद्भुत व्यवस्था न होती तो इस नरक से कैसे मुक्ति मिलती? मृत्यु एक झटके में सब कुछ को मिटाकर उसे फिर एक सुनहरा अवसर दे देती है। वह वृद्ध से बालक बनकर फिर उसी उत्साह, उमंग व तरंग से जीना आरम्भ कर देता है। बालक के जीवन में अभी-अभी ऊपर बताए गये वृद्ध के जीवन से सर्वथा विपरीत लक्षण देखने को मिलते हैं— एकदम निर्भर, सीखने की अदम्य चाह, सदा प्रसन्न, सरल, ऊर्जा, सौन्दर्य व प्रेम से भरा हुआ। जो वृद्ध अपने सम्पूर्ण जीवन के नीरस भूतकाल को मजबूर होकर ढो रहा था, वही अब बालक बनकर ‘वर्तमान में जीना कितना सौभाग्यप्रद व हर्षप्रद होता है’, अपने इस दिव्य संदेश को मानो सहज रूप में सब में बाँट रहा होता है। यह है मृत्यु का चमत्कार।

मनुष्य यदि ध्यान से सृष्टि का अवलोकन करे तो मृत्यु में कष्ट, बाधा, पीड़ा, दुःख जैसा कुछ है ही नहीं, बस शर्त यह है कि वह स्वाभाविक हो, जीवन

का सहज परिणाम हो। एक वृक्ष के पत्ते हरी-भरी अवस्था से धीरे-धीरे पीले होकर कितने आराम से वृक्ष से अलग हो जाते हैं। मयूर आदि पक्षियों के पुराने पंख जब झड़ते हैं तो यह प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक होती है कि उन्हें पता भी नहीं चलता। हम दूर क्यों जाएँ हमारे शरीरों में लाखों कोशिकाएँ (Cells) रोज मर जाती हैं, उससे हमको तनिक सी भी बाधा महसूस नहीं होती। जो कुछ भी हम से अलग होता है यदि उसकी सहज स्वीकार्यता हो जाती है तो वह कभी भी हमारे लिये कष्टदायक नहीं होता। मृत्यु एक अर्थ में जो हमारे पास था, उसका अलग होना ही तो है। यदि हम इस सत्य को समझकर स्वीकार कर लेते हैं तो यहाँ आनन्द के सिवाय कुछ भी हमें दिखाई ही नहीं देगा (आनन्दाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति) सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय (मृत्यु) के मूल में आनन्द का वास है। आनन्द के सहारे ही यह अनादि-अनन्त सृष्टि चक्र वितत है, सतत प्रवृत्त है।

एक महान् ज्ञानी पुरुष का कहना है कि जो जीवन भूतकाल के प्रति हर क्षण मरना जानता है वही श्रेष्ठतम जीवन है। जैसे कोई गरुड़ आकाश में उड़ता हुआ अपने पीछे कोई संस्कार, कोई हल्की सी भी रेखा नहीं छोड़ता, उधर धरती पर चलने वाला प्राणी सदैव अपना चिह्न छोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, ज्ञानी का जीवन गरुड़ की तरह होता है, न कि धरती पर चलने वाले प्राणियों की भाँति। वेद में मनुष्य को जो यह आदेश दिया गया है कि ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः’ उसका ठीक-ठीक भाव यही हो सकता है कि जीवन ऐसा हो जो कि भूतकाल के संस्कारों के बोझ से लदा हुआ न हो, त्यागमय हो और इस प्रकार सर्वथा निर्भर हो। संग्रह के साथ जो जीवन होता है वह संस्कारों के बोझ से बोझिल हो जाता है। जीवन में कर्म तो हों पर उनके संस्कार न बनें, बिना ज्ञान की भित्ति पर खड़े हुए यह कैसे हो सकता है? ‘प्रतिक्षण भूतकाल के प्रति मरते रहना’ इन शब्दों के द्वारा जीवन की इस उपर्युक्त विशिष्ट कला से युक्त होकर कर्म करने की बात कही गई है। कल्पना की जा सकती है कि ऐसा जीवन कितना हल्का, सहज, सरल, प्रेममय, शान्तिमय, संगीतमय व सर्वथा मुक्त जीवन होगा।

३२. जीवन के चार सोपान

जो मनुष्य अपने जीवन को ऊँचाई की तरफ ले जाना चाहता है उसका **प्रथम सोपान** है 'शुद्धि'। शुद्धि अर्थात् स्वच्छता-पवित्रता। यह शुद्धि बाहर की भी होती है और भीतर की भी। व्यक्ति जहाँ रहता है उस परिवेश की शुद्धि जैसे कि आवासस्थान, पाकशाला, शौचालय, शरीर, दाँत, उदर आदि। अग्निहोत्र के द्वारा पर्यावरण की शुद्धि का उपक्रम किया गया है। अग्निहोत्र वृष्टि और वायु को शुद्ध करने का एक सशक्त साधन है। प्रकृति माता वृक्षों के द्वारा सतत इस शुद्धि के कार्य में सहभागी बनी हुई है। प्रकृति माँ ने सूर्य के रूप में शुद्धि का एक महान् स्रोत हमें दिया है। वायुमण्डल में जो धूल-धूँ और गैसों के रूप में अशुद्धि फैल जाती है, मेघ उसे वर्षा के द्वारा धो डालते हैं। शुद्धि की यह सारी व्यवस्था न होती तो यहाँ पृथिवी पर जीवन ही दूभर हो जाता। मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय में शुद्धि करने वाले कौन-कौन से पदार्थ हैं तथा कौन किससे शुद्ध होता है, इसे भी गणना करके दर्शाया है। वहाँ कहा है—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम्॥ मनु० ५.१०५॥

अर्थात् 'ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन (विचार), जल, लेप करना, वायु, कर्म, सूर्य और काल' ये प्राणियों की शुद्धि करने वाले पदार्थ हैं। इनमें से 'ज्ञान, तप, मन और कर्म' ये चार पदार्थ ऐसे हैं जिनसे आन्तरिक शुद्धि होती है, बाकी जो बच गये वे बाह्य शरीरादि की शुद्धि में निमित्त होते हैं। तप और काल को उभयशुद्धि में गिना जा सकता है।

भीतर की अशुद्धि राग-द्वेष के कारण होती है। उससे मुक्त होने के लिये व्यक्ति को सबसे पहला काम तो यही करना होता है कि वह अपनी ही ज्ञान की आँखों से अपने को ठीक-ठीक देख पाये कि मुझ में यह अशुद्धि है। यदि इतना काम हो जाता है तो आगे की यात्रा सरल हो जाती है। मनुष्य एक ऐसा

ज्ञानवान् प्राणी है कि यदि ठीक से वह अपनी अशुद्धि को निरन्तर देख सके तो वह उस स्थिति में जी नहीं सकता, अशुद्धि को दूर करने का कोई न कोई उपाय जैसे कि विचार, स्वाध्याय, प्रार्थना, ईश्वर-प्रणिधान (भक्ति), सजगता, सतत जागरूकता, अशुद्धि का दोष दर्शन और दुःख दर्शन, द्रष्टा-दृश्य विवेक, ब्रह्मयज्ञ, ध्यान इत्यादि के रूप में खोज ही लेता है। मनुस्मृति में अर्थशुचिता पर भी विशेष ध्यान दिलाया गया है। वहाँ कहा है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ मनु० ५.१०६॥

अर्थात् जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता है। जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है। जल व मृत्तिका आदि से जो पवित्रता होती है वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं हो सकती। आयुर्वेद के आचार्यों ने भी एक निष्कर्ष दिया कि जो 'ऋतभुक्' (सत्य कमाई का ही भोग करने वाला) होता है वह रोगी नहीं होता।

मनु ने यह भी बताया है कि धर्माचरण से विविध चरित्र दोषों की शुद्धि कैसे होती है—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।

प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥ मनु० ५.१०७॥

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्संग और विद्यादि शुभगुणों के दान से या जो उनके पास है उसके दान (श्रमदान, धनदान, द्रव्यदान, वस्त्रदान, जलदान, भूमिदान, भोजनदान, सहानुभूतिदान इत्यादि) से, गुप्त पाप करने वाले विचार से उस पाप का त्याग करके और वेदवित् उत्तम विद्वान् तप से (ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से) शुद्ध होते हैं। आगे शरीर, मन, आत्मा व बुद्धि की शुद्धि का उपाय बताया—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ मनु० ५.१०८॥

जल से स्वेदादियुक्त शरीर के बाहर के अवयव, निषिद्धचिन्तादि से दूषित हुआ संकल्प-विकल्प रूप मन सत्याचरण से अर्थात् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध हो जाता है, विद्या (ब्रह्मविद्या) और पापक्षय के हेतुभूत तप से जीवात्मा शुद्ध होता है, शुद्ध परमात्मस्वरूप से अवस्थित रहता है और विपर्ययज्ञान युक्त बुद्धि यथार्थ ज्ञान से शुद्ध होती है।

प्रश्न— श्लोक के दूसरे चरण में विद्या और तप के द्वारा जीवात्मा की शुद्धि की बात कही गई और ज्ञान के द्वारा बुद्धि की शुद्धि की; इसका क्या अभिप्राय है कृपया इसे स्पष्टता से समझाएँ?

उत्तर— बुद्धि की अशुद्धि क्या है? बुद्धि के दो काम हैं, अपने आत्मस्वरूप (subject) का ठीक-ठीक निश्चय करना और वस्तु या किसी भी विषय (object) का ठीक-ठीक निश्चय कराना, जो बुद्धि इन दो कामों को ठीक से नहीं कर पा रही है यही बुद्धि की अशुद्धि है, बुद्धि की यह अशुद्धि ज्ञान (सम्यक् दर्शन) से ही दूर होती है। अयथार्थ देखना (अतस्मिन् सः) बुद्धि की अशुद्धि है और यथार्थ देखना (तस्मिन् सः) बुद्धि की शुद्धि है। 'जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही देखना' बुद्धि में यह सामर्थ्य शनैः शनैः कई उपायों से विकसित होता है— शास्त्र के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा, ज्ञानवान् लोगों के साथ चर्चा के द्वारा, स्वयं के विचार-मन्थन या आत्म-मन्थन के द्वारा, सत्य-दृष्टि प्राप्त करने के लिये अपनी आन्तरिक माँग (अभीप्सा) के द्वारा, प्रार्थना के द्वारा, अपनी या दूसरों की भूलों के द्वारा, मन व इन्द्रियों की एकाग्रता (तप) इत्यादि के द्वारा। इन सभी उपायों से जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है 'जिस किसी विषय में व्यक्ति को पूर्ण निश्चय हो जाता है कि यह ऐसा ही है' तो इस सम्यक् दर्शन को ही श्लोक में 'विद्या' शब्द से कहा गया है। जिसका संकेत अन्यत्र 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इन शब्दों के द्वारा हुआ है। विद्या और तप के सम्मिलित साधन से जीवात्मा शुद्ध हो जाता है। अर्थापत्ति से यह निकला कि अविद्या (अयथार्थ दर्शन) व अतपस्या से जीवात्मा की अशुद्धि बढ़ती जाती है। अशुद्ध ज्ञान ही जीवात्मा की अशुद्धि का परम हेतु है। अशुद्ध ज्ञान से अशुद्ध इच्छाएँ,

अशुद्ध कर्म और अशुद्ध संस्कार; इस प्रकार अशुद्धि का यह अन्तहीन सिलसिला चालू हो जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि साधक को षडिन्द्रियों (मन व ज्ञानेन्द्रियों) के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले आहार को शुद्ध करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण का सत्त्वगुणप्रधान होना ही अन्तःकरण की शुद्धि है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर साधक की आत्मस्मृति या भूमा रूप की स्मृति निश्चल (ध्रुव) हो जाती है। भूमा रूप की स्मृति या आत्मस्मृति के निश्चल होते ही हृदय की गाँठें (अनन्त जन्मों की विविध वासनाएँ) जिनके कारण व्यक्ति में विविध कामनाओं का जन्म होता है वे सब छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। व्यक्ति समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है (आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ छान्दो० ७.२६.२) सो अन्तःशुद्धि की इस प्रक्रिया में से इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, भाव-भावनाएँ, जीवात्मा इत्यादि सभी को गुजरना पड़ता है।

शुद्धि के इस प्रथम सोपान पर आरोहण करने पर द्वितीय सोपान आता है 'मुक्ति' का। जैसा कि ऊपर कहा गया कि ज्ञान के शुद्ध होते ही वह व्यक्ति को समस्त बन्धनों (अहंकार, भूतकाल की शुभ-अशुभ स्मृतियों, वर्तमान के आवेग, भविष्य की कल्पनाओं) से मुक्त कर देता है 'ज्ञानामुक्तिः' (सांख्य ३.२३)।

तृतीय सोपान है 'आनन्द'। मुक्त व्यक्ति में आनन्द का सहज प्रस्फुटन हो जाता है। अज्ञान के कारण व्यक्ति को अहङ्कार (अस्मिताक्लेश) घेरे रहता है। अहङ्कार के साथ ही राग-द्वेष-भय आदि दूसरे क्लेश भी अपने आप चले आते हैं। अहङ्कार के आते ही स्वतः ही अनेकानेक कामनाएँ पैदा हो जाती हैं। वे कामनाएँ कुछ पूर्ण होती हैं, कुछ नहीं होती हैं। कामनाओं के पूर्ण होने पर लोभ (और-और की माँग) और अपूर्ण होने पर कभी क्रोध, कभी खिन्नता, कभी तनाव, कभी विषाद, दूसरों के साथ स्पर्धा व ईर्ष्या इन सभी का सहजप्रवाह

चालू हो जाता है। व्यक्ति को बेबश होकर दुःख के इस कुचक्र में से गुजरना पड़ता है। मुक्त व्यक्ति को इस कुचक्र का कभी भी सामना नहीं करना पड़ता।

चतुर्थ सोपान है— ‘पूर्णता’। पूर्णता को प्राप्त हुआ ज्ञानी व्यक्ति इस सृष्टि में मनुष्य के रूप में साक्षात् भगवान् की तरह पूर्ण होकर जीता है। जीवन की यह चरम उपलब्धि है। अब वह दूसरों की पूर्णता के लिये अपने आपको समर्पित कर देता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि दूसरा उसके लिये कोई बचता ही नहीं। उसकी दृष्टि अपरिच्छिन्न हो जाती है वह सर्वभूतात्मभाव के रूप में सब प्राणियों को देखने लगता है। भेददृष्टि का अन्त हो जाता है, एकत्व उसका स्वभाव हो जाता है। यजुर्वेद चालीसवें अध्याय के छठे-सातवें मन्त्र में इसी स्थिति का वर्णन हुआ है।

• ज्ञान, गुण, व्यवहार और प्रसन्नता की दिव्य शृङ्खला

एक प्रज्ञावान् पुरुष ने कितना सुन्दर कहा कि मनुष्य की पहचान ज्ञान से होती है। ज्ञान को देखकर मनुष्य का पता चल जाता है। और ज्ञान की पहचान किसके द्वारा होती है? वह होती है गुणों से। गुण हैं तो अवश्य ही उनके मूल में ज्ञान होता है। किसी के जीवन में गुणों का प्रवेश या गुणों का प्राकट्य ज्ञान के द्वारा ही होता है, ज्ञान के बिना गुण नहीं आ सकते। इस प्रकार गुणों को देखकर ज्ञान का अनुमान हो जाता है। इस शृङ्खला में आगे खोज की जाये कि गुणों की पहचान का साधन क्या है? तो इसका उत्तर होगा— गुणों की पहचान होती है व्यक्ति के आचरण या व्यवहार से। जीवन में जब गुण धारित हो जाते हैं तो वे व्यक्ति के आचरण या व्यवहार में परिलक्षित होने लगते हैं। व्यक्ति के अच्छे-बुरे आचरण या व्यवहार को देखकर उसके गुणवान् या गुणहीन होने का अनुमान होता है। अब अन्तिम बात ज्ञातव्य है कि व्यक्ति के अच्छे आचरण की पहचान का साधन क्या है? अच्छे आचरण की पहचान होती है उसकी प्रसन्नता से। उसके निकटवर्ती लोग उससे कितना प्रसन्न रहते हैं। यदि निकटवर्ती प्रसन्न रहते हैं तो निश्चित ही वह व्यक्ति आचरणवान् होता है।

३३. स्वतन्त्रता व आवश्यक परतन्त्रता

यदि मनुष्य अपने लिये इस बात का ठीक से आकलन कर सके कि किस सीमा तक तो वह स्वतन्त्र है और कहाँ तक परतन्त्र तो यह यथार्थ दर्शन उसके लिये शान्तिपूर्वक बाधारहित जीवन जीने के लिये एक महान् सम्बल बन सकता है। क्योंकि जीवन के विविध प्रसङ्गों में प्रतिदिन ही उसे यह अनुभव होता रहता है कि स्वतन्त्रता (स्वाधीनता) परम सुख है और परतन्त्रता (पराधीनता) परम दुःख। मनुष्य ही क्या मनुष्येतर प्राणी भी दुःख की थोड़ी सी मात्रा भी पसन्द नहीं करते। जीव मात्र की ही बाधारहित सुख की माँग है। पर अन्य प्राणियों को तो प्रकृति की ओर से यह ऊहापोह करने की सुविधा ही प्राप्त नहीं है किन्तु मनुष्य तो बहुत ही विचारशील प्राणी है, अतः उसके सुख के बीच में कौन-कौन सी बाधाएँ आ सकती हैं या आती रहती हैं, उन सब बाधाओं का वह ठीक से अपने लिये विवेचन कर सकता है। विवेचन करने पर यदि यह निष्कर्ष निकल आता है कि ‘ये बाधाएँ तो हटाई जा सकती हैं और ये तो कभी भी हटाई ही नहीं जा सकती’ तो वह उन्हें स्वीकार करके शान्ति से जी सकता है।

समस्याओं के समाधान प्रसङ्ग में विचारशील लोगों के द्वारा यह भी एक समाधान दिया जाता है कि शान्तिपूर्वक जीवन जीने के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने सम्पूर्ण विवेकबल का प्रयोग कर समाधेय और असमाधेय के रूप में समस्याओं के दो विभाग करके असमाधेय समस्याओं को सहअस्तित्व के सत्य या परस्परता में पूरकता के रूप में प्रसन्नता पूर्वक चुपचाप स्वीकार कर ले। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है— जब व्यक्ति किसी सत्य को अन्तिम निर्णय के रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह तत्काल सुखी हो जाता है। अतः व्यक्ति को यदि सुख के बीच में आने वाली असमाधेय बाधाओं का पता चल जाये तो वह उन्हें सहर्ष स्वीकार कर के सुखी हो सकता है। अतः बाधारहित सुखमय जीवन जीने के लिये बाधाओं का ठीक से आकलन करना परम आवश्यक है।

अब हम यह विचार करना चाहेंगे कि सामान्यतः वे कौन-कौन सी बाधाएँ हैं जो हमारे सुख को विघ्नित करती हैं या कर सकती हैं? वे बाधाएँ हैं— देशकृत, कालकृत, अर्थकृत, पदार्थकृत, अज्ञानकृत, पूर्वसंस्कारकृत, इच्छाकृत, दुरभ्यासकृत, शरीरकृत, पुरुषार्थकृत, सामर्थ्यकृत, व्यक्तिकृत, परिवारकृत, समाजकृत, सरकारकृत, कानूनकृत, पर्यावरणकृत इत्यादि।

बाधाओं की इस लम्बी सूची में कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें हटाया जा सकता है उन्हें हटाने में व्यक्ति स्वाधीन होता है, दूसरे किसी का भी हस्तक्षेप नहीं होता, किन्तु कुछ ऐसी भी बाधाएँ या निर्भरताएँ हैं जिन्हें स्वीकार ही करना होता है, व्यक्ति उन्हें हटाना चाहे तो भी हटा नहीं सकता। यह भी है— जिन नियमों को, जिस व्यवस्था को व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार कर लेता है, जैसे कि संस्थागत या सामाजिक ऐसी कोई व्यवस्था; परिवार, संस्था, समाज व देश के ऐसे कुछ नियम या कानून जो सार्वजनिक हित को लक्ष्य करके बनाये गये हों, ऐसी पराधीनताओं को व्यक्ति पराधीनता के रूप में गणना नहीं करता, क्योंकि व्यक्ति उसमें अपना लाभ, अपना हित या अपना सुख देखता है। यह नियम है कि जहाँ कहीं भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार का अपना हित दिखाई देने लगता है, तो वहाँ बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता भी उसे सहज स्वीकार्य हो जाती है। वहाँ उसे पराधीनता या बाधा जैसा कुछ भी लगता ही नहीं है। अतः व्यक्ति को जो पराधीनताएँ जिस सीमा तक उसके वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक या वैश्विक सन्तुलन, हित, लाभ, सुख या विकास का साधन प्रतीत होती हैं वह उन्हें सहर्ष स्वीकार कर ही लेता है।

साधक प्रकृति का व्यक्ति प्रायः सोचता है कि अमुक देश (नदी के किनारे, एकान्त जंगल, पहाड़, वन-उपवन) में मेरी साधना अच्छी होगी, अमुक-अमुक साधन-सुविधाएँ, अमुक काल (ऋतुविशेष), विशिष्ट व्यक्तियों, परिवार या समाज का सहयोग मिले तो ही मैं अपने मार्ग में आगे बढ़ सकता हूँ। यह सच है कि कुछ काम ऐसे होते हैं जिनमें बाह्य परिस्थितियाँ, बाह्य साधन, जन-सहयोग व जन-समर्थन की अत्यन्त आवश्यकता रहती है, उस

सब के बिना वह-वह इच्छित कार्य कभी भी सिद्ध नहीं होता, किन्तु बाधारहित सुखमय जीवन जीने के लिये व्यक्ति को सर्वप्रथम अपने ही द्वारा पैदा की गई पराधीनताओं से मुक्त होना होता है। अपने अज्ञान, अपनी इच्छाओं, अपने पूर्वकृतकर्मों के संस्कार, अपने आलस्य-प्रमाद, पुरुषार्थ की न्यूनता, अपने दुरभ्यासों को बदलने में व्यक्ति पूर्णतः स्वाधीन है।

किसी को किसी परिस्थितिवश प्रातः ४ बजे से रात १० बजे तक प्रार्थना या ध्यान का समय नहीं मिलता, वह इसी बात से दुःखी होता रहे कि मुझे प्रार्थना का भी समय नहीं मिलता तो उसकी इस पराधीनता को कैसे मिटाया जा सकता है? अन्यथा कितने ही उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं जिन्होंने सर्वथा विषम परिस्थिति में सोने के समय में से कुछ समय प्रार्थना के लिये निकाला या अपने कार्य को ही एक प्रार्थना के भाव में करते हुए अपनी समस्या का समाधान खोज लिया। जैसे सूफी सन्त रबिया ने दिन में काम और रात में प्रार्थना करते हुए अपनी अभीप्सा को पूर्ण किया, सन्त लारेन्स ने मठ में भोजन बनाते हुए, बर्तन माँजते हुए अपने अन्दर एक विशेष भाव को पैदा किया और उसी के सहारे आगे बढ़ गये।

आज के युग में स्टीफन हॉकिन्स ने जो कि एक महान् वैज्ञानिक हैं, शरीर से सर्वथा असहाय निर्बल रुग्ण होते हुए भी वह अद्भुत कार्य कर दिखाया जो युग-युगों तक प्रकाश-स्तम्भ का काम करता रहेगा। उन्होंने अपनी उस शारीरिक पराधीनता को ही अपने दृढ़ संकल्प बल से स्वाधीनता में बदल दिया। हेलन केलर का तो एक इससे भी सतेज उदाहरण सबके सामने है कि आँख-कान और मूकता उनके मार्ग में किञ्चित् भी बाधक नहीं बनी। बहरी, गूँगी और अन्धी बच्ची ने यह सिद्ध कर दिखाया कि किसी भी साधन का अभाव हमारी आन्तरिक प्यास को रोक नहीं सकता। लेखक ने भी 'जगदीश' नाम के मात्र १८-२० किलो वजन वाले एक जैन साधक को अपनी आँखों से देखा जो बाल्यकाल से ही दोनों पैरों से पोलियो ग्रस्त थे, अपने प्रचण्ड संकल्पबल से B.Com करके संस्कृत भाषा का एक विशिष्ट

विद्वान् बनकर सैकड़ों कन्याओं को पढ़ाकर साधना के मार्ग पर उन को आगे बढ़ाया, सैकड़ों जैन मुनियों को पढ़ाया। शारीरिक असमर्थता का यह एक प्रचण्ड उदाहरण है किन्तु इससे उनके सामाजिक सेवा कार्य में व आध्यात्मिक उन्नति में कोई बाधा नहीं आई।

पतञ्जलि योगपीठ के अध्यक्ष श्री स्वामी रामदेव जी ने जिनके पास साधनों के नाम पर एक रुपया भी नहीं था, एक महान् आध्यात्मिक साम्राज्य को खड़ा कर दिया, जिनका बहु आयामी व्यक्तित्व प्रतिपल कुछ सन्देश देता रहता है। जिन्होंने एक राजसत्ता के सामने बड़ी मजबूती से अपने पैर जमाकर यह सिद्ध कर दिखाया कि— ‘क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे’। महान् पुरुषों की सफलता सत्त्व में, सत्य, सात्विकपूर्ण पुरुषार्थ एवं उत्साह में निहित होती है न कि उपकरणों में।

जैसा कि पहले कहा अपने अज्ञान व अपनी इच्छा के कारण असमर्थता, अपने दुरभ्यासों से पैदा हुई असमर्थता, संस्कारजन्य असमर्थता, प्रारब्ध की असमर्थता— ये सब असमर्थताएँ व्यक्ति के स्वयं के साथ जुड़ी हुई हैं क्योंकि स्वयं व्यक्ति ने ही इन असमर्थताओं को पैदा किया है— अतः वह चाहे तो अब स्वयं ही इन्हें हटा भी सकता है। किन्तु यहाँ यह अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि हमारे स्वभाव के प्रतिकूल जिस किसी दूसरे व्यक्ति के साथ, प्रतिकूल स्वभाव वाले पारिवारिक जनों के साथ, प्रतिकूल समाज के साथ, प्रतिकूल पर्यावरण के साथ या सरकार के किसी अर्थहीन या सारहीन, अज्ञान व अन्यायपूर्ण कानून आदि के साथ हम जीना तो नहीं चाहते पर जीना पड़ता है और उसे प्रयास करने के बावजूद यदि बदल भी नहीं सकते तो जैसा भी है (As it is) उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। स्वीकारभाव आते ही बाध्यता समाप्त हो जाती है। दूसरों से व्यक्ति की जो अपेक्षाएँ होती हैं उनके पूर्ण न होने से जो बाधा या कष्ट होता है, उसे स्वीकार करते ही व्यक्ति की वह बाधा समाप्त हो जाती है। तत्काल व्यक्ति का मन बोझरहित या हल्का हो जाता है।

हाँ! वह तो पराधीनता ही नहीं है जिस में सामूहिक रूप से सबका भला छिपा रहता है। क्योंकि सभी यदि अपने मनमौजी ढंग से उच्छृंखलता या

उद्दण्डतापूर्वक जीने लगे तो एक भी व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं जी सकेगा। सभी सब के लिए बाधक बन जायेंगे। जैसे ट्रैफिक रूल्स बने हुए होते हैं वे नियम फायर ब्रिगेड या एम्बूलेन्स आदि कुछ अपवादों को छोड़कर सभी को पालन करने होते हैं। आपाततः तो स्वतन्त्रताप्रिय व्यक्ति को यही दिखाई देता है कि नियमों में चलना व्यक्ति के लिये कितना पराधीनता कारक है, क्योंकि नियम मात्र ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक हैं किन्तु यह विचार करने की बात है कि यदि सड़क पर चलने के ये नियम निर्धारित न होते तो यात्रियों को कितनी असुविधा होती, कितनी दुर्घटनाएँ (Accident) होती, सभी का कष्ट कितना बढ़ जाता। अतः सार्वजनिक सर्वहितकारी नियमों में चलना यद्यपि है तो ‘परतन्त्रता’ क्योंकि वहाँ व्यक्ति की स्वच्छन्दता पर रोक लग जाती है। परिवार, समाज, कानून (पुलिस विभाग), राज्य (State) के विविध नियम— ये सब उसकी स्वाधीनता को बाधित करते हैं, फिर भी जैसा कि पहले ही कहा गया कि विचारशील व्यक्ति के लिये इस प्रकार के सर्वहितकारी नियमों की बाध्यता ‘बाध्यता’ नहीं होती, क्योंकि उसमें ही वह अपना हित, लाभ या सुख देख रहा होता है।

हमने स्वतन्त्रता-परतन्त्रता के इस गम्भीर व अत्यन्त चर्चित मुद्दे पर कुछ चर्चा की। इस विषय को ठीक से समझे बिना कोई भी साधक, कोई भी विचारशील व्यक्ति बाधरहित सुखमय जीवन नहीं जी सकता।

• एक वृद्ध अनुभवी व्यक्ति ने बताया कि किसी उपलब्धि या सफलता का श्रेय लेने के लिये और किसी हानि या पराजय का दोष देने के लिये हमारे समक्ष पाँच प्रमुख सत्ताएँ होती हैं— ‘I, We, You, He, She’ प्रायः व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि उपलब्धि या सफलता का श्रेय सबसे पहले तो ‘I’ को देता है, थोड़ा और आगे बढ़ता है तो ‘We’ को दे देता है। ‘You’, ‘He’ और ‘She’ का तो उसके यहाँ कोई स्थान ही नहीं होता। दूसरी तरफ जब कभी पराजय या हानि का मुख देखना पड़ता है तो तत्काल ‘You, He या She’ पर पहुँच जाता है, ‘I या We’ गायब हो जाते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है ‘He, She’ कोई व्यक्ति भी हो सकते हैं किन्तु विशेष रूप से यहाँ He परम प्रभु का

संकेतक है तथा She प्रकृति माता का। साधक को चाहिए कि वह उपलब्धि या सफलता का श्रेय You, He व She को दे तथा किसी पराजय, किसी असफलता या किसी हानि का श्रेय 'I' को दे अर्थात् अपने प्रमाद व अपने अज्ञान को दे। ऐसा करने से साधक सफलता से उत्पन्न होने वाले अभिमान से बचा रहेगा तथा पराजय या असफलता का उत्तरदायी स्वयं को समझने से दुःखी नहीं होगा, व्यक्ति प्रायः तब ज्यादा दुःखी होता है जब उसे यह महसूस होने लगता है कि इसके या उसके कारण तुझे यह दुःख झेलना पड़ रहा है। दोष को या असफलता को जब अपने ऊपर ले लेता है तो कहाँ पर भूल हुई है उसे ढूँढ़कर उसे दूर करने का भरसक प्रयास करता है।

☞ सरस्वती और शक्ति भोग के साथ नहीं रहती।

☞ अतीत में जहाँ-जहाँ व्यर्थ वार्ताओं और व्यर्थ चेष्टाओं में अपनी अमूल्य ऊर्जा का अपव्यय किया; जिन-जिन परिस्थितियों में आसक्ति, भय, पश्चात्ताप व अज्ञान को बढ़ाया उनसे सावधान रहते हुए उस अशुभ से सदा-सदा के लिये मुक्त रहना चाहिये।

☞ हमारी शान्ति या अशान्ति में हम ही कारण हैं। बाह्य घटनाओं, परिस्थितियों, व्यक्तियों की प्रतिकूलता में भी हम शान्त रह सकते हैं। साधक को कैसे भी यह दृष्टि धारण करनी ही पड़ेगी कि सब संसार मेरे आध्यात्मिक विकास में सहयोगी बना हुआ है।

☞ 'बाहर जय-जयकार और अन्दर धिक्कार' यह भी कोई जीवन है।

☞ जड़ से कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती, सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति एक क्षण के लिए भी जड़ से प्रभावित नहीं हो सकता।

☞ किसी ने किसी के साथ उसके मनोअनुकूल व्यवहार नहीं किया। अब यदि वह साधक व्यक्ति है तो उसे वहीं छोड़ देगा और यदि साधक नहीं है, तो शिकायत बन जायेगी और उसे अग्नि की तरह जलाती रहेगी।

४०४०७७७

३४. घटना एक दर्शन अनेक

हम यह विचार करना चाहते हैं कि हमारे सामने कोई एक वस्तु, कोई एक विषय (Object) या कोई एक घटना (Phenomenon) है और उसे देखने वाले कई व्यक्ति हैं, अब उस घटना के विषय में उन सब व्यक्तियों का एक ही ज्ञान होगा या अलग-अलग?

एक ही स्थान से, एक ही कोण (Angle) से यदि किसी घटना को देखा जा रहा है तो चाहे कितने भी देखने वाले हों, सबका एक ही ज्ञान होगा। किन्तु यदि देखने वालों का स्थान अलग-अलग है, देखने का कोण अलग है तो जितने भी देखने वाले होंगे उन सबका ज्ञान स्वाभाविकरूप से अलग-अलग ही होगा। यदि यह पूछा जाये कि इन दोनों प्रक्रियाओं में यथार्थ दृष्टि कौन सी है? किसी घटना को एक ही स्थान से, एक ही कोण से देखना चाहिए या अलग-अलग स्थान व कोणों से भी देखा जा सकता है? दोनों भी ठीक हैं— एक स्थान और एक कोण से भी देख सकते हैं और अलग-अलग स्थानों तथा अलग-अलग कोणों से भी। किन्तु अलग-अलग स्थानों से या अलग कोणों से देखने वाले लोगों के ज्ञान भी एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक ही होते हैं, यह सदा याद रखना चाहिए।

जैसे सभी दार्शनिकों के समक्ष यह सम्पूर्ण अस्तित्व एक घटना के रूप में उपस्थित हुआ। अब इसको उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। उन दार्शनिकों में से सांख्याचार्य नाम से कुछ दार्शनिक हुए उन्होंने पाया कि यहाँ इस सृष्टि में चेतना और जड़ दो प्रमुख तत्त्व हैं। उन्होंने चेतना और जड़ दोनों के स्वभाव का अध्ययन किया। चेतना को उन्होंने प्रकाशक, ज्ञाता, द्रष्टा या अधिष्ठाता के रूप में पहचाना और जड़ को प्रकाश्य, दृश्य, विज्ञेय आदि के रूप में। जड़ के उन्होंने व्यक्त और अव्यक्त दो विभाग किये। उन्होंने कहा— व्यक्त और अव्यक्त इन दोनों में कुछ समानता है और कुछ असमानता। व्यक्त 'महत्-अहङ्कार-मन-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-पञ्च तन्मात्र और स्थूलभूत' इन २३ तत्त्वों के रूप में जाने जाते हैं। इन २३ तत्त्वों का स्वभाव

है— ये सब के सब हेतुमान् (हेतु वाले हैं, किसी अन्य से उत्पन्न होते हैं), अनित्य, अव्यापी (असर्वगत हैं जैसे प्रधान पुरुष सर्वगत हैं वैसे व्यक्त नहीं) व्यक्त के ये सब रूप सक्रिय, अनेक, आश्रित हैं (किसी न किसी के आश्रय से रहते हैं) व्यक्त का एक रूप है लिङ्ग (अपने कारण में लीन होने वाला अथवा जिसके द्वारा अव्यक्त जाना जाता है, लयं गच्छति यद्वा लीनमर्थं गमयति), व्यक्त सावयव व परतन्त्र है और अव्यक्त इन उपर्युक्त सभी धर्मों के विपरीत स्वभाव वाला है। अर्थात् अव्यक्त अहेतुमत् है क्योंकि वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, नित्य है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं होता (सद् अकारणवन्नित्यम् वै० ४.१.१), व्यापी है क्योंकि वह सर्वगत है (पुरुष के समान ही आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सब को व्याप्त करके रहता है), निष्क्रिय है (सर्वव्यापक होने से), एक है (समस्त व्यक्त का कारण होने से), अनाश्रित है (किसी के आश्रय से नहीं रहता) और अलिङ्ग है (अनुत्पत्ति वाला होने से), निरवयव है (अमूर्त होने से) और स्वतन्त्र है (सर्व उत्पत्ति का कारण होने से) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ (सां० का० १०)।

इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त का वैधर्म्य बताकर इन दोनों का परस्पर साधर्म्य और पुरुष से वैधर्म्य भी बताया— व्यक्त (महदादि भूतान्त) तथा अव्यक्त (प्रकृति) दोनों ही त्रिगुण रूप हैं। दोनों ही अविवेकी हैं अर्थात् इनको परस्पर पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता कि ये गुण हैं और यह व्यक्त है, इसी प्रकार यह तो प्रधान है और ये गुण हैं ऐसा पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, अथवा इनमें विवेचनसामर्थ्य नहीं है। व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही पुरुष के सुख-दुःख-मोह के रूप में विषय बनते हैं तथा प्रधान (अव्यक्त) सभी क्षेत्रज्ञ पुरुषों का भोग्य रूप से विषय बनता है। दोनों ही सब पुरुषों के सामान्य हैं। दोनों ही अचेतन हैं, सुख-दुःख-मोह का अनुभव नहीं करते। दोनों ही प्रसवधर्मी हैं (बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से मन, इन्द्रियाँ व तन्मात्र और उनसे स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं)। पुरुष तत्त्व इन दोनों के विपरीत स्वभाव वाला है— अगुण (निर्गुण) है, विवेकी ('पुरुष' चेतन होने से विवेक्ता है या जड़

से सर्वथा विविक्त) है, विषयी या अविषय (किसी का विषय नहीं बनता) है, असामान्य (प्रत्यक्) है, चेतन है और अप्रसवधर्मी (प्रसवरूप धर्म से रहित) है। त्रिगुणविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मी। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ सां० का० ११।

गुणों का विवेचन करते हुए सांख्याचार्यों ने कहा— सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण क्रम से प्रीति अर्थात् सुख, अप्रीति अर्थात् दुःख और विषाद अर्थात् मोह स्वरूप वाले हैं। तथा प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन करने वाले हैं और ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे का अभिभव करने के स्वभाव वाले, एक-दूसरे का आश्रय लेने वाले, एक दूसरे के जनन अर्थात् परिणाम में सहयोगी, एक दूसरे के साथ मिथुनीभूत होकर कार्य करने वाले होते हैं। प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ सां० का० १२॥

सत्त्वगुण लघु तथा प्रकाश करने वाला है, रजोगुण उतेजक और चञ्चल स्वभाव वाला है एवं तमोगुण गुरु तथा आवरण (नियमन) करने वाला है। दीपक की तरह इन तीनों गुणों की वृत्ति पुरुषार्थ (भोग और अपवर्ग) के लिये है। सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ सां० का० १३॥

सांख्याचार्यों से अलग दूसरे कुछ दार्शनिकों ने देखा कि एक ही चेतन तत्त्व है, जिसे ब्रह्म इस नाम से जानते हैं। जिसको प्रकृति कहते हैं वह भी उसी की एक शक्ति विशेष है जो उससे अभिन्न होकर रहती है उसका अलग से कोई अस्तित्व नहीं है।

‘जीवन में अनन्त दुःख हैं’ यह एक घटना है। इसको सभी बुद्धिमान् लोग देख रहे हैं और इसका समाधान खोज रहे हैं। उन्होंने देखा कि बिना कारण की खोज किये इस समस्या का कोई समाधान नहीं हो सकता। अतः सबसे पहले उन्होंने दुःख और दुःखों के कारणों को खोजा और बड़े सौभाग्य की बात है इस विषय में सब एकमत हैं यहाँ दो मत नहीं हैं किन्तु समाधान के विषय में भेद हो गया। सब के सब विचारकों, चिन्तकों ने यह पाया कि दुःखों का कारण

है 'इच्छाओं का पूर्ण न होना या जो कुछ चाहते हैं उससे अन्य हो जाना'। हम सबसे ज्यादा धनवान् बलवान् व साधन सम्पन्न होना चाहते हैं पर हो नहीं पाते। उन्नति-प्रगति और विकास की दौड़ में सबसे आगे निकलना चाहते हैं किन्तु पिछड़ जाते हैं। दूसरों की तुलना में ऊँचा पद पाना चाहते हैं पर नहीं प्राप्त कर पाते। किसी चुनाव में मेरा ही चयन हो पर किसी और का हो जाता है। मुझे ही M.L.A. या M.P. की टिकट मिले पर किसी दूसरे को मिल जाती है। मैं मुख्य मन्त्री या प्रधानमन्त्री बन जाऊँ ऐसा चाहते हैं किन्तु कोई और ही बन जाता है। हमारे बच्चे हमारे अनुसार ही चलें, हमारे अनुसार ही सोचें या विचारें किन्तु वे अपने ही ढंग से चलते हैं सोचते या विचारते हैं। हम चाहते हैं मेरे बच्चे गृहस्थ धर्म को स्वीकार करें वे संन्यासी बन जाते हैं या हम चाहते हैं बच्चे संन्यासी बन जायें और वे गृहस्थ में चले जाते हैं। हम चाहते हैं मेरा बच्चा गुरुकुल में पढ़े और वह नहीं पढ़ना चाहता। हम विजय चाहते हैं, सब प्रकार की अनुकूलता चाहते हैं, बाधारहित सुख पाना चाहते हैं, सम्मान प्राप्त करना चाहते हैं, अपने ही अनुसार सब घटनाओं, परिस्थितियों, निर्णयों व कार्यों को देखना चाहते हैं, पुत्र या शिष्य प्राप्त करना चाहते हैं, ऐश्वर्यशाली बनना चाहते हैं, शान्ति चाहते हैं तथा इच्छित इन्द्रिय भोगों को भोगना चाहते हैं। जरा-व्याधि मृत्यु को कभी नहीं चाहते हैं, अपमान कभी नहीं चाहते हैं, किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता नहीं चाहते, अपुत्र या शिष्यविहीन रहना नहीं चाहते, मन की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं चाहते, कोई हमें नीचा दिखाए नहीं चाहते, कोई हमसे धोखा करे नहीं चाहते, इस 'चाहने' और 'न चाहने' की सूची को कितना भी फैलाकर देखा जा सकता है। सार रूप में इसे इस रूप में रख सकते हैं— इष्ट वस्तु, व्यक्ति, विचार, परिस्थिति, सम्बन्ध, क्रियाओं और उपलब्धियों या परिणामों का संयोग चाहते हैं और अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति, विचार, परिस्थिति, सम्बन्ध, क्रियाओं और उपलब्धियों या परिणामों का वियोग चाहते हैं। इसके विपरीत अनिष्ट संयोग व इष्ट वियोग नहीं चाहते हैं।

यह हुई दुःख व दुःख के कारण की खोज। थोड़ा सा विचार करके इसे कोई भी देख सकता है। संसार भर के मनुष्य इस विषय में एक मत हैं।

कितना भी सोचें, समझें, मन्थन करें, इससे अतिरिक्त निष्कर्ष कभी भी आ ही नहीं सकता। हाँ! दुःख की इस समस्या का समाधान अवश्य ही सब अलग-अलग ढंग से खोज रहे हैं। कुछ लोग इसे असमाधेय समस्या कह कर छोड़ देते हैं। उनका कहना है 'इसका कोई अन्तिम समाधान नहीं' इस तथ्य को चुपचाप स्वीकार करके जीते रहना चाहिए। इस स्वीकार भाव से बस दुःखों की मार थोड़ी कम महसूस होगी। दूसरे लोग कहते हैं— अपने दुःखों को कम करने के लिए भरसक संघर्ष करें, संघर्ष का आनन्द लें, संघर्ष में दुःखों की सघनता कुछ कम अनुभव में आयेगी।

किन्तु प्रथम कोटि के दार्शनिकों, विचारकों तत्त्ववेत्ताओं ने दुःख की इस शृंखला को तोड़ा और इस प्रचण्ड समस्या का पूर्ण समाधान भी खोजा। उन्होंने कहा कि व्यक्ति को सबसे पहले अपने विवेक बल से अपनी इच्छाओं का ठीक-ठीक आकलन करना चाहिए। इच्छाओं को दो विभागों में बाँटकर देखना चाहिए— एक वे इच्छाएँ होती हैं जो धर्मपूर्वक, विद्यापूर्वक (ज्ञानपूर्वक) होती हैं जिनके लिए शास्त्र-गुरु-आचार्यों का आशीर्वाद व अनुमोदन होता है, जिनमें दूसरों का हस्तक्षेप नहीं होता है या कम से कम होता है तथा जो दूसरों की स्वतन्त्रता को बाधित नहीं करती हैं। इसके विपरीत जो भी इच्छाएँ होती हैं वे अशुभ श्रेणी में आती हैं। जब इच्छाओं का यह आकलन ठीक-ठीक हो जाता है उसके पश्चात् व्यक्ति अपनी रुचि शक्ति सामर्थ्य को देखे। उन्होंने अपना सुझाव दिया कि यद्यपि इच्छाएँ दुःख का कारण हैं तो भी उन आवश्यक इच्छाओं को जिनको पूर्ण किये बिना व्यक्ति का काम ही न चले, जीवन ही नष्ट होने लगे, उनको तो दुःखमुक्ति के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को भी तो धर्मयुक्त व विद्यायुक्त (ज्ञानयुक्त) मार्ग से पूर्ण करना ही होता है बाकी सब का त्याग कर देना चाहिए।

उन विचारकों या दार्शनिकों का भाव यह है कि मनुष्य की अत्यावश्यक वे इच्छाएँ जो धर्मयुक्त या ज्ञानयुक्त उपायों से पूरी की जाती हैं वे दुःख का कारण ही नहीं होती। अब प्रश्न यह है कि दुःख की कारणभूत उन इच्छाओं को कैसे त्यागें? क्या उपाय अपनायें कि वे इच्छायें छोड़नी न पड़े बल्कि छूट

जायें? इसके समाधान हेतु दार्शनिकों के दो वर्ग (group) हो गये— एक ज्ञानमार्गी दूसरे भक्तिमार्गी।

ज्ञानमार्गी दार्शनिकों ने कहा मनुष्य की सत्ता के केन्द्र में एक आत्म तत्त्व है और परिधि में मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इस 'कामना' के अधिष्ठान (रहने के स्थान) हैं। यह कामना इन अश्रयभूत इन्द्रियादि के द्वारा ज्ञान को आच्छादित करके इस जीवात्मा को नानाप्रकार से मोहित करती रहती है। अभिप्राय यह है कि शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो आत्मा-अनात्मा और विद्या-अविद्या आदि पदार्थों का बोध होता है उसका नाम 'ज्ञान' है एवं उसका जो विशेषरूप से अनुभव होता है उसका नाम विज्ञान है, अपने कल्याण की प्राप्ति के कारणरूप उस ज्ञान और विज्ञान को यह 'काम' नष्ट करने वाला है, इसलिये साधक को इसका परित्याग करना है। इसका उपाय है— इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जो भगवान् की अपरा प्रकृति है उस से परे (उत्कृष्ट), इन सबका प्रकाशक, इन सबका द्रष्टा जो परमात्मा है जो कि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, असङ्ग है, चिन्मय स्वरूप है, वह सर्वथा अकाम है, उस को जानकर उसमें स्थित होकर उस शुद्ध आत्मा (पराप्रकृति) के प्रभाव से अपनी मन व बुद्धि को संस्कृत करके उसके द्वारा अपने निम्नस्थ मन, बुद्धि आदि अपराप्रकृति का स्तम्भन करके इस कामनारूप दुर्जय (दुःख से वश में आने वाले) शत्रु का नाश करना होता है। (द्र० श्रीमद्भगवद्गीता- ३.४०-४३) योगदर्शन के समाधिपाद के प्रारम्भ के १ से २२ सूत्र तक इसी प्रक्रिया से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप तक पहुँचने की चर्चा है। पहले अपने मन की, अपने चित्त की वृत्तियों (चित्त के ज्ञानात्मक व्यापार) को समझना होता है। राजसिक, तामसिक वृत्तियों (क्लिष्ट वृत्तियों) से सात्त्विक वृत्तियों (अक्लिष्टवृत्तियों) में पहुँचना होता है और फिर उस का भी त्याग कर शुद्ध आत्मस्वरूप (निर्गुण तत्त्व) में स्थित होना होता है। उस प्रकाश को पाकर उस ज्ञान से, उस ज्योति से आलोकित बुद्धि के द्वारा अपनी निम्न प्रकृति का नियन्त्रण करना होता है।

दूसरे दार्शनिक हैं भक्तिमार्गी— इनकी दृष्टि का उल्लेख योगदर्शन के समाधिपाद में 'ईश्वरप्रणिधान' (सूत्र १.२३-३१) नाम से तथा

श्रीमद्भगवद्गीता में लगभग १९ स्थानों पर 'भक्ति' इस शब्द से संकेत हुआ है। अथर्ववेद में 'भक्तिवांसः स्याम' (६.७९.३) कहकर तथा वेदों के अनेक स्थलों में 'दाशवांसः, दाशवान्, दाशुषः, दाशुषे' इन शब्दों से इसी भक्तिपथ का निर्देश हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्त में श्रीभगवान् की ओर से अर्जुन के लिये जो यह संदेश दिया गया कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'।। गीता १८.६६।। अर्थात् तू सब विधि-विधान को छोड़कर एक मेरी ही शरण में आ जा। ऐसे सभी प्रसङ्गों में सब तरफ से अपने मन को हटाकर भावना के द्वारा एकमात्र भगवान् का आश्रय (शरण) लेने की बात कही है। जब कोई भी साधक अपनी सभी कामनाओं को अपने भक्तिबल से (अपने समर्पण की भावना के बल से) भगवान् के चरणों में अर्पण कर देता है तो स्वाभाविक रूप से वह अकाम हो ही जाता है। अर्थात् सार रूप में हम यह कह सकते हैं कि साधन की दृष्टि से कुछ दार्शनिक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, वासुदेवः सर्वमिति' सगुण ब्रह्म की भक्ति और सेवा और प्रेम के माध्यम से अध्यात्म की इस कठिन यात्रा को तय करना चाहते हैं, यद्यपि अन्ततः तो वे भी निर्गुण को प्राप्त कर ही लेते हैं, किन्तु दूसरे प्रारम्भ से ही निर्गुण के उपासक बन कर इस मुश्किल चढ़ाई पर चढ़ना चाहते हैं।

हमारी चर्चा चल रही थी— 'घटना एक दर्शन अनेक'। कभी-कभी जो घटना का नामकरण किया जाता है उसके अलग-अलग होने से भी दार्शनिकों में भिन्नता दिखाई देती है, वास्तव में ऐसे प्रसङ्गों में भिन्नता नहीं होती। जैसे सांख्य जिसे द्रष्टा कह रहा है उसके लिये बौद्धों ने 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया। सांख्य जिसके लिये 'बुद्धि व बुद्धि की वृत्तियाँ' यह व्यवहार करता है बौद्धों ने इसे 'विज्ञान' कह दिया। शिकागो की धर्मसभा में जापान के बौद्धों ने अपने मत का उल्लेख करते समय कहा था कि 'विज्ञान' का भी एक सारतत्त्व (essence) है। 'underlying the phenomena is an unchanging principle we call the essence of mind. the fire caused by fagots dies when the fagots are gone but the essence of fire is never destroyed. The

essence of mind is the entity without ideas and without phenomena and it is always same. It pervades all things and is pure and unchanging. (शिकागो सर्वधर्मसभा में पठित outlines of the doctrine of the mahayana buddhists of japan) शून्य अभाव नहीं है ऐसा कथन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है— न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः स शून्यताशब्दार्थः... (माध्यमिक कारिका २४.७ चन्द्रकीर्तिकृत वृत्ति) सांख्य में जैसे बुद्धि व बुद्धिवृत्तियों का निमित्त कारण 'द्रष्टा' को स्वीकार किया गया है उसी प्रकार बौद्धों ने विज्ञान का निमित्तकारण 'शून्य' को स्वीकार किया है।

हाँ! अब हम इस घटना का एक विशेष दृष्टि से आकलन करना चाहते हैं कि बुद्धि व बुद्धिवृत्तियों (विज्ञान) का एक ही प्रकाशक, द्रष्टा या विज्ञाता है अथवा जितने विज्ञान (चित्त वृत्तियाँ) हैं उतने ही द्रष्टा हैं। कुछ दार्शनिकों ने देखा कि एक ही द्रष्टा या प्रकाशक है, उन्होंने अपने इस दर्शन का आधार एकत्वबोधक श्रुतियों को बनाया। श्रुतियों में ओर से छोर तक एकत्व का दिव्य संदेश भरा पड़ा है। दूसरे दार्शनिकों ने कहा एकत्वबोधक श्रुतियाँ तो जातिपरक हैं। द्रष्टा हैं तो अनेक पर वे सब के सब एक जैसे ही हैं। यहाँ देखने की बात यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में क्या दुःखमुक्ति जो कि जीवमात्र की मूल माँग है, उस पर भी इन दोनों दृष्टियों का पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ेगा? कभी नहीं! दोनों ही दृष्टियों में दुःख मुक्ति तो समान रूप से होगी।

कुछ दार्शनिकों ने चिन्मयस्वरूप की समानता के आधार पर जीव और ब्रह्म को एक ही कह दिया तो दूसरों ने ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति के भेद को लेकर दोनों सत्ताओं के भेद को स्वीकार किया। अर्थात् कुछ ने मुक्ति में या समाधि में जीव की ब्रह्म के साथ अभिन्नता को देखकर जीव और ब्रह्म को एक ही कह दिया तो दूसरों ने लौकिक दशा में या अज्ञान अवस्था में स्पष्ट ही भिन्न-भिन्न गुण-कर्म-स्वभावों के आधार पर इन दोनों के स्वरूप को भिन्न-भिन्न सुनिश्चित किया। भाव यह है कुछ ने यह देखा कि यह सत्य है कि ब्रह्म जीव के अन्दर ओत-प्रोत है किन्तु जीव जब अपने को बाह्य जगत् से हटाकर ध्यान के द्वारा ब्रह्म के साथ एक रूप होता है केवल तभी जीव और ब्रह्म का अभेद होता है अन्यथा भेद बना रहता है, दूसरों ने कहा अज्ञान अवस्था में तो भेद है ही किन्तु ज्ञान होने पर तो

वह एक क्षण के लिये भी ब्रह्म से अलग होता ही नहीं तो भेद कैसा?

कुछ दार्शनिकों ने जीव को अनादि सान्त स्वीकार किया दूसरों ने अनादि अनन्त। अर्थात् कुछ ने देखा एक बार मुक्त होने पर फिर पुनरावृत्ति नहीं होती, दूसरों ने देखा कि एक निश्चित अवधि के बाद फिर जन्म ग्रहण करना होता है। इसी प्रकार कुछ ने देखा— मुक्ति में जीव समस्त दृश्य धर्मों से मुक्त शुद्ध चिन्मयस्वरूप में रहता है। शान्तिमात्र, ज्ञानमात्र ही शेष रहता है। दूसरों ने देखा— जीव की बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, वियोग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, गन्धग्रहण तथा ज्ञान ये स्वाभाविक शक्तियाँ मुक्ति में भी उसके साथ रहती हैं और जिस शक्ति का उपयोग लेना चाहता है उसका उपयोग ले सकता है।

किन्तु फिर वही प्रश्न इन सब विभिन्न दृष्टियों से क्या सब की दुःखमुक्ति में कुछ अन्तर पड़ जाता है या दुःखमुक्ति तो सबकी एक ही समान होती है। निश्चित ही दुःखमुक्ति में तो सब की एकरूपता ही होती है। कहना अनावश्यक है दुःखमुक्ति की अवस्था में सहज आनन्द, शान्ति तो सदा बनी ही रहती है।

कुछ दार्शनिक जीव को विभु, अपरिच्छिन्न देख रहे हैं दूसरे अणु व परिच्छिन्न। यहाँ भी पूर्ववत् दुःखमुक्ति व उसके लिये अनुष्ठित आत्मोपलब्धि रूप साधन में कोई भिन्नता नहीं आती। इस विषय में यह भी एक तथ्य रखा जा सकता है कि ठीक एक ही विषय में यह विविधता नहीं देखी जा रही है, बल्कि अधिकरण भेद के कारण पृथक् निर्णय पर पहुँच रहे हैं। जिन्होंने जीव को विभु व अपरिच्छिन्न कहा उन्होंने बुद्धि से अलग शुद्ध चिन्मय स्वरूप को लक्ष्य कर ऐसा कहा है और जिन्होंने अणु या परिच्छिन्न कहा उन्होंने चिन्मय स्वरूप को बुद्धि से संयुक्त रूप में देखते हुए उक्त कथन किया। इस प्रकार विचार करने से यह समझ में आया कि एक ही घटना को कैसे अलग-अलग रूप में देखकर अलग-अलग निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। किन्तु सभी दार्शनिकों की कुछ विषयों में सर्वथा एकरूपता भी है यह बात उपर्युक्त प्रबन्ध से स्पष्ट हो ही रहा है।

स्वर्ग व नरक के बिन्दु पर भी दार्शनिकों की दृष्टि में कुछ समानता है और

कुछ असमानता। समानता यह है कि सभी दार्शनिक यह मानते हैं कि स्वर्ग का अर्थ है सुखविशेष और नरक है दुःखविशेष। उनकी इस विषय में असमानता यह है कि कुछ दार्शनिक स्वर्ग व नरक को इस पार्थिव जीवन से अलग ही लोक के रूप में देखते हैं। उनका कहना है स्वर्ग व नरक वासियों के शरीर हम लोगों जैसे स्थूल शरीर नहीं होते, बल्कि सूक्ष्म शरीर होते हैं। मनुष्य जीवन में किये गये अतिपुण्य कर्मों से स्वर्ग लोक में देवयोनि मिलती है तथा अपुण्यकर्मों के फलस्वरूप नरक लोक में सूक्ष्म शरीरधारी होकर दुःख भोग करते हैं।

इसी प्रकार एक दृष्टि से देखें तो जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति (अल्पसामर्थ्यवान्) है तो दूसरी दृष्टि से ऋग्वेद के ऐन्द्र लव सूक्त में उसकी कितनी बड़ी महिमा गाई है कि यह विशाल द्यावा पृथिवी भी मुझ आत्मा के एक पक्ष के समान भी नहीं है। मैं इस पृथिवी को कन्दुकवत् इधर से उधर फेंक सकता हूँ। न हि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। कुवित् सोमस्यापामिति।। हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। कुवित् सोमस्यापामिति।। (ऋ० १०.११९.७,९)। यजुर्वेद में प्रश्नोत्तर शैली में पूछा गया कि पृथिवी से बड़ा क्या है? उत्तर दिया— इन्द्र पृथिवी से बड़ा है। (किं स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः? इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्।। (यजु० २३.४७,४८)।

• योगदर्शन के दो-तीन सूत्र हैं— ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’ ‘वृत्तिसारूप्यमितरत्र’ (१.३.४) ततः ‘प्रत्यक्चेतनाधिगमः०’ (१.२८) यहाँ योगदर्शन के भाष्यकार व्यासदेव जी ‘द्रष्टा’ तथा ‘प्रत्यक्चेतन’ शब्द से ‘निर्गुण, शुद्ध-चैतन्य (केवल चेतना)’ अर्थ ग्रहण करते हैं जबकि महर्षि दयानन्द ‘परमेश्वर’। दृष्टिभेद से दोनों ही ठीक हैं। व्यासदेव जी ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपे०’ सूत्र की भूमिका (अवतरणिका) को शङ्का के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि— सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में निरुद्ध अवस्था वाले चित्त में विषय की अनुपस्थिति होने से बुद्धि में स्थित विषयों के आकार को धारण करने वाला (बुद्धिबोधात्मा) पुरुष कैसे स्वभाववाला बनकर रहता है? अर्थात् बुद्धि में जो भी विषय उपस्थित होते हैं पुरुष का सदा उनके साथ तादात्म्य रहता है किन्तु जब बुद्धि (चित्त) में कोई विषय ही उपस्थित नहीं हो रहा तो उस समय पुरुष की क्या स्थिति होती है? सूत्रकार ने इस शङ्का का उत्तर दिया—

‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’। अर्थात् जब चित्त में कोई भी बाह्य या आन्तर वृत्त्यात्मक ज्ञान नहीं होता तो द्रष्टा की, निर्गुण पुरुष की या केवल चेतना की अपने स्वरूप में स्थिति होती है। चेतना चेतना मात्र में अवस्थित रहती है।

भाष्यकार ‘वृत्तिसारूप्यम्०’ चतुर्थसूत्र की अवतरणिका प्रश्न रूप से रखते हुए कहते हैं— वृत्तियों के चलते अर्थात् चित्त के ज्ञानात्मक व्यापार के चलते पुरुष किस रूप से भासता है? प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि व्यवहारकाल में चितिशक्ति रूप पुरुष यदि अपने स्वाभाविक कूटस्थ आदि रूप में नहीं भासता तो आखिर किस रूप में भासता है? उसकी क्या दशा या अवस्था होती है? इसके उत्तर में कहते हैं— ‘वृत्तिसारूप्यमितरत्र’ अर्थात् व्यवहार काल में जो शान्त, घोर एवं मूढ़ रूप चित्त की वृत्तियाँ होती हैं, उनसे अभिन्न वृत्ति वाला होकर पुरुष भासित होता है। शुद्ध चेतना सात्त्विक, राजस व तामस ज्ञान के अनुसार उसी रूप वाली हो जाती है, ज्ञान और चेतना में भेद नहीं रहता।

इसी प्रकार ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्धि के प्रसङ्ग में सूत्रकार ने कहा कि जो ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) आशय (वासनाओं) से रहित है, सर्वज्ञ मार्गदर्शक गुरु है उसका वाचक प्रणव (ओंकार) शब्द है। जिस योगी ने प्रणव और प्रणवाभिधेय (प्रणव शब्द से कहने योग्य) ईश्वर की वाच्य-वाचकता जान ली है, वह प्रणव का जप करे और प्रणव के अर्थ (ईश्वर) की भावना करे। यह भावना साधक की अपनी प्रकृति अपने ज्ञान, अपनी अभीप्सा के अनुसार थोड़ी अलग-अलग भी हो सकती है। कोई उसे रक्षक के रूप में देख रहा है तो दूसरा शान्त स्वरूप में, कोई ज्ञानदाता के रूप में, तो कोई दुःखहर्ता के रूप में, कोई मङ्गलमूल के रूप में तो दूसरा आनन्द प्रदाता के रूप में, कोई अज्ञाननाशक के रूप में तो कोई प्रेम व करुणा के साक्षात् मूर्त स्वरूप में इत्यादि। इन ऊपर कहे गये रूपों में से भावना का जो भी रूप हो, चित्त की एकाग्रता के सम्पादन में इससे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। यह भी भावना की जा सकती है कि ‘हे प्रभो आप सर्वज्ञ मार्गदर्शक गुरु हैं और मैं आपकी शरण में हूँ। मुझे मार्ग दिखाओ मेरे क्लेश हरो, मेरी बुद्धि शुद्ध हो।’ यह भावना सदा ही मानसी प्रीतिस्वरूपा होती है। अन्य-अन्य भावों के समान ही यह भी चित्त के अन्दर उत्पन्न होने वाला एक भाव विशेष है। शुद्ध या अशुद्ध

भावों के अनुरूप उनके पीछे शुद्ध या अशुद्ध ज्ञान भी रहता है। जैसा कि योगशास्त्र में भी कहा गया है कि ज्ञान क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार का होता है— एक तो क्लेशों को आगे से आगे जन्म देने वाला, क्लेशों को बढ़ाने वाला और दूसरा क्लेशों को मिटाने वाला। उपर्युक्त प्रकार से प्रणव जप और प्रणव के द्वारा संकेतित ईश्वर रूप अर्थ की भावना करने से चित्त का रजोगुण तमोगुण क्षीण होते-होते चित्त सत्त्व से ओत-प्रोत हो जाता है। चित्त में सत्त्व की वृद्धि होने से चित्त स्थिर, एकाग्र हो जाता है। चित्त के एकाग्र होने का परिणाम सूत्रकार ने बताया— ‘ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।’ ईश्वर प्रणिधान से व्याधि प्रभृति ९ अन्तराय दूर हो जाते हैं तथा योगी को अपने शुद्धचैतन्य स्वरूप का दर्शन भी हो जाता है।

यहाँ व्यासदेव जी ने कहा है कि ईश्वर भक्ति से योगी को यह ज्ञान हो जाता है कि जैसे ईश्वर पुरुष शुद्ध अर्थात् कूटस्थनित्य होने से उत्पत्ति एवं नाश से रहित है। प्रसन्न अर्थात् क्लेशों से रहित है, केवल है, अनुपसर्ग अर्थात् जाति आयु तथा भोग से विरहित है वैसे ही साधक की अपनी बुद्धि का साक्षी यह चेतन पुरुष (प्रत्यगात्मा) भी है। महर्षि दयानन्द का इस विषय में कहना है कि ईश्वर भक्ति करने से प्रत्यक्चेतन की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् ‘प्रत्यक् चेतन’ इस शब्द से वे अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण करते हैं।

अब हम महर्षि दयानन्द के द्वारा किये गये ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’ तथा ‘वृत्तिसारूप्यमितरत्र’ सूत्रों का अर्थ प्रस्तुत करना चाहेंगे— ‘तदा द्रष्टुः’ सूत्र की भूमिका बनाते हुए वे लिखते हैं कि मन का जब सब तरफ से निरोध कर दिया जाता है तो वह कहाँ ठहरता है? उत्तर देते हैं— जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बाँध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर के स्वरूप में स्थिर हो जाती है। (यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते, तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते) इसी प्रकार ‘वृत्तिसारूप्यमितरत्र’ सूत्र की अवतरणिका में लिखते हैं कि योगी और सामान्य व्यक्ति की चित्तवृत्तियाँ व्यवहार काल में

एक जैसी ही रहती हैं या कुछ विशेष? उत्तर देते हैं— उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और सांसारिक मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फँसती जाती है। (इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति। नैवेद्यन्युपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति)।

• ‘घटना एक दर्शन अनेक’ विषय पर पर्याप्त चर्चा हुई है। आलङ्कारिक लोगों ने भी इस विषय को ‘उल्लेख’ नाम के एक विशेष अलङ्कार के द्वारा समझाया है। उनका कहना है जब एक ही वस्तु अनेक देखने वालों के द्वारा अनेक रूप में देखी जाये तो वहाँ ‘उल्लेख’ अलङ्कार बन जाता है। जैसे कोई एक राजा है वह है तो एक ही किन्तु स्त्रियों के द्वारा वह काम के रूप में, याचकों के द्वारा कल्पवृक्ष (स्वर्दुः) के रूप में तथा शत्रुओं के द्वारा साक्षात् यमराज (काल) के रूप में देखा गया (स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्दुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः)। योग व्यासभाष्य (२.२८) में भी इसी सत्य को प्रकट करते हुए कहा है कि ‘अन्यत्वकारणम्— यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य अविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये’ (अन्यत्वस्य कारणं भवति)। अर्थात् किसी कारणविशेष से एक ही वस्तु भिन्नरूप को प्राप्त हो जाती है जैसे सुवर्णकार एक सुवर्णखण्ड को भिन्न आकार दे देता है। उसी प्रकार स्त्रीज्ञान तो एक ही है किन्तु कामियों के लिये अविद्यावश मूढ़ता का कारण बन जाता है, वही स्त्रीबोध सपत्नियों के लिये द्वेषवश दुःखता का, पति के लिये रागवश सुखत्व का तथा ज्ञानियों के लिये तत्त्वज्ञानवशात् मध्यस्थ भाव का कारण बन जाता है। भाव यह है कि घटना तो ‘स्त्री’ के रूप में एक ही है किन्तु अविद्याग्रस्त व्यक्ति उसे देखकर मोहित हो जाता है, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उस स्त्री का द्वेषी व्यक्ति उसे देखकर दुःखी होता है। कोई तीसरा व्यक्ति जो उसके प्रति रागयुक्त है वह जब उसे देखता है तो सुखी होता है। एक

चौथा व्यक्ति जो तत्त्वज्ञानी है जब वह उस स्त्री को देखता है तो चूँकि वह राग-द्वेष-मोह से रहित है, अतः उसे देखकर न तो सुख होता है, न दुःख और न ही मूढ़ता को प्राप्त होता है, मध्य में स्थित रहता है, न इधर झुकता है न उधर, शास्त्रकारों ने इस स्थिति का नाम रखा है— ‘हेयोपादेयशून्य स्थिति’; अर्थात् वह ज्ञानी उस स्त्री को देखकर अथर्व, अचल, अकम्प, अडोल, पूर्ण सहज स्थिति में बना रहता है। इस प्रकार एक ही घटना विभिन्न द्रष्टाओं के द्वारा अपने-अपने ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में देखी जा रही है।

- कुछ एक दार्शनिकों का मत है भगवान् अवतार लेता है कुछ का मत है कि नहीं लेता। इस विषय में भी यह देखा जा सकता है कि जिन्होंने यह कहा कि अवतार लेता है उनकी दृष्टि है कि जीव के ज्ञान की विकास प्रक्रिया में जिन जीवों ने मन से पार अतिमानस तत्त्व (भागवत-चेतना) को आत्मसात् कर लिया, सतत अभीप्सा और पूर्ण समर्पण के द्वारा जिन्होंने अपने आपको ऊपर उठा लिया है, भागवत-चेतना में उन्नीत कर लिया है, अब यदि वे उस चेतना को मनुष्य लोक में प्रतिष्ठापित करना चाहें तो स्वेच्छा से जन्म ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि उनका यह जन्म संस्कारों की बाध्यतावश तो होता नहीं, स्वेच्छा से वे जन्म ग्रहण कर रहे हैं अतः इस अवस्था को या इस घटना को भगवान् का अवतार लेना कह दिया जाता है। दूसरी ओर जो अवतार का खण्डन कर रहे हैं वे इस दृष्टि से कर रहे हैं कि जो इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता-हर्ता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन कर रहा है वह क्यों मनुष्य जन्म ग्रहण करेगा, अतः भगवान् का अवतार लेना उचित नहीं है और अनावश्यक भी है, अवतार लेने का कोई प्रयोजन नहीं।

- जिन्होंने जीव ब्रह्म को एक कहा उन्होंने चिन्मात्र साधर्म्य को लेकर एक कह दिया, क्योंकि जीव अमृत का पुत्र है, भगवान् का अंश है। यहाँ अंश का अर्थ टुकड़ा नहीं बल्कि भगवान् जैसे चिन्मय स्वरूप वाला है वैसे ही जीव भी है। तथा जो भिन्न मानते हैं वे ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति की भिन्नता के आधार पर वैसा कह रहे हैं।

४०४०७७७

३५. काम

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक वचन उपलब्ध है— ‘काममय एवायं पुरुषः’ (बृह० ४.४.५) सृष्टि में जो भी मनुष्य दिखाई देते हैं वे सब काममय अर्थात् इच्छामय हैं। संस्कृत में काम शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है— एक विशेषरूप से कामवासना के लिये तथा दूसरा इच्छामात्र के लिये अर्थात् शुभ-अशुभ सभी इच्छाओं के लिये। यह ‘काम’ अन्तःकरण में पैदा होने वाला धर्मविशेष है जिसकी व्यक्ति अपने प्रयत्नों से पूर्ति करना चाहता है। यजुर्वेद में कहा है— ‘मनसः कामम्---- अशीय’ (यजु० ३९.४) अर्थात् मैं अन्तःकरण की संकल्प-पूर्ति को प्राप्त होऊँ। बृहदारण्यक (१.५.३) तथा मैत्रायणी उपनिषद् (६.३०) में तो ‘काम’ को मन का स्वरूप ही बता दिया है— ‘कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीरित्येतत् सर्वं मन एव’।

प्राचीन सत्य के खोजी ऋषियों ने कहीं तो स्वयं इस काम को समुद्र कह कर पुकारा है— कामं समुद्रमाविश (चित्युपनिषद् १०.२५) और कहीं हृदय को समुद्र कहते हुए कामना का स्रोत हृदय समुद्र को बताया है (हृद्यात् समुद्रात् यजु० १७.९३)। सम्पूर्ण मानव जीवन का विकास और व्यवहार आदि काम (कामना) पर टिका हुआ है। इसीलिये मनुष्य के द्वारा प्राप्तव्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों में काम को भी एक प्रमुख स्थान दिया गया है। अथर्ववेद में कहा है— कोई किसी को कुछ भी (पदार्थ, श्रम, ज्ञान, सम्मान-प्रेम आदि भाव) क्यों देता है? उत्तर दिया— कामना ही आगे किसी दूसरी कामना की पूर्ति के लिये अपनी आहुति लगा रही है। यह सब हम कभी भी थोड़ा सा विचार करके देख सकते हैं— बच्चे स्कूल में क्यों पढ़ रहे हैं? डिग्री लेने के लिये। डिग्री क्यों लेना चाहते हैं? नौकरी पाने के लिये। नौकरी क्यों पाना चाहते हैं? आजीविका के लिये। आजीविका क्यों पाना चाहते हैं? भोग-सामग्री पाने के लिये। भोग-सामग्री क्यों पाना चाहते हैं? सुखी होने के लिये या दुःखों से बचने के लिये। सुखी होना या दुःखों से बचना क्यों चाहते हैं?

क्योंकि वह तो जीवमात्र की स्वाभाविक माँग है।

साधक लोग भी स्वाध्याय-सेवा-साधना क्यों करना चाहते हैं? अपने चित्त को शुद्ध करने के लिये। चित्त को शुद्ध क्यों करना चाहते हैं? ज्ञान प्राप्त करने के लिये। ज्ञान क्यों प्राप्त करना चाहते हैं? अपने सच्चे स्वरूप को पाने के लिये। अपने सच्चे स्वरूप को क्यों पाना चाहते हैं? दुःखों से बचने के लिये और शाश्वत सुख को उपलब्ध करने के लिये।

सारांश यह है कि एक अर्थ में काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है। यह काम हर एक के हृदय-समुद्र में प्रविष्ट हुआ-हुआ है। इस कारण मुनष्य दूसरों के साथ सतत दान-प्रतिदान के इस व्यवहार में रहता है। यह सब काम का फैलाव है (क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश। कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत् ते॥ (अथर्व० ३.२९.७)। कामना का यह अनन्त विस्तार शास्त्र व लोक दोनों से प्रमाणित है। यदि कोई पूछे कि यह हृदय क्या है जिसमें अनन्त कामनाओं का वास है तो इसका उत्तर होगा कि अन्तःकरण या चित्त का वह भाग जो सभी संस्कारों को धारण करता है उसे ही हृदय कहते हैं। चूँकि इसमें अनन्त जन्मों के, अनगिनत योनियों के संस्कार (वासनाएँ) धारित होते हैं अतः इसको समुद्र से उपमित किया गया है। नासदीय सूक्त में काम को मन का रेतस् अर्थात् शक्ति, तेज, उत्साह, शौर्य, वीर्य, बल, पराक्रम व सामर्थ्य कहा गया है— ‘कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्’ (ऋग्० १.१२९.४)। काम (इच्छा) द्वारा नवीन पदार्थ उत्पन्न करने की इच्छा सिसृक्षा है और उत्पन्न पदार्थ को छोड़ने की इच्छा मुमुक्षा है किन्तु उस पदार्थ को भोगने की इच्छा करना बुभुक्षा है। राग-द्वेष के कारण बुभुक्षा बनती है। ईश्वर में भी काम (इच्छा) है किन्तु सिसृक्षा या मुमुक्षा (सृष्टि या प्रलय) के लिये न कि बुभुक्षा के लिये बुभुक्षा में ही बन्धन है।

जब हम ‘जीवन और शास्त्र’ इन दोनों का अध्ययन करते हैं तो ‘काम’ का एक रूप विधेय कोटि में आता है और दूसरा त्याज्य। एक पुरुषार्थ है, जो

पुरुष के लिये इष्ट है दूसरा है कुकाम, दुष्टकाम या कामराग जो पुरुष का अनिष्ट है। एक पुरुष के आन्तरिक विकास में, उसके ज्ञानवान् बनने में सहायक है तो दूसरा उसकी बाह्य प्रगति या भौतिक उन्नति में तो किसी अंश में सहायक हो सकता है किन्तु आन्तरिक उन्नति में तो सदा बाधक ही बना रहता है। जब व्यक्ति के द्वारा धर्मपूर्वक काम की साधना की जाती है तो वह निश्चित ही उसकी आन्तरिक प्रगति (ज्ञान शुद्धि, भाव शुद्धि और प्रसन्नता) का साधक बनती है। इसके विपरीत करने पर काम व्यक्ति को अज्ञानता व जड़ता की तरफ ले जाता है, उसके अहङ्कार को शतशः और सहस्रशः गुणा बढ़ा देता है, देहात्मभाव को बद्धमूल कर देता है। जिसके कारण व्यक्ति की दुःख-शृङ्खला सतत बढ़ती जाती है। जिसके पास जो होता है वही दूसरों को बाँटता है। दुःखी व्यक्ति से सुख बाँटने की आशा नहीं की जा सकती, वह फिर अपने चारों तरफ भी दुःख ही बाँटेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समष्टि दुःख की ज्वालाओं में जलने लगती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिचिन्ताः ॥ गीता १६.१० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ गीता १६.११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ गीता १६.१२ ॥

अर्थात् कभी पूर्ण न होने वाले काम (विषयों की इच्छा) को आधार बनाकर ये असुर लोग दम्भ, मान और मद से युक्त होकर अज्ञान से मिथ्या आग्रहों को अर्थात् नास्तिकता आदि अशुभ सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपवित्र संकल्पों वाले होकर जगत् में कार्य करते हैं। इस प्रकार आमरण रहने वाली सुख-भोगों की अगणित चिन्ताओं से ग्रस्त, कामोपभोग ही परम (अन्तिम) लक्ष्य है जिनका ऐसे ये असुर लोग इस निश्चित मत के होते हैं कि ‘इतना ही प्राप्तव्य परम पुरुषार्थ है’। सैकड़ों आशाओं (तृष्णाओं) के बन्धनों में जकड़े

हुए व कामक्रोधपरायण ये असुर लोग सुख लूटने के लिये अन्यायपूर्वक बहुत सा धन एकत्रित करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।। १०-११-१२।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।। गीता १६.१३।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।। गीता १६.१४।।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।। गीता १६.१५।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। गीता १६.१६।।

मैंने आज यह पा लिया, कल मन की उस कामना को भी पूर्ण करूँगा।

आज यह धन मेरे पास है, कल यह धन भी मेरा ही हो जायेगा।। १३।।

इस शत्रु को तो मैंने मार दिया एवं औरों को भी मार दूँगा। मैं ही ईश्वर, मैं ही भोग करने वाला, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ।। १४।।

मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान सामर्थ्यवान् और कौन है, मैं यज्ञ के द्वारा दूसरों को पराभूत करूँगा, दान देकर नाम कमाऊँगा, मौज करूँगा, इस प्रकार अज्ञान से विमोहित, अनेक विचारों व कामनाओं से जिनका चित्त अत्यन्त भ्रमित है, मोह के फंदे में जकड़े हुए और कामभोगों में डूबे हुए ये असुर लोग अपवित्र नरक में गिरते हैं।। १५-१६।।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।। गीता १६.१७।।

अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले, ऐंठ से व्यवहार करने वाले धन व मान के मद से युक्त ये लोग शास्त्र विधि छोड़कर केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भपूर्वक यजन-पूजन करते हैं।। १७।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।। गीता १६.१८।।

तानहं द्विषतः कूरान्संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। गीता १६.१९।।

ये आसुरी प्रवृत्ति वाले जन अहङ्कार, बल, दर्प, काम व क्रोध का आश्रय लिये हुए अर्थात् अहङ्कार से, बल से, दर्प से व काम-क्रोध से फूलकर, अपनी और दूसरों की देह में स्थित मुझ परमेश्वर से द्वेष करने वाले अर्थात् मेरे शासन का अतिक्रमण करने वाले होते हैं, ऐसे इन अशुभ कर्म करने वाले द्वेषी, क्रूर व नीच पुरुषों को मैं इस संसार की आसुरी योनियों में बार-बार डालता हूँ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।। गीता १७.५।।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्।। गीता १७.६।।

दम्भ और अहङ्कार से युक्त जो लोग कामनाओं और आसक्ति के वशीभूत होकर शास्त्रों के विधि-विधान के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं वे अविवेकी मनुष्य इन्द्रियादि करणों के रूप में परिणत भूत समुदाय को और कर्म व बुद्धि के साक्षी मुझ ईश्वर को भी पीड़ित करते हुए अर्थात् मेरे अनुशासन या विधान का उल्लंघन करते हुए, आत्मा की आवाज को दबाते हुए इस प्रकार का घोर तप करते हैं अतः उन्हें आसुरी बुद्धि वाला जानो।

मनुष्य की कामनाओं के इस अनन्त विस्तार को किसी ने एक प्रतीकात्मक कहानी के माध्यम से बहुत ही सुन्दर रूप में चित्रित किया है। एक कोई भिखारी सड़क पर बैठा हुआ राहगीरों से भीख माँग रहा था। जो भी उधर से गुजरता अपना कटोरा झट से उसके सामने फैला देता। अकस्मात् देवर्षि नारदजी का भी उधर से गुजरना हुआ। जैसे ही नारद जी के समक्ष बड़े ही दीन भाव से उसने अपना कटोरा फैलाया, उसकी दयनीय अवस्था को देखकर देवर्षि नारदजी का हृदयस्थ करुणभाव तत्काल जागरित हो गया। देवर्षि ने

अपनी प्रेम पूरित कोमल दृष्टि भिखारी पर डाली और कहा भाई! तुम कितने समय से भीख माँगने का कार्य करते चले आ रहे हो। भिखारी ने उत्तर दिया— जब से मैंने होश सम्भाला, मैं तो बचपन से ही यह काम कर रहा हूँ। नारदजी ने कहा— अच्छा! तुम्हें जीवन भर के लिये इतना कुछ मिल जाये कि फिर किसी से कुछ माँगना ही न पड़े तो कैसा लगेगा? भिखारी ने कहा फिर मैं क्यों माँगूँगा? नारदजी ने कहा— अच्छा उठो मेरे साथ चलो। नारदजी भिखारी को अपने साथ लेकर कुबेर के पास पहुँचते हैं। देवर्षि नारद जी को देखते ही कुबेर अपने सिंहासन से उठ खड़े होते हैं और उनका बड़े भावपूर्ण हृदय से स्वागत करते हुए उनसे पूछते हैं कि आज हमारे भाग्य कैसे जगे, कैसे दर्शन दिये? मैं आपकी क्या योग्य सेवा करूँ?

देवर्षि नारद जी ने कहा— इस भिखारी को देखकर मुझे बहुत ही दया व करुणा आई, यह बेचारा दिन भर सड़क पर बैठा हुआ राहगीरों के सामने अपना कटोरा फैलाता रहता है। मैंने इससे कहा— मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन का ही प्रबन्ध करा देता हूँ, तुम्हें किसी से कुछ भी नहीं माँगना पड़ेगा। सो अब आप कृपा करके अपने खजाने में से कुछ बहुमूल्य रत्न मँगवाइये और इसके कटोरे को भर दीजिये। कुबेर जी ने नारद जी के आदेश को शिरोधार्य किया और अपने सेवकों को आदेश दिया कि भिखारी के कटोरे को बहुमूल्य रत्नों से भर दिया जाये। कुबेर जी की आज्ञा पाकर सेवक गण उठते हैं और जैसे ही खजाने से उन मूल्यवान् रत्नों को लाकर कटोरे में डालते हैं तो एक बड़ी ही आश्चर्यजनक घटना घटती है कि कटोरे में निरन्तर बहुमूल्य रत्न डाले जा रहे हैं पर कटोरा भरने का नाम नहीं लेता। धीरे-धीरे करके सम्पूर्ण खजाना ही खाली हो जाता है, कुबेर का खजाना, हाँ! कुबेर का खजाना, किन्तु पर वह खजाना कटोरा भर नहीं पा रहा। स्वयं कुबेर जी और नारद जी भी इस दृश्य को देखकर बहुत आश्चर्य में पड़ जाते हैं— यह हो क्या रहा है? भिखारी से पूछने लगते हैं— भाई! यह कटोरा तुम कहाँ से लाये हो? भिखारी ने कहा— श्मशान भूमि से। नारद जी कटोरे को अपने हाथ में लेकर

जैसे ही पलट कर देखते हैं तो समस्या का राज खुल जाता है कि यह कटोरा नहीं, यह तो मनुष्य की खोपड़ी है। मनुष्य की खोपड़ी का यही सत्य है कि उसे ज्ञान के अभाव में चाहे जितने पदार्थ मिलें वह कभी भी उनसे भर नहीं सकती। कहानीकार ने बड़े रोचक ढंग से मनुष्य की इन अन्तहीन कामनाओं के सत्य को उजागर किया है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ गीता ३.३७ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ गीता ३.३९ ॥

रजोगुण से उत्पन्न हुआ, महाभक्षी यह काम और उसका साथी महापापी यह क्रोध मनुष्य का पापकर्म में प्रेरक है। इस काम व इस क्रोध को तू इस लोक में अपना शत्रु समझ। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, मैल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार काम से यह सब (ज्ञान) ढका हुआ है। हे कौन्तेय! ज्ञानी के नित्य शत्रु, कभी न तृप्त होने वाले इस कामरूपी अग्नि के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है। छान्दोग्य और ईशावास्योपनिषद् से भी इस सत्य की पुष्टि होती है— ‘अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः’ (छां० ८.३.२) हृदय-मन्दिर में सत्य कामनाएँ मौजूद रहती हैं, परन्तु विषयों के प्रति तृष्णा का उन पर आवरण चढ़ा रहता है। इसी प्रकार ‘हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्’ (ईशो० १५) सुवर्ण समान आकर्षक ढक्कन से सत्य का मुख ढका हुआ है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ गीता ३.४३ ॥

हे महाबाहो अर्जुन! इस प्रकार जो बुद्धि से परे आत्मा है उस आत्मतत्त्व को पहचान कर महतर और यथार्थ में सचेतन आत्मा के द्वारा अन्तःकरण को स्थिर निश्चल करके कठिनता से वश में आने वाले शत्रु (कामरूपं दुरासदम्) इस ‘काम’ को मार डाल। कामनारूप महाशत्रु का ज्ञान के द्वारा नाश किया जा सकता है। ‘ज्ञान’ होने से ‘कामना’ स्वयं समाप्त हो जाती है, मर जाती है

अर्थात् कामना तभी तक है जब तक कि ज्ञान द्वारा इसका नाश नहीं हो जाता।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। गीता ४.१९।।

ज्ञानी पुरुष उसी को विद्वान् या पण्डित कहते हैं जिसके सभी समारम्भ (कर्म) कामना रूपी संकल्प से रहित हैं (कामसंकल्पवर्जिताः) और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म होकर अकर्म बन गये हैं अर्थात् फल देने की क्षमता खो बैठे हैं।

मनु ने भी २.९४ श्लोक में कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्सेव भूय एवाभिवर्धते।।

अर्थात् काम के उपभोग से कभी भी व्यक्ति तृप्त नहीं होता, बल्कि हवि (घृताहुति) डालने पर जिस प्रकार अग्नि बढ़ती जाती है उसी प्रकार यह काम अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

ऋग्वेद १.१०५.८ में एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण प्रस्तुत किया गया है जो कामनाओं का मारा हुआ है, वह शतक्रतु इन्द्र से प्रार्थना कर रहा है कि हे इन्द्र! तेरी स्तुति करने वाले मुझको सपत्नियों की तरह बाह्य व आन्तरिक विपत्तियाँ सब ओर से सता रही हैं। ये ढेर सारी कामनायें (आध्यः) मुझे अन्दर ही अन्दर ऐसे खा रही हैं जैसे चूहे अन्न से लिपटे हुए सूत को या अपने ही शिशन को खाते रहते हैं। हे द्यावा पृथिवी! मेरी इस व्यथा (पीड़ा) को समझो। (सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी।।)

यदि हम यह जानना चाहें कि मनुष्य की इन अनन्त कामनाओं का जिनका ऊपर वर्णन किया गया, मूल क्या है? क्या कभी किसी की ये सब कामनाएँ पूरी हो भी जाती हैं या यह अन्तहीन चक्र है? ये कामनाएँ सभी व्यक्तियों में एक ही प्रकार की हों, ऐसा भी नहीं है। बल्कि ये तो सब की अलग-अलग ही देखने को मिलती हैं। किसी को राजा बनने की चाह है तो कोई एक बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है, कोई सम्मानित पद पाना चाहता है तो कोई सामाजिक सेवा करना चाहता है, कोई खेती करना

चाहता है दूसरा व्यापार, कोई आचार्य बनकर कार्य करना चाहता है तो कोई उपदेशक, कोई गृहस्थ के मार्ग से आगे बढ़ना चाहता है तो कोई संन्यासी बनकर, कोई पैसा कमाने के लिये झूठ, छल, कपट, हेरा-फेरी कुछ भी करने के लिये तैयार हो जाता है तो कोई सत्यपथ से थोड़ा सा भी इधर-उधर नहीं हो सकता, कोई संयम में सुख देख रहा है तो दूसरा स्वेच्छाचारिता में, कोई धीर-गम्भीर रहने में आनन्द ले रहा है तो दूसरा उत्तेजनापूर्ण जीवन में, कोई गायक बनने की चाह लिये हुए है तो दूसरा चित्रकार बनने की इत्यादि अनेक-अनेक कामनाएँ व्यक्तिभेद से देखने को मिलती हैं। इस विशाल संसार में जो कोई भी जो कुछ कर रहा है उसके मूल में उसकी कामनाएँ ही तो हैं। बिना कामनाओं के कोई भी कार्य कैसे हो सकता है? अब यदि यह खोज की जाये कि इन कामनाओं के मूल में क्या है? तो उत्तर आयेगा कि कामनाओं के मूल में है— ‘उस-उस व्यक्ति का अपना-अपना ज्ञान व संस्कार’। कामनाओं के चुनाव में अवश्य ही व्यक्ति के अपने पूर्वसंस्कार या प्रारब्ध भी कारण होते हैं। अब यह भी देखा जा सकता है कि इन विभिन्न कामनाओं के मूल में रहने वाले ज्ञान का स्रोत क्या है? ज्ञान के स्रोत हैं— माता-पिता, गुरुजन, शास्त्र, अपना चिन्तन-मनन, परिवेश, समाज इत्यादि। व्यक्ति की अपनी भूलों से भी उसे ज्ञान प्राप्त होता है। चूँकि ज्ञान प्राप्ति के स्रोत सब के अलग-अलग होते हैं अतः ज्ञान भी सब का अलग-अलग होना स्वाभाविक है।

व्यक्ति अपने उपलब्ध ज्ञान के अनुसार निर्णय लेता है कि किस कार्य से, किस कामना की पूर्ति से तुझे अधिक सुख मिलेगा या तेरे दुःखों की निवृत्ति होगी या दुःख कम होंगे। यद्यपि चुनाव की इस प्रक्रिया में दूसरे लोग (माता-पिता-सहयोगी-साथी-गुरुजन) भी निमित्त बनते हैं तो भी अन्तिम निर्णय तो व्यक्ति का स्वयं का ही होता है। अब यदि किसी कारण वश असफलता या प्रतिकूल परिणाम भी हाथ लगे तो उसे दूसरों को दोष न देकर सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए कि मेरी अमुक भूल से मुझे यह अथवा वह फल मिल रहा है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति जब किसी भूल को

दूसरे पर न डालकर स्वयं पर ले लेता है तो उसे वैसा ही छोड़ना नहीं चाहता, उसे ठीक करना चाहता है और ऐसा करने से दूसरों के प्रति खिन्नता या रोष भी पैदा नहीं होता।

इस समस्त प्रक्रिया में व्यक्ति को अपनी गहन अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करके यह देखना चाहिए कि तेरी कौन सी चाह तो मुख्य है और कौन सी गौण? कौन सी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं और कौन सी नहीं? कौन सी इच्छाएँ सहज व स्वाभाविक हैं और कौन सी आरोपित या कृत्रिम? कौन सी इच्छाएँ राग-द्वेष से प्रभावित हैं और कौन सी न्यायोचित हैं? कौन-कौन सी इच्छाएँ सह-अस्तित्व की अविरोधी हैं और कौन सी विरोधी? कौन सी इच्छाएँ अहङ्कार, मद, माया, ईर्ष्या, प्रतिशोध, दिखावा या किसी प्रतिक्रियावश हो रही हैं और कौन सी अन्तःप्रेरणाओं से प्रेरित? ऐसी कौन-कौन सी इच्छाएँ हैं जिनमें शास्त्र, गुरु-आचार्यों का अनुमोदन है या उनका आशीर्वाद है और कौन सी जो केवल भीड़ के प्रभाव के कारण देखा-देखी हैं? कौन सी इच्छाएँ हैं जो मेरी मूल माँग बनी हुई हैं और कौन सी हैं जो आती हैं व जाती हैं? कौन सी इच्छाएँ ऐसी हैं जिनके मूल में सच्चा ज्ञान, शान्ति, प्रेम, आनन्द, निर्भयता एवं सच्ची स्वतन्त्रता की प्यास है और किन के मूल में केवल बाह्य सुख-सुविधाओं की भूख है? कौन सी इच्छाएँ हैं जहाँ किसी के साथ कोई स्पर्द्धा नहीं है और किन इच्छाओं के मूल में किसी न किसी के साथ स्पर्द्धा बैठी हुई है? कौन सी इच्छाएँ हैं जिनको पूरा करने के लिये कोई बाह्य बाध्यता (वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति की बाध्यता) महसूस हो रही है और किन में केवल आन्तरिक बाध्यता? या यूँ कहें कि किन इच्छाओं में अन्यो पर निर्भरता असमर्थता, पराधीनता या मजबूरी जैसी दिखाई देती है और किन में पूर्ण स्वाधीनता? इन और इस प्रकार के सभी प्रश्नों का उत्तर यदि हम हमारे लिये खोज लेते हैं तो हमें चलने के लिये एक सुनिश्चित पथ मिल जाता है। अपने खोजे हुए पथ पर बिना किसी भय-बाधा-कष्ट के निरन्तर आगे बढ़ सकते हैं। व्यक्ति को पहले अपनी चाहत में स्पष्ट होना चाहिए।

यदि हम चाहते हैं कि मैं संसार में सबसे बड़ा शक्तिशाली (powerful) सबसे अधिक धनवान्, सबसे अधिक सम्माननीय बनूँ तो ये ऐसी इच्छाएँ हैं कि कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं और एक बार किसी की पूरी हो भी गई तो सदा काल की बात तो क्या कुछ वर्ष के लिये भी बराबर इन्हें बनाकर नहीं रखा जा सकता। जिन इच्छाओं की पूर्ति में सभी पङ्क्ति में खड़े हैं और मिलनी किसी एक को ही हो तो सब की इच्छापूर्ति कैसे हो सकती है?

वस्तुतः इस सारी छान-बीन में एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सुख का सच्चा स्वरूप क्या है? क्योंकि सुख की चाह ही हमारी माँग है, कोई दूसरे शब्दों में यह भी कह सकता है कि 'सुख की चाह' मूल माँग न होकर 'दुःख की निवृत्ति' हमारी मूल माँग है। ये दो कथन एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं बल्कि एक ही सत्य को दो ढंग से प्रस्तुत किया जा रहा है। अतः यदि हम अपनी मूल माँग, अन्तिम माँग के विषय में निर्भ्रान्त हो जाते हैं तो कामनाओं के इस दुःखदायी कुचक्र से जिसके हम सब साक्षी हैं या जिसमें हम सब रचे-बसे हैं, बाहर निकलने के लिए बड़ा सम्बल मिल सकता है।

शास्त्रकारों ने सुख-दुःख के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए जो संकेत सूत्र दिये हैं उनके प्रकाश में हम इस समस्या के समाधान हेतु आगे बढ़ना चाहेंगे।

- अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। (तर्क संग्रह)
- सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनुस्मृति)
- या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत् सुखम्।
या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। (योग दर्शन व्यास भाष्य)
- सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ (आयुर्वेद)

अर्थात् अनुकूलता का अनुभव होना सुख है और प्रतिकूलता दुःख। जहाँ-जहाँ व्यक्ति के मन व इन्द्रियों को किसी भी वस्तु-व्यक्ति-विचार व परिस्थिति में अनुकूलता का अनुभव होता है वह उसके लिये सुख है, इससे विपरीत अनुभव होने पर उसे दुःख होता है। सामान्य रूप से हम सभी जानते हैं कि जब हमें कोई वस्तु, कोई व्यक्ति, कोई विचार, कोई परिस्थिति अच्छी या

बुरी लगती है तो उसे ही हम सुख-दुःख के रूप में जानते हैं। अच्छा लगने या बुरा लगने के अतिरिक्त और सुख-दुःख क्या हैं? स्वतन्त्रता अच्छी लगती है कि हम सब प्रकार से स्वाधीन रहें, परतन्त्रता बुरी लगती है कि कभी भी पराधीन न हों। यह बात अलग है कि एक व्यक्ति केवल दूसरे व्यक्तियों के हस्तक्षेप को ही पराधीनता जानता है तो दूसरा अपनी आदतों, अपने मन व इन्द्रियों के कर्मों, अपने विचारों व संस्कारों की पराधीनता को भी पराधीनता में ही गिनता है। बाहर की या भीतर की पराधीनताएँ तो दोनों ही हैं, पर अपने-अपने ज्ञान के अनुसार कुछ लोग बाहर की पराधीनताओं के प्रति अधिक सचेतन हैं और कुछ आन्तरिक के प्रति। ज्यों-ज्यों व्यक्ति ज्ञानवान् होता जाता है अपनी निजी बाध्यताओं को सबसे पहले हटाना चाहता है। अज्ञानी अपने भीतर के जगत् से परिचित नहीं होता अतः उसे कुछ भी पराधीनता जैसा लगता नहीं।

योग व्यासभाष्य में कहा है कि भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से जो शान्ति मिलती है उसका नाम सुख और जो इन्द्रियों की चञ्चलता वश अशान्ति का अनुभव होता है वही दुःख है। यह इन्द्रियों की तृप्ति और अतृप्ति दो तरह से होती है— एक तात्कालिक और दूसरी सार्वकालिक। इन्द्रियों को जब-जब उनके विषय मिलते हैं तब-तब उतनी देर के लिये विषयेच्छा निवृत्त हो जाती है। किन्तु कुछ देर बाद उनकी वह चाह और भी अधिक शक्तिशाली होकर उभरती है, वे इन्द्रियाँ इस बार पहले से अधिक बेचैन होती हैं, जैसे ही उनका भोजन मिलता है फिर कुछ देर के लिये चुप हो जाती हैं। मनुष्यमात्र इन्द्रियों के इस भयावह कुचक्र में पिसता हुआ जैसे-तैसे इस पौनःपुनिक तृप्ति से सन्तुष्ट हुआ अपना जीवन जी रहा है। अधिकतर लोग इन्द्रियों की इस तात्कालिक तृप्ति में ही मनुष्य जीवन की सार्थकता देख रहे हैं। किन्तु विचारशील लोगों की दृष्टि दूसरी तरफ भी जाती है और उन्हें इन इन्द्रियों की अतृप्ति से बार-बार अशान्ति, दुःख, कष्ट या बाधा का अनुभव होता है। वे इन्द्रियों की सार्वकालिक तृप्ति की खोज में निकल पड़ते हैं। खोज करते-करते उन्हें वह युक्ति, वह दृष्टि प्राप्त हो जाती है, वे उस अन्तिम शरण को पा लेते हैं जिसे प्राचीन

तत्त्वचिन्तकों व ज्ञानियों ने ‘आत्मा’ यह नाम दिया है। वहाँ पहुँच कर व्यक्ति अपिपास, अकाम, आप्तकाम, आत्मकाम, निष्काम, ब्रह्मकाम या अचाह हो जाता है। इन्द्रियों की विषयजन्य सुख की लालसा ही समाप्त हो जाती है। किन्तु इस सच्चे सुख को पाने के लिये कुछ लोग ही तैय्यार होते हैं।

आयुर्वेद के आचार्यों ने सुख की परिभाषा देते हुए कहा कि शरीर व मन का आरोग्य (रुग्ण न होना) सुख है तथा उनका विकारयुक्त हो जाना दुःख है। शरीर के अनेक-अनेक रोगों से सभी परिचित हैं ही, इसी प्रकार काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-माया-ईर्ष्या-अहङ्कार, दुष्ट विचार, दुष्ट संकल्प, दुष्ट इच्छा, दुष्ट अभिरुचियाँ आदि मानस रोग कहे गये हैं। इन सब रोगों से सर्वथा मुक्त रहना ही सुख है। आयुर्वेद में इसका उपाय भी बतलाया है कि सदा-सर्वदा धी-धृति-स्मृति से युक्त रहना। व्यक्ति की धीशक्ति अर्थात् ज्ञानशक्ति, धृतिशक्ति अर्थात् अपने आपको पकड़ कर रखने की शक्ति तथा स्मृतिशक्ति ये तीनों जब ठीक होती हैं तो रोगों के लिये कोई अवकाश नहीं होता। इन तीनों में से किसी एक के भी अस्वस्थ होते ही प्रज्ञापराध शुरू हो जाता है। ‘प्रज्ञापराध ही सब रोगों का मूल है’ यह बात वहाँ बार-बार दोहराई गई है (प्रज्ञापराधो मूलं सर्वरोगाणाम्)।

योग व्यास भाष्य में सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः (यो०सू० २.४२) सूत्र पर ‘तथा चोक्तम्’ कहकर महाभारत शान्तिपर्व का एक श्लोक दिया है— ‘यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्’।। (शान्ति० १७४.४६)। इस धरती पर काम्य वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग लोक का जो महान् सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के षोडश भाग के एक भाग के समान भी नहीं है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान की अति उन्नत अवस्था के बिना मनुष्य की इस तृष्णा का नाश नहीं हो सकता।

सुख के स्वरूप और उसके विभाग दर्शाते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।। गीता १८.३६ ।।

हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुख के स्वरूप और उसके तीन भेदों को सुन। सुख वह है जिस में मनुष्य अभ्यास से रमता है अर्थात् सुख वह है जिसके अनुभव में बारम्बार आवृत्ति करने से मनुष्य का प्रेम हुआ करता है और जहाँ मनुष्य अपने दुःखों का अन्त पाता है अर्थात् जहाँ उसके सारे दुःखों की निःसन्देह निवृत्ति हो जाया करती है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। गीता १८.३७ ।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। गीता १८.३८ ।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। गीता १८.३९ ।।

जो आरम्भ में तो विष तुल्य जान पड़ता है परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है उस आन्तरिक सुख को सात्त्विक सुख कहते हैं। (३७)

जो सुख विषयों और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, वह पहले अर्थात् प्रथम क्षण में अमृत के सदृश होता है, परन्तु परिणाम में विष के समान होता है, अभिप्राय यह है कि बल, वीर्य, रूप, बुद्धि, मेधा, धन और उत्साह की हानि का कारण होने से तथा अधर्म और उससे उत्पन्न नरकादि का हेतु होने से वह परिणाम में अर्थात् अपने उपभोग का अन्त होने पर विष के सदृश होता है, अतः ऐसा सुख राजस माना गया है। (३८)

जो सुख आरम्भ में भी और परिणाम में भी अर्थात् उपभोग के पीछे भी आत्मा को मोहित करने वाला होता है तथा जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद (कर्तव्य-विस्मृति) इन तीनों से उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहा गया है। (३९)

यहाँ हमने देखा कि सुख का लक्षण करते समय दो बातों की ओर

संकेत हुआ है कि सुख का ऐसा स्वभाव है कि जिस किसी सुख का अनुभव किया जाता है चाहे वह भौतिक है या आध्यात्मिक, अभ्यास से अर्थात् उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति से व्यक्ति का मन उसमें रम जाता है, उससे हटना नहीं चाहता। दूसरी बात व्यक्ति उसमें अपने दुःख का पूर्णतः अन्त देखता है। सुख का यह लक्षण सात्त्विक, राजस व तामस तीनों सुखों पर समान रूप से घटता है। यद्यपि तीनों सुखों का स्वरूप और उनके विषय अलग-अलग होते हैं तो भी व्यक्ति के ज्ञान भेद के कारण उसे उस समय प्रतीति यही होती है कि मेरे दुःखों का अन्त हो गया है, इस समय मुझे कोई दुःख नहीं है। यहाँ यह ध्यातव्य है, जितने समय व्यक्ति सुख की अनुभूति में होता है उतने समय के लिये ही उसके दुःख का अन्त होता है, न कि सदा काल के लिये।

जैसा कि हमने देखा— सुख कुल मिलाकर दो प्रकार का है एक बाह्य दूसरा आन्तरिक। बाह्य सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग, वस्तु-व्यक्ति और परिस्थिति सापेक्ष होता है, उसमें कभी भी व्यक्ति पूर्ण स्वाधीन नहीं हो सकता। जब-जब परिस्थितियाँ मनो अनुकूल होती हैं, इष्ट वस्तु-व्यक्ति-सम्बन्धों का सम्पर्क होता है तो व्यक्ति को सुख होता है, अन्यथा नहीं होता है। आन्तरिक सुख सदा सर्वदा ही वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति निरपेक्ष होता है, उसमें व्यक्ति पूर्णतः स्वाधीन होता है। व्यक्ति में यदि केवल अपने हृदयस्थित चैत्यतत्त्व के साथ अभिन्न होकर जीने की तीव्र अभीप्सा है, अपनी विचारशील बुद्धि से जिसने सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान आदि बाह्य विषयों और इन्द्रिय संवेदनाओं से मिलने वाली तृप्ति को अपर्याप्त समझकर उसे अस्वीकार करने की क्षमता विकसित कर ली है, अपने चिन्मय स्वरूप के प्रति समर्पण के द्वारा जिसे सुख अनुभव होता है, एकान्त में जिसे प्रसन्नता मिलती है, अपने मन, वाणी, इन्द्रियों व भाव-भावनाओं के प्रति जो सजग हो गया है, इतनी योग्यता किसी ने अर्जित कर ली है तो व्यक्ति सतत आन्तरिक सुख, अपनी मूल माँग में निरन्तर जी सकता है। जो यह चाहते हैं कि सदा काल के लिये मेरे दुःखों का अन्त हो जाये वे श्रीमद्भगवद्गीतोक्त सात्त्विक सुख के स्वरूप को ठीक से पहचान कर क्षण-क्षण में उस सुख का अनुभव करें। उससे उनका चित्त उसी

में रमने लगेगा (अभ्यासाद् रमते यत्र)। जब-जब व्यक्ति सुख की स्थिति में रहता है, तब-तब वह दुःख से बचा रहता है, यह हम सबका रोज का अनुभव है। क्योंकि बाह्य वस्तु-व्यक्ति-विचार या परिस्थिति से कोई भी सतत सुख नहीं ले सकता अतः सतत दुःख का अन्त भी नहीं होता। हाँ! हम अपने भीतर अपने सुखस्वरूप के साथ तो सतत सम्बद्ध रह सकते हैं अतः दुःख का भी सतत अन्त हो सकता है।

अन्त में निरुक्तकार के महत्वपूर्ण संदेश से इस प्रबन्ध का उपसंहार करना चाहेंगे— ‘स यद्वदनुसूयते तद् भवति, यदि धर्ममनुसूयते तद्देवो भवति, यदि ज्ञानमनुसूयते तदमृतो भवति, यदि काममनुसूयते संच्यवते’। (अध्याय— १४-६) अर्थात् वह पुरुष जिस का अनुरोध करता है वैसा ही हो जाता है। यदि धर्म का अनुरोध करता है तो ‘देव’ बन जाता है। यदि ज्ञान का अनुरोध करता है तो अमर हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है और काम के अनुरोध से गिर जाता है क्योंकि कामनाओं का कोई अन्त नहीं है ‘न वै कामानां तृप्तिरस्ति’ (महाभाष्य ६.१.८४)। किन्तु यहाँ धर्म को छोड़कर कामना के रास्ते पर चलने को ही पतन का कारण कहा गया है, यह बात हमने इस लेख के प्रारम्भ में ही कह दी है।

• राजसिक व तामसिक सुख की आसक्ति इतनी तीक्ष्ण, इतनी मादक व मोहक होती है कि राजसिक व तामसिक ज्ञान वाले व्यक्ति के लिये इसमें से बाहर निकल पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी यदि व्यक्ति को गुरु-आचार्यों व शास्त्र वचनों को सुनने में रस आता हो, व्यक्ति विचारशील हो, सर्वथा बेहोश होकर जीवन न जी रहा हो, अपनी भूलों से सतत सीखने की प्रक्रिया में से गुजर रहा हो तो निश्चय ही वह राजसिक व तामसिक सुख से सात्त्विक सुख में आरोहण कर सकता है। सात्त्विक सुख में पहुँचे बिना तो गुणातीत स्थिति का विचार कल्पनामात्र ही होता है। भौतिक ऐश्वर्य व विषयों से प्राप्त होने वाला सुख राजसिक व तामसिक सुख कहलाता है। धर्म, ज्ञान और वैराग्य से प्राप्त होने वाला सुख सात्त्विक सुख के अन्तर्गत आता है।

४०४०३०३

३६. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा :

वेद का आदेश है— तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा : (यजु० ४०.१) त्याग भाव से भोग कर। भूतकाल में किसी प्रकार का कोई सुख लिया और वह सुख आज या फिर कभी याद आ रहा है तो इसका सीधा सा अर्थ है कि आसक्तिपूर्वक उस सुख का भोग किया था। वेद भोग के लिये मना नहीं करता— किन्तु उस भोग की आसक्तिरूप या रागरूप छाप मन पर न पड़े, उस भोग का कोई भी रागात्मक संस्कार न बने, उस भोग की भविष्य में कभी रागात्मक स्मृति (याद) न आये। यह एक बहुत बड़ा पैमाना (मीटर) है जिससे हम अपने भोगों को देख सकते हैं, जाँच कर सकते हैं कि वे भोग आसक्ति होकर भोगे गये हैं या भोगे जा रहे हैं अथवा अनासक्तिपूर्वक अर्थात् त्यागपूर्वक। षड् इन्द्रियों का कोई भी भोग यदि आसक्ति पूर्वक भोगा गया है तो ऐसा कभी भी नहीं हो सकता या ऐसा कभी भी नहीं हो सकेगा कि उसका स्मरण न आये। भोग-काल में यदि आसक्ति है तो उसका रागरूप संस्कार भी अवश्य ही बनेगा और जिसका संस्कार बन गया है वह कभी न कभी याद भी आयेगा चाहे वह सुखद स्मृति के रूप में आए या दुःखद स्मृति के रूप में आए।

दुःख का भी भोग होता है— वह भी आसक्ति या अनासक्ति दोनों ढंग से हो सकता है। मन की निर्मल स्थिति यही है कि वह भोग से रंगे नहीं। भोग से मन का रंगा जाना ही मन का विकार युक्त होना कहा जाता है। एक पते की बात यह है कि राजसिक या तामसिक कार्य, दूसरे शब्दों में अशुभ कार्य तो बिना आसक्ति के हो ही नहीं सकते। अर्थात् अधर्म पूर्वक जो भी कार्य या भोग होंगे वे तो अवश्य ही आसक्ति पूर्वक ही होंगे, हाँ! धर्म-पूर्वक जो भोग होंगे वे आसक्तिपूर्वक भी हो सकते हैं और अनासक्ति पूर्वक भी। पूर्ण रूप से धर्म में स्थित होने पर तो त्याग व अनासक्ति साधक का सहज स्वभाव बन जाती है। मन जिनका पूर्ण शान्त और एकाग्र है, जो रजोगुण व तमोगुण से ऊपर उठ गये हैं— ऐसे पुरुष ही या जिनकी बुद्धि पूर्ण रूप से सम हो गयी है और जिन्होंने

अन्तरात्मा से अपने आप को भगवान् में लगा दिया है— ऐसे नित्य आत्मस्थ पुरुष ही तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः को पूर्ण चरितार्थ कर सकते हैं। किसी भी प्रकार की कामना के रहते कैसे अनासक्तिपूर्वक भोग हो सकता है? इसी के लिये वेद मन्त्र के अगले चरण में कहा गया ‘मा गृधः कस्यस्विद् धनम्’ अर्थात् लालच मत कर— दूसरे शब्दों में किसी प्रकार की सुख भोग-कामना अपने मन में मत रख।

☞ अनन्त जन्मों में जितने आँसू बहाये हैं, उन सबका हिसाब लगाया जाए तो यह सारी धरती गीली हो जाये, वे इतने थे; तो भी यह मन इन दुःखों से ऊँचा नहीं है— देखो! राग की महिमा।

☞ ऐ साधक! अपने मन को, अपने प्राण को (अपनी इन्द्रियों को) और अपने शरीर के रोम-रोम को सहमत कर ले कि वे भगवान् की दिव्य ज्योति, बल, आनन्द, शक्ति, प्रेम आदि को अपने अन्दर उतारने के लिए अभीप्सा करें। यदि भगवान् का ज्ञान, बल, आनन्द, शक्ति, प्रेम आदि सब कुछ मन-प्राण व शरीर में उतर आता है तो हम सब समूह में रहें या एकान्त में अर्थात् कर्म में रहें या ध्यान-स्वाध्याय में, निश्चित ही एक ही जैसे रहेंगे। हमारे पास अभीप्सा करने के सिवाय और कुछ है भी तो नहीं।

☞ जिसकी चिन्ता करेंगे उसी की सत्ता पायेंगे। दिन-रात ईश्वर की चिन्ता करने से ईश्वर की सत्ता मिलती है।

☞ ब्रह्म-ज्ञान का अर्थ है— अनित्य से छूटकर नित्य में पहुँच जाना। विषय-सम्बन्ध ही अनित्य से सम्बन्ध है। वस्तुतः नित्य वस्तु में पहुँच जाना बहुत कठिन है। विषयबुद्धि एकदम से न छूटने से वैसी अवस्था नहीं आती.....। तपस्या चाहिये। श्लोक कण्ठस्थ करने और उनका अर्थ जानने से कुछ नहीं होगा। सिद्धि को भीतर उतारना होगा।

४०४०७७७

३७. द्रष्टा-दृश्य

हर अवस्था में विज्ञाता जब विज्ञाता बना रहता है (न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते) तो यह विकार कहाँ से आ जाता है? परिवर्तनशील त्रिगुण के सम्पर्क से। द्रष्टा का दृश्य के साथ संयोग होने पर उन दोनों का परस्पर अध्यास (तदाकारापत्ति) हो जाता है। उस अध्यास में ‘द्रष्टा’ दृश्य जैसा हो जाता है और ‘दृश्य’ द्रष्टा जैसा। बुद्धि में ज्ञातृत्व (द्रष्टृधर्म) आ जाता है और विज्ञाता या द्रष्टा में दृश्यधर्म (क्रिया, गति, परिवर्तन, विकार) आ जाता है। दृश्य की क्रिया द्रष्टा में आरोपित हो जाती है, उधर द्रष्टा का चिन्मय स्वरूप दृश्य पर आरोपित हो जाता है। इस संयोग में भी कभी तो दृश्य का प्रकाश-स्वभाव प्रधान होता है, कभी क्रिया-स्वभाव और कभी स्थिति-स्वभाव। दृश्य के प्रकाश-स्वभाव की सक्रियता के तारतम्य में सुख-शान्ति व ज्ञान होता है। दृश्य (बुद्धि) में प्रकाश (ज्ञान) का चरम विकास होने पर अध्यास (तदाकारापत्ति) टूट जाता है। **द्रष्टा की साक्षिता में बुद्धिगत क्रियायें चलती रहती हैं। क्रिया-स्वभाव के सक्रिय होने पर दुःख तथा स्थिति-स्वभाव के आवश्यकता से अधिक होने पर मोह हुआ करता है।**

• परम आत्मा, शुद्ध चैतन्य, शान्त ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, परम ब्रह्म, सर्वप्रकाशक, चितिशक्ति, दृक्शक्ति, ज्ञमात्र, चिन्मात्र, दृशिमात्र, स्वप्रकाश, स्वबोध, निजबोध, चित्, प्रत्यक्, प्रत्यक्चेतन, द्रष्टा, बुद्धेः प्रतिसंवेदी, विज्ञाता इत्यादि सभी शब्द एक ही सत्य को प्रकट कर रहे हैं। दूसरी तरफ हैं बुद्धि व बुद्धि वृत्तियाँ जो कि द्रष्टा से प्रकाशित हो रही हैं। द्रष्टा तो सदा शुद्ध ही है किन्तु जो प्रकाशित हो रही हैं वे शुद्ध-अशुद्ध दोनों हो सकती हैं, साधना से उन्हें शुद्ध करना है।

• हमारे भीतर चितिशक्ति व बुद्धि का सतत अध्यास (तद्रूपता/तदाकारापत्ति) चल रहा है। इस अध्यास को तोड़ने के लिये विवेकख्याति की आवश्यकता होती है। विवेकख्याति की प्राप्ति होती है— सतत योग-साधना से। योग-साधना की गति दुतरफा होती है— अशुद्धि का क्षय और ज्ञान की दीप्ति।

अशुद्धि-क्षय का अर्थ है— रजोगुण और तमोगुण का कम होना। ज्ञानदीप्ति का अर्थ है— सत्त्वगुण का बढ़ना। योग-साधना का अर्थ है— शुद्ध जीवन, शुद्धतम ज्ञान, शुद्धतम कर्म (प्रवृत्ति या पुरुषार्थ), शुद्धतम भावनाएँ, शुद्धतम प्रेम-करुणा-वात्सल्य, कृतज्ञता, कर्तव्यपरायणता, पवित्र जीवन, पवित्र आचरण, शान्त जीवन, भावपूर्ण जीवन, ऋत नियमों (भागवत विधान) को समझकर तदनुकूल जीवन, संतुष्ट जीवन, संयमित जीवन, समतायुक्त जीवन, विवेकपूर्ण जीवन, सजग जीवन, धार्मिक जीवन, अहिंसामय जीवन, सत्यनिष्ठ जीवन, श्रद्धामय जीवन, भक्तिपूर्ण जीवन, सह-अस्तित्व का अविरोधी जीवन जीना। सम्यग् दर्शन (विवेकख्याति) एक अर्थ में परमहंस का रूप है जो बुद्धि और पुरुष के मिले हुए स्वरूप को (तदाकारापत्ति को) अलग कर देता है।

• प्रकृति व पुरुष द्रष्टा व दृश्य एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं। एक तरफ से देखें तो प्रकृति है और दूसरी तरफ से पुरुष। जैसे दो योनि और एक मिथुन होता है, उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष दो योनि एक मिथुन हैं।

इस दृष्टि को पकड़ कर ही शास्त्र में यह वचन मिलते हैं— ‘**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**’ ‘**ओंकार एवेदं सर्वम्**’। गोपथ ब्राह्मण में सविता-सावित्री का विस्तार से वर्णन मिलता है। सविता देव है एवं सावित्री उसकी देवी। सविता की शक्ति सावित्री है। सावित्री-शक्ति के बिना सविता निःशक्त है। सविता अमूर्त है और सावित्री मूर्त। सविता का ज्ञान अमूर्त है, सावित्री का कर्म मूर्त है। श्रीमद्भगवद्गीता के १४वें अध्याय में कहा है— **मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।१४.३।। सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता।।१४.४।।** अर्थात् हे भारत! (हे अर्जुन) यह प्रकृति (महद् ब्रह्म) मुझ ईश्वर की योनि (कारण) है। मैं उसमें गर्भ रखता हूँ फिर उससे सब भूतों का सम्भव (जन्म) होता है। हे कौन्तेय! पशु-पक्षी आदि सभी योनियों में जो मूर्तियाँ अर्थात् प्राणी जन्मते हैं, महद् ब्रह्म रूप मेरी प्रकृति तो उनकी गर्भधारण करने वाली योनि है और मैं ईश्वर बीज प्रदान करने वाला (चैतन्य प्रदान

करने वाला अथवा ऋतनियमों के रूप में ज्ञान पूर्ण व्यवस्था करने वाला) अर्थात् गर्भाधान करने वाला पिता हूँ। इसी प्रकार अस्यवामीय सूक्त में कहा— ऋचाओं तथा सभी दिव्य शक्तियों का आधार ओम् पद्वाच्य ब्रह्म है (**ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः**)। गीता के ज्ञानविज्ञान नामक सातवें अध्याय में ब्रह्म की परा और अपरा दो प्रकृतियों का वर्णन है। परा प्रकृति चैतन्य रूप है और अपरा प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि व अहङ्कार रूप है।

• एक ज्ञानी पुरुष ने हमको समझाया **भगवान् सगुण भी है और निर्गुण भी। (ब्रह्मैवेदं सर्वम्)** यह जो दिखाई दे रहा है, जो मन-बुद्धि की पहुँच के भीतर है वह उसका सगुण रूप है, जो पर्दे के पीछे है शुद्ध चैतन्य धारा स्वरूप, वह है निर्गुण। सगुण के साथ जो सम्बन्ध होता है वह भावात्मक होता है और निर्गुण के साथ जो ऐक्य होता है वह बोधात्मक होता है। जो सगुण (साकार) है उसके साथ भावना के द्वारा एकता साधित करनी होती है और जो निर्गुण है उसके साथ ज्ञान के द्वारा। निर्गुण=द्रष्टा। सगुण=द्रष्टा-दृश्य का संयुक्त रूप।

• **ओम् सगुण-निर्गुण का समुच्चय है।** यद्यपि स्वयं सगुण भी सगुण-निर्गुण का समुच्चय स्वरूप होता है तो भी केवल निर्गुण को पृथक् से बताने के लिये उक्त कथन होता है। समस्त नाम-रूप केवल मात्र व्यवहार चलाने के लिये हैं न कि मोहासक्ति के लिये। अतः साधक जब कभी जिस किसी नाम-रूप के सम्पर्क में आये तो उसे पृथक् संज्ञा न देकर यदि ओम् के रूप में देख सके तो नाम-रूप की आसक्ति से सहज में ही मुक्त रह सकता है। किन्तु जो असाधारण रूप से जागरित है केवल वही इस जगत् को ओम् के रूप में देख सकता है, अन्य नहीं (**ओंकार एवेदं सर्वम्**)। प्रत्येक पदार्थ की दो संज्ञाएँ हैं— एक सामान्य दूसरी विशेष। सामान्य संज्ञा तो सब पदार्थों की एक ही है ‘ओम्’। विशेष संज्ञाएँ सब की अपनी अलग-अलग हैं।

• **भगवान् के दो रूप हैं— निर्गुण व सगुण। भगवान् का निर्गुण रूप वह है जो सबसे व्यावृत्त है, हटा हुआ है, परात्पर है, दूर-अतिदूर है, सर्वथा असङ्ग है,**

प्रपञ्चोपशम है, शान्त है, अचिन्त्य है, अव्यवहार्य है, गुह्यतम है, नेति-नेति के द्वारा ही संकेतनीय है, उदासीन है, केवल है, अक्रिय है, स्वबोध है, अखण्ड है, व्यापक है, सर्वप्रकाशक है, वाङ्मनस अगोचर है तथा अहंप्रत्यय (मैं बोध) का उद्गम स्थान है (एकात्मप्रत्ययसारम्)। भगवान् का सगुण रूप अनुगत है, रमा हुआ है, समाया हुआ है, ओत-प्रोत है, निकट-से निकट है, अनुभवनीय है, मार्गदर्शक गुरु है, प्रेरणास्रोत है, वेद का उपदेष्टा है, ऋतनियमों का अधिष्ठाता है। जो कुछ भी यहाँ दृश्यमान है सब कुछ वही है।

जब सब कुछ वही है तो पाप, अपराध, हिंसा, अन्याय, शोषण, अधर्म और दण्ड क्यों? उसकी सर्वव्यापकता या रचना में उसकी सर्वानुगतता के आधार पर यह कहा जाता है कि सब कुछ वही है। ऐसा कुछ है ही नहीं जिसमें वह ओत-प्रोत न हो— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्जन्य, सागर, नदियाँ, पर्वत, वर्षा की बूँदें, विद्युत्, सूर्य-चन्द्रमा, सभी योनियाँ व उनके शरीर, मनुष्य के मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रियाँ तथा कण-कण में वह उपस्थित है (ईशा वास्यमिदं सर्वम्। वासुदेवः सर्वमिति)। यह सत्य है किन्तु जीव को कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् का स्वातन्त्र्य प्राप्त है, उस स्वातन्त्र्य से दूसरे जीवों को कष्ट-बाधा न पहुँचे, एक की स्वतन्त्रता से दूसरे की स्वतन्त्रता बाधित न हो, इसके लिये धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य व दण्डादि की व्यवस्था है। जब जीव अपनी स्वतन्त्रता के आधार पर सर्वगत देव की अवमानना करने लगता है तो उसके लिये यह न्याय-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था, दण्ड-व्यवस्था या अवमानना न करने पर पुरस्कार-व्यवस्था है। भगवान् के विधान या भगवान् की रचना में दोष, अपूर्णता या अपवित्रता नहीं है। व्यक्ति की बुद्धि में अज्ञान के कारण दोष व दोषयुक्त अशुभ प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

• सांख्य के दस मूलिक अर्थों में से एक अर्थ है 'द्रष्टा-दृश्य का संयोग'। किन्तु अब देखना यह है कि उस संयोग का स्वरूप क्या है और उसका कारण क्या होता है? द्रष्टा-दृश्य का संयोग दो स्थूल पदार्थों की तरह नहीं होता है। बल्कि यह संयोग एकप्रत्ययानुवर्तिता रूप होता है, अर्थात् एक ज्ञान में द्रष्टा-

दृश्य दोनों का अभिन्न हो जाना रूप यह संयोग है। 'मैं हूँ' यह संयोग का स्वरूप है। इस अनुभव में एक भाग प्रकाशक है, दूसरा प्रकाशित हो रहा है। यह संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है।

सदैव यह 'संयोग' दो पदार्थों में से किसी एक की या दोनों की क्रिया से घटित हुआ करता है। प्रकृत में द्रष्टा तो अक्रिय है उसमें तो कोई क्रिया होती नहीं अतः संयोग का हेतु द्रष्टा तो कथमपि हो नहीं सकता। रह गया दृश्य, यहाँ दृश्य का अर्थ है 'बुद्धि'। सो बुद्धि में स्थित रजोगुण की क्रिया से यह संयोग घटित हुआ है। जब बुद्धि में प्रकाश (ज्ञान) की कमी होती है और क्रिया की अधिकता तो द्रष्टा के उपदर्शन से (साक्षी रूप से) उपदृष्ट हुई बुद्धि सक्रिय होकर द्रष्टा से अभिन्न हुई रहती है, यही संयोग की स्थिति है।

यहाँ यह अवश्य समझना होगा कि ज्ञान व अज्ञान का आधार, आश्रय द्रष्टा नहीं होता, वह तो बुद्धि ही होती है, किन्तु उस बुद्धिस्थित ज्ञान व अज्ञान का प्रकाशक द्रष्टा होता है। द्रष्टा सदा ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, असङ्ग है, किन्तु बुद्धिस्थित अज्ञान ने अनादिकाल से उसे पकड़ा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है— यह संयोग कब हुआ, हमें (किसी को भी) यह ज्ञात नहीं है, किन्तु जब वियोग होता है तो उसका तो हमें अनुभव होता है। वियोग को देखकर अनुमान करते हैं कि संयोग भी है। बुद्धि में प्रादुर्भूत यथार्थ ज्ञान (विप्लवरहित विवेकख्याति) अपने विरोधी अज्ञान (अविवेक) को वैसे ही हटा देता है जैसे प्रकाश अन्धकार को। (नियतकारणात् तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्। सां० १.५६) बन्धन के कारणभूत अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान (तस्य हेतुरविद्या। यो०सू० २.२४) के हटते ही केवल पुरुष शेष रह जाता है। जिस ज्ञान से वियोग हुआ, उस ज्ञान का भी जब वह ज्ञान स्वयं ही अपना निरोध कर देता है तब ही केवल द्रष्टा शेष रहता है, (तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम्, तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। यो० सू० १.१६, ५१) अन्यथा वह ज्ञान यदि अपना निरोध न करना चाहे तो उस शुद्ध ज्ञान के प्रकाश में करुणावश चित्त सक्रिय होकर भूतसेवा में उस ज्ञान का उपयोग लिया जा सकता है, इसी तथ्य को योग दर्शन में 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (४.४) सूत्र द्वारा प्रकट किया गया है।

• **बुद्धि के प्रकाश और द्रष्टा के प्रकाश में क्या भेद है?** बुद्धि का प्रकाश और द्रष्टा का प्रकाश न तो सर्वथा विरूप हैं और न ही सर्वथा सरूप। बुद्धि का प्रकाश सादि-सान्त है, जब कि द्रष्टा का अनादि-अनन्त। बुद्धि का प्रकाश द्रष्टा के साथ संयोग में उत्पन्न होता है, वियोग में तिरोहित हो जाता है। बुद्धि का प्रकाश स्वप्रकाश नहीं है, जबकि द्रष्टा स्वप्रकाश है। बुद्धि का प्रकाश विषय भेद से बदलता रहता है, एक विषय में भी वह क्षण-क्षण में प्रकट होता है। बुद्धि की चरम एकाग्र अवस्था में भी वह प्रकाश एक-एक क्षण में लय-उदय को प्राप्त होता हुआ ही प्रकाशित होता है, वह केवल हमें अलातचक्रवत् (जैसे किसी लाठी के दोनों छोरों पर आग लगाकर घुमाने पर भ्रान्तिवश चक्र के रूप में दिखने लगता है) एकरूप दिखाई देता है, एकरूप होता नहीं है, जब कि द्रष्टा का प्रकाश एकरस एकरूप होता है। चाहे वृत्तिरूप अवस्था हो या वृत्तिनिरोध, द्रष्टा का प्रकाश खण्डित होता हुआ प्रकाशित नहीं होता, सतत होता है। 'द्रष्टा का प्रकाश' यह वाग्-व्यवहार भी वैकल्पिक है अर्थात् द्रष्टा व प्रकाश दो पृथक् संज्ञाएँ नहीं हैं, एक ही हैं, फिर भी मात्र समझने-समझाने के लिये भेदबोधक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर दिया जाता है। द्रष्टा स्वभाव से ही प्रकाश स्वरूप है।

• तत्त्व विवेचना की दृष्टि से प्राचीन दर्शनों में सांख्य व वेदान्त और इस युग के महायोगी श्री अरविन्द कृत Life-Divine बेजोड़ हैं। वस्तुतः सांख्य की यह खोज कि हमारे अस्तित्व के मूल में अपरिणामी और परिणामी, द्रष्टा-दृश्य, प्रकाशक-प्रकाश्य दो तत्त्वों का समुच्चय है। महर्षि कपिल का यह सिद्धान्त इतना प्रामाणिक है कि उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों ने इसको अपना आधार बनाया। हजारों-हजारों लोगों ने, ऋषि-मुनियों, विचारकों व दार्शनिकों ने इस पर काम किया और निष्कर्ष यही निकला कि हमारे मूल में सचमुच एक तरफ निर्गुण ब्रह्म, शान्त ब्रह्म है तो दूसरी ओर है सगुण ब्रह्म, महद् ब्रह्म, सतत परिवर्तनशील तत्त्व। परिणामी गुणवर्ग अपने-अपने काम में निरत है। परिवर्तनशील गुणों का यह संसार तैल, बत्ती और अग्नि की सम्मिलित क्रिया की तरह सतत कार्यरत है। यह गुणवर्ग अन्धा है पर अपरिमित क्रिया का पुञ्ज

है, दूसरा चैतन्य रूप तत्त्व क्रियाहीन है, लंगड़ा है किन्तु अन्धा नहीं है। सतत प्रकाश दान रूप अपने काम में जुटा हुआ है। ये गुण सुख-दुःख-मोहात्मक हैं।

शान्ति जो कि सुख-दुःख-मोह तीनों से अतीत है, उसके इच्छुक व्यक्ति के द्वारा शान्त ब्रह्म की शरण तब तक नहीं ली जा सकती जब तक गुणों की इस परिवर्तनशीलता को देख व समझ कर उसके पथ का निर्धारण नहीं कर लिया जाता। गुण-चक्र प्रकाश-क्रिया-स्थिति के रूप में गतिमान है। साधक की साधना की कृतार्थता इस बात में है कि इस गुणचक्र को प्रकाशबहुल बना दे। प्रारम्भ में यह चक्र क्रियाबहुल या स्थितिबहुल (प्रकाश व क्रिया का अवरोधक बहुल) होता है। गुणचक्र को प्रकाशबहुल बनाना रूप यह कार्य हर मनुष्य की क्षमता के भीतर है यदि वह ऐसा करने के लिये संकल्पित हो जाये। देखो! उपाय के बिना तो उपेय की प्राप्ति और साधन के बिना सिद्धि तो होती नहीं, इसलिये उपाय अथवा साधन तो करना ही होगा।

• 'द्रष्टा' कर्ता व अकर्ता

'द्रष्टा' कर्ता व अकर्ता दोनों ही भूमिकाओं में होता है, अज्ञान की स्थिति में कर्ता तथा शुद्ध ज्ञान की स्थिति में अकर्ता।

• द्रष्टा का कर्तृत्व व अकर्तृत्व

देहली पर रखे दीप की तरह जब द्रष्टा अपने से बहिर्भूत बुद्धि को प्रकाशित करता रहता है तब तो द्रष्टा द्रष्टा-मात्र बना रहता है, कर्ता नहीं होता, किन्तु जैसे कभी प्रकोष्ठ से दीपक बाहर चला जाये, प्रकोष्ठ में अन्धेरा छा जाये तो उस जैसी अवस्था में बुद्धि के साथ एक हुआ 'द्रष्टा' द्रष्टा की भूमिका को त्यागकर कर्ता की भूमिका में चला जाता है और व्यक्ति सुखी-दुःखी होता है। द्रष्टा जब शुद्ध द्रष्टा के रूप में होता है तब ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्मतत्त्व या सत्य के साथ एकरूप होता है, सम्भवतः इसीलिए शास्त्र में उसे अकर्ता कहा है, किन्तु जब द्रष्टा बुद्धि और बुद्धि में उपस्थित धर्मों या चित्तवृत्तियों के साथ एकरूप होता है तब तो निश्चय ही वह कर्ता ही होता है।

३८. ब्रह्म के दो रूप- सगुण-निर्गुण

ब्रह्म का ऐश्वर्य, रचना, महिमा, वैभव, ऋत-नियमों की कार्यस्थली यह सृष्टि, यह सम्पूर्ण चर-अचर जगत्, यह विश्व, ब्रह्म का यह विराट् देह जिस के ऊपर शाश्वत सृष्टि नियम अपना काम कर रहे हैं, यह सब है ब्रह्म का मूर्तरूप। इस मूर्तरूप के पीछे ब्रह्म का एक अविनाशी, अमृत, अपरिवर्तनशील, सच्चिदानन्दस्वरूप (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तै० उ०) है, यह है ब्रह्म का अमूर्तरूप। आइये इस विषय पर मिल-जुलकर विचार करते हैं-

बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में एक वचन उपलब्ध है- 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामूर्तं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च'। अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं- मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित (परिच्छिन्न) और यत् (चर-व्यापी-अपरिच्छिन्न) तथा सत् (प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर) और त्यत् ('तत्' अर्थात् सर्वदा 'वह' इस रूप में जानने योग्य अर्थात् परात्पर)।

ब्रह्म का एकरूप ऐसा है जो रचनादिगुणों के द्वारा अभिव्यक्ति में आया हुआ है, वह ब्रह्म का निरुक्त या निर्वचनीय रूप है और दूसरा रूप अनभिव्यक्त है, अप्रकट है, अनिरुक्त है, अनिर्वचनीय है। इस विषय में सभी शास्त्र एकमत हैं कि यह सृष्टि किसी अचिन्त्यशक्ति सर्वज्ञ सत्ता से उद्भूत हुई है। अथर्ववेद के कितने ही सूक्तों के द्वारा जैसे कि केन पाष्णी, स्कम्भ, आत्मा, ब्रह्मप्रकाशन, उच्छिष्ट, प्राण, काल, अनड्वान् इत्यादि तथा ऋग्वेद के अस्यवामीय, स जनास इन्द्रः, वागाम्भृणी, नासदीय, क, पुरुष, ज्ञान इत्यादि शतशः सूक्तों के माध्यम से इस सत्य का उद्घाटन किया गया है कि सृष्टि के मूल में ज्ञानमय शक्ति का हाथ है। आधुनिक वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन ने भी किसी प्रसङ्ग में यही कहा है कि सृष्टि के नियमों की चमत्कारपूर्ण व्यवस्था को देखने से पता चलता है कि सृष्टि के मूल में कोई ज्ञानमय अथाह शक्ति का भण्डार

काम कर रहा है। सो यह तो एक प्रामाणिक तथ्य है कि उस ज्ञानमय सत्ता का नाम तो कुछ भी रखा जाये पर उसके अस्तित्व के बारे में संशय नहीं है। इस बिन्दु पर विज्ञान और धर्म-दर्शन व अध्यात्म एकमत हैं। हाँ! इस रूप में विवाद हो सकता है कि धर्म-दर्शन-अध्यात्म जीवों का उस अदृश्य ज्ञानमय सत्ता के साथ उपास्य-उपासक सम्बन्ध भी स्वीकार करता है, विज्ञान इस विषय में मौन है।

ब्रह्माण्डव्यापी जिन ऋत नियमों के कारण भूतमात्र में एक अदभुत व्यवस्था चल रही है, वैदिक साहित्य में उस सत्ता को ब्रह्म, ईश्वर, पुरुष, काल, प्राण, उच्छिष्ट, स्कम्भ, रुद्र, विष्णु, इन्द्र इत्यादि अनेकानेक नामों से स्मरण किया है। इस प्रकार मूल संहिताओं और उनके उत्तरवर्ती साहित्य उपनिषद् व श्रीमद्भगवद्गीता आदि को देखने से यह प्रमाणित हो रहा है कि भारतीय ज्ञान परम्परा ब्रह्म को मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में देख रही है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में अक्षि-गोचर हो रहा है, इन्द्रियों की पहुँच में है, कार्य-कारण परम्परा में से गुजर रहा है, सब के समक्ष है वह ब्रह्म का मूर्त, मर्त्य, स्थित (सीमा में बंधा हुआ), सत् (विशिष्ट धर्मों से युक्त दृश्यमान) रूप है। तथा जो इन्द्रियातीत है, वाङ्मनस अगोचर है, चेतनमात्र है वह ब्रह्म का अमूर्त, अमृत, व्यापी अर्थात् अपरिच्छिन्न, असीम व विशेषणापरामृष्ट (सब विशेषणों से रहित) त्यत् रूप या तत् रूप है।

प्रकृतिगत ज्ञान व रचनादि गुण इस मूर्त स्वरूप के बिना कैसे अनुभव में आ सकते हैं? ज्ञान-रचनादि गुण व मूर्तस्वरूप का सदा साहचर्य रहता है। एक-एक परमाणु एक-एक कोशिका (cell) शरीरादि की आश्चर्यमय रचना, पृथिव्यादिभूत, सूर्य जैसे पिण्ड सब के सब केतु (चिह्न, झण्डे) बनकर उस परमदेव जातवेदाः की तरफ इशारा कर रहे हैं। वह है इसीलिए तो यह सुन्दर रचना दृग्गोचर हो रही है।

एक अलग कोण (Angle) से भी इस तथ्य को देखा जा सकता है। ब्रह्म के स्वरूप को बताते समय प्रायः दो प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग किया जाता

है- 'सगुण व निर्गुण' जो गुणों के सहित है वह सगुण और जो गुणों से रहित है वह निर्गुण। सगुण को भी दो रूपों में देखा जा सकता है- सगुण-साकार व सगुण निराकार। निर्गुण तो सदा सर्वदा निराकार रूप में ही रहता है। 'सगुण-साकार' रूप से तात्पर्य इन्द्रिय गोचर स्वरूप से है। साकार पदार्थ में जो सृष्टि नियम काम कर रहे हैं, जिन ऋत नियमों के कारण उस-उस पदार्थ का अस्तित्व सुनिश्चित होता है अर्थात् ऋत नियमों के साथ जो दृश्य जगत् दिखाई दे रहा है वह ब्रह्म का सगुण-साकार रूप है। जहाँ ब्रह्म के रचनादि गुण स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' यजु० ४०.१ तथा 'तदेजति', 'तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' यजु० ४०.५ इस प्रकार के सभी मन्त्र एवं गीता का ११ वाँ अध्याय इसी रूप का व्याख्यान कर रहा है। ब्रह्म का 'सगुण-निराकार' रूप वह है जो कि मनुष्य के हृदय में दिव्य गुणों के रूप में सदा विराजमान रहता है। शान्ति, प्रेम, दया-दान, करुणा, धैर्य, सहनशीलता, उत्साह, प्रसन्नता, त्याग, सर्वभूतहित भाव व ज्ञान आदि गुणवाले के रूप में या यह कहें जिसको मनुष्य मार्गदर्शक गुरु के रूप में अपने अन्दर अनुभव करता है। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि। यजु० १९.९ 'य आत्मदा बलदा०' यजु० २५.१३ इत्यादि शतशः मन्त्रों में सगुण-निराकार स्वरूप को स्मरण किया गया है। ब्रह्म के 'निर्गुण-निराकार' रूप को शास्त्रकारों ने 'नेति-नेति' के द्वारा समझाया है। निर्गुण सबसे व्यावृत्त है, सबसे हटा हुआ है, सबसे परे है (असंगोऽयं पुरुष इति। सांख्य १.१५) बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप को ही प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं- स होवाच। एतद् वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलम्-अनणु-अह्रस्वम्-अदीर्घम्-अलोहितम्-अस्नेहम्-अच्छायम्-अतमः-अवायु-अनाकाशम्-असङ्गम्-अस्पर्शम्-अगन्धम्-अरसम्-अचक्षुष्कम्-अश्रोत्रम्-अवाग्-अमनः-अतेजस्कम्-अप्राणम्-अमुखम्-अनाम-अगोत्रम्-अजरम्-अमरम्-अभयम्-अमृतम्-अरजः-अशब्दम्-अविवृतम्-

असंवृतम्-अपूर्वम्-अनपरम्-अनन्तरम्-अबाह्यम् न तदश्नाति कंचन न तदश्नाति कश्चन। (बृ० उ० ३.८.८, श० कां० १४.अ० ६.क० ८)

अर्थात् हे गार्गी! जो परमब्रह्म है वह स्थूल, सूक्ष्म, लघु, दीर्घ, लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, संग, स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, वाक्, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, रजः, शब्द, विकास, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर-बाह्य इन सब दोषों व गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है। वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उसको मूर्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है क्योंकि वह सब में परिपूर्ण सबसे अलग अद्भुत स्वरूप परमेश्वर है। वहीं उसी प्रसङ्ग में 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः,..... द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः....' (बृ० उ०- ३.८.९) इत्यादि सम्पूर्ण प्रसङ्ग सगुण ब्रह्म का वर्णन करता है। द्वितीय मुण्डक की आठवीं श्रुति 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' यहाँ 'परात्पर' शब्द से निर्गुण स्वरूप को कहा गया है। वह ज्ञानमात्र जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है (ज्ञानवाला नहीं- ज्ञानवाला कहने से तो 'सगुण-निराकार' इस शब्द से गृहीत होगा) चिन्मात्र, दृशिमात्र, शान्तिमात्र स्वरूप वाला होता है।

इसे हम इस रूप में भी समझ सकते हैं- सगुण-साकार रूप को जानने के लिये सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति (समाधि) चाहिए, जबकि 'सगुण-निराकार' रूप को जानने के लिये विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि चाहिए अथवा योगदर्शन में उपवर्णित 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' की प्रक्रिया से जो ईश्वर-प्रणिधान को साधित किया जाता है या सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्ता व सर्वज्ञ मार्गदर्शक गुरु इत्यादि रूप में उसका ध्यान किया जाता है तो वह भी उसकी सगुण-निराकार उपासना ही होती है। इस सगुण-निराकार उपासना से 'निर्गुण-निराकार' की उपलब्धि की जाती है। योग

सूत्रकार ने कहा है 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' यो० १.२८। ततः अर्थात् ईश्वरप्रणिधान (सगुण-निराकार स्वरूप ईश्वर की भक्ति) से शुद्ध-निर्गुण-तत्त्व का अधिगम हो जाता है और अन्तराय छूट जाते हैं। यहाँ 'प्रत्यक्चेतन' शब्द दृशिमात्र, चिन्मात्र निर्गुण तत्त्व का बोधक है। 'निर्गुण-निराकार' के स्वरूप को बुद्धि से अर्थात् शब्दों के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया जाये तो समस्त दृश्य धर्मों के अभाव के रूप में शुद्ध चिन्मय सत्ता के रूप में उसे जानना होगा, जैसे वह निराकार है, अजन्मा है, निर्विकार है, अनन्त है, अनादि है, अनुपम, अजर, अमर, अभय है। किन्तु मन-इन्द्रिय आदि साधन जन्य प्रत्यक्ष के द्वारा उसे नहीं जान सकते, क्योंकि जानने के लिए ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत चाहिए और वहाँ द्वैत समाप्त हो जाता है, हाँ! उस निर्गुण में हम स्थित हो सकते हैं, उस अद्वैत की स्थिति को ही कोई उसका प्रत्यक्ष कहे तो कह सकता है अर्थात् निर्गुण-निराकार में स्थिति ही असम्प्रज्ञात समाधि है। योगदर्शन में इसे 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१.३) अथवा 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति' (४.३४) सूत्रों में दर्शाया गया है। किन्तु जीव यदि ब्रह्म के सगुण-निराकार रूप में स्थित होकर रहना चाहे तो यह भी उसकी क्षमता के अन्तर्गत ही है। प्रायः साधना की उच्च भूमि में पहुँचा हुआ जीव, दृढ़स्थिति सम्पन्न जीव कभी सगुण-निराकार स्वरूप के साथ एकीभूत रहता है तो कभी निर्गुण-निराकार स्वरूप के साथ। योगदर्शन में दो शब्दों का प्रयोग हुआ है 'द्रष्टा' और 'ग्रहीता'। द्रष्टा निर्गुण का संकेतक है तथा ग्रहीता सगुण का। व्यवहार काल में तो योगी की भी सगुण-साकार या सगुण-निराकार में ही स्थिति रहती है। 'व्यवहार काल और निर्गुण में स्थिति' यह तो सम्भव नहीं है।

हम ऐसा देख सकते हैं कि भक्ति के लिए तो ब्रह्म का सगुण रूप ही उपयुक्त है। भक्ति में भक्त व भगवान् का द्वैत होता है (द्वैतं भजनहेतवे) किन्तु होती है अत्यन्त निकटता। सगुण हमारे साथ सटा हुआ, रमा हुआ, ओत-प्रोत, सर्वत्र अनुगत है, 'सर्वं होतद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में उस निकटवर्ती सगुण

स्वरूप की तरफ ही इशारा है। ईशोपनिषद् में 'तदन्तिके' कहकर सगुण रूप की ओर ही संकेत किया है तथा 'तद्दूरे' कहते हुए निर्गुण की ओर।

निर्गुण मानव मन की पहुँच से सदा परे ही रहता है, भजनीय निकट हो तभी तो उसका भजन (भक्ति) हो सकता है। अतः कहा जाता है निर्गुण मन का विषय बन ही नहीं सकता मन के छूट जाने पर ही निर्गुण में स्थिति होती है। इस विषय में एक ज्ञानी पुरुष का कहना है- सगुण के साथ जो सम्बन्ध होता है वह भावात्मक होता है और निर्गुण के साथ जो ऐक्य होता है वह बोधात्मक होता है। 'माण्डूक्योपनिषद्' की सातवीं श्रुति में निर्गुण के स्वरूप को स्पष्टता से बतलाया है-

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं
शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।७।।

न अन्तःप्रज्ञम् = वह (निर्गुण पुरुष) स्वप्नावस्था की तरह भीतर की ओर प्रज्ञा वाला नहीं है; न बहिष्प्रज्ञम् = न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला (बहिःप्रज्ञ) है; न उभयतःप्रज्ञम् = वह उन दोनों प्रकार का मिश्रित बोध भी नहीं है (जैसे तन्द्रा में होता है); न प्रज्ञानघनम् = न प्रज्ञानघन है अर्थात् वह सुषुप्ति की तरह भी नहीं है; न प्रज्ञम् = वह प्रज्ञ या बुद्धि की तरह प्रकाशशील नहीं है एवं; न अप्रज्ञम् = अप्रज्ञ, संस्कार की भाँति आवरित बोध भी नहीं है; अदृष्टम् = वह दृश्य या ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं है; अव्यवहार्यम् = कर्मेन्द्रिय का विषय नहीं; अग्राह्यम् = किसी करण शक्ति के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है; अलक्षणम् = दृश्य भाव के द्वारा लक्षण करने के अयोग्य है (दृश्यत्व निषेध करके या नेति-नेति करके उसका लक्षण करना होता है); अचिन्त्यम् = वह अचिन्त्य है, मानसिक धारणा के अयोग्य है; अव्यपदेश्यम् = शब्द के द्वारा या देश व काल के द्वारा विशेषित करने के अयोग्य है; (देशव्यपदेश यथा- 'इतना बड़ा है' 'सर्वव्यापी है' इत्यादि; कालव्यपदेश यथा- 'वह था, है, रहेगा'। देशकालातीत पदार्थ को

इस प्रकार वैकल्पिक आरोप से आरोपित करना अयुक्त है), **एकात्मप्रत्ययसारम्** = वह एकात्मप्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानों में एक ही आत्मा है— ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किया जाने योग्य है। अथवा ‘आत्मा है— इस प्रकार ही उपासना करे’ (**आत्मेत्येवोपासीत**) बृ० उ० १.४.७) इस श्रुति के अनुसार जिस तुरीय का ज्ञान प्राप्त करने में एकात्मप्रत्यय ही सार यानी प्रमाण है। (शंकर)। स्वामी हरिहरानन्द ‘आरण्य’ ने एकात्मप्रत्ययसार की व्याख्या इस रूप में की है— ‘वे निर्गुण पुरुष साधारण अहंभाव के मूल हैं। उन्हीं के कारण जीवगण ‘मैं हूँ’ ऐसा अनुभव कर पा रहे हैं। अर्थात् व्यावहारिक अहंभाव से परे जो स्वबोधरूप एक अखण्ड सत्ता है, उसकी प्रतिच्छाया अहंभाव (‘मैं’ इस अनुभव) में आ जाती है’। **प्रपञ्चोपशमम्** = समस्त प्रपञ्च से विरत या बहुत्वहीन है अर्थात् उसमें बहुभेद नहीं है, वह अविभाज्य एक स्वरूप है, **शान्तम्** = शान्त या निरुद्धबुद्धि-आदि-उपाधिक अर्थात् सर्व प्रकार चाञ्चल्य हीन है; **शिवम्** = शिव या परम मंगल स्वरूप है; **अद्वैतम्** = अद्वैत या द्वैतबोधरहित है। इस प्रकार का पदार्थ ही **चतुर्थम्** = तुरीय (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति— इन तीनों का अतीत) है ऐसा आत्मविद्गण जानते हैं, वह ही आत्मा नामक विज्ञेय पदार्थ है।

माण्डूक्य श्रुति में हमारे समग्र आत्मभाव को चार प्रकार के भावों से (बाह्यचिन्ता युक्त ‘मैं’, आन्तरचिन्ता युक्त ‘मैं’, रुद्धचिन्ता युक्त ‘मैं’ और चिन्तातीत ‘मैं’) विश्लेषण करके दिखाया गया है। **प्रथम** जागरित अवस्था, इसका नाम वैश्वानर है (इसमें विश्व नर या साधारण नर बाह्य जगत् को देखता है, इसीलिये इसका नाम वैश्वानर है)। इस अवस्था में हम उन्नीस मुखों या द्वारों से (ज्ञानेन्द्रिय पाँच, कर्मेन्द्रिय पाँच, प्राण पाँच, मन, अहं, बुद्धि व चित्त) स्थूल बाह्य विषय ग्रहण करते हैं, (बहिःप्रज्ञः स्थूलभुक् है)। **द्वितीय** अवस्था स्वप्न है। इस अवस्था में हम उन्हीं उन्नीस मुखों की सहायता से अन्तःप्रज्ञ होकर प्रविविक्तभुक् होते हैं। प्रविविक्त अर्थात् बाह्य से पृथक् जो अन्तःप्रज्ञ संस्कार है उसे अवलम्बन कर कल्पना करना ही प्रविविक्तभुक् है।

तृतीय अवस्था सुषुप्ति या स्वप्नहीन निद्रा है। इस अवस्था में एकीभूत प्रज्ञानघन, आनन्दमय, आनन्दभुक्, चेतोमुख अवस्था होती है। एकीभूत प्रज्ञानघन अर्थात् ‘जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में समस्त दृश्य एकीभूत होते हैं। उसी प्रकार समस्त विषय और विज्ञान एकीभूत होना’ (शंकर)। इस निद्रारूप तामस वृत्ति में सभी करणों के जड़ीभूत होने पर एक अस्पष्ट ज्ञानवृत्ति मात्र रहती है। आनन्दमय अर्थात् आनन्दबहुल, किन्तु आनन्दस्वरूप नहीं। चित्त के निरायास होते ही आनन्द होता है। इसीलिए यह आनन्दमयी अवस्था है’ (शंकर)। इस प्रकार जिस आनन्दभुक् अवस्था में हम होते हैं, उसका नाम प्राज्ञ है। ‘प्रज्ञप्तिमात्र रहने के कारण इसका नाम प्राज्ञ है’ (शंकर)।

मलिन स्थिर जल निद्रा का, स्वच्छ चञ्चल जल जागृति का तथा स्वच्छ स्थिर जल ऐश (ईश्वरीय) चित्त का (उपमान) है। इन तीन अवस्थाओं से अतीत अवस्था ही तुरीय आत्मा है। वह चिद्रूप अवस्था है एवं वह ईश्वरता से भी अतीत अवस्था है। अर्थात् वह निर्गुण सम्पूर्ण शब्द-व्यापार के निमित्त से रहित है, अतः शब्द से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिये श्रुति अन्तःप्रज्ञत्वादि विशेष भाव का प्रतिषेध करके ही उस तुरीय (चतुर्थ) का निर्देश करने में प्रवृत्त हो रही है।

एक अर्थ में जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में जो आत्मा का स्वरूप वर्णन हुआ, वह उसके सगुण स्वरूप का वर्णन हुआ तथा तुरीय अवस्था में उसके निर्गुण स्वरूप का। यह ओङ्काररूप चतुष्पाद् आत्मा का अभिधेय (वाच्यार्थ) की प्रधानता से वर्णन हुआ है।

८ से १२ तक की माण्डूक्य श्रुतियों में अभिधान (नाम) की प्रधानता से भी ओङ्कार का वर्णन किया गया है। वहाँ कहा है—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

सः = वह (जिसको चार पाद वाला बताया गया है); अयम् = यह;

आत्मा = परमात्मा; अध्यक्षरम् = (उसके वाचक) प्रणव के अधिकार में (प्रकरण में) वर्णित होने के कारण; अधिमात्रम् = तीन मात्राओं से युक्त; ओंकारः = ओंकार है; अकारः = 'अ'; उकारः = 'उ' (और); मकारः = 'म'; इति = ये (तीनों); मात्राः = मात्राएँ ही; पादाः = (तीन) पाद हैं; च = और; पादाः = (उस ब्रह्म के तीन) पाद ही; मात्राः = (तीन) मात्राएँ हैं।।

आगे १२वीं श्रुति में कहते हैं-

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यो प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद।।१२।।

एवम् = इस प्रकार; अमात्रः = मात्रा रहित; ओंकारः = प्रणव ही; अव्यवहार्यः = व्यवहार में न आने वाला; प्रपञ्चोपशमः = प्रपञ्च से अतीत; शिवः = कल्याणमय; अद्वैतः = अद्वितीय; चतुर्थः = पूर्ण ब्रह्म का चौथा पाद है; (सः) आत्मा = वह आत्मा; एव = अवश्य ही; आत्मना = आत्मा के द्वारा; आत्मानम् = परात्पर ब्रह्म परमात्मा में; संविशति = पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है; यः = जो; एवम् = इस प्रकार; वेद = जानता है; यः एवं वेद = जो इस प्रकार जानता है।।

इस संदर्भ में भी ओङ्कार की तीन मात्राओं को ब्रह्म के सगुण स्वरूप का वर्णन तथा चतुर्थ अमात्र रूप को उसके निर्गुण स्वरूप का व्याख्यान समझा जा सकता है।

प्रश्नोपनिषद् में पञ्चम प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद कहते हैं- एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। यहाँ 'परं ब्रह्म' निर्गुण ब्रह्म के लिये तथा 'अपरं ब्रह्म' सगुण ब्रह्म के लिये कहा गया है। इसी उपनिषद् में छठे प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने सोलह कला वाले पुरुष के बारे में बताया-

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते

स एषोऽकलोऽमृतो भवति।

यहाँ ब्रह्म को 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, मन, इन्द्रिय, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम' इन सोलह कलाओं वाला जो बताया गया, यह उसके सगुण स्वरूप का वर्णन है तथा साथ में यह भी कह दिया कि वह 'अकल अमृत' है, यह उसके निर्गुण स्वरूप का कथन हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में तृतीय मुण्डक के खण्ड प्रथम की आठवीं श्रुति में 'तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' यहाँ 'निष्कल' शब्द से निर्गुण शब्द का ही ग्रहण किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' यहाँ भी भूमा शब्द से उसी निर्गुण तत्त्व का वर्णन हुआ है। माण्डूक्योपनिषद् की प्रथम श्रुति में ही 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव'। यहाँ 'भूत भविष्यत् और वर्तमान में जो कुछ है वह सब ओङ्कार ही है' इस कथन के द्वारा ब्रह्म के सगुण स्वरूप का कथन किया गया तथा 'त्रिकालातीत' कहकर उसे निर्गुण भी बता दिया। श्वेताश्वतरोपनिषद् एक श्रुति में 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (६.११) स्पष्ट ही चारों शब्दों के द्वारा ब्रह्म को निर्गुण रूप में प्रस्तुत किया है। वहीं ६.१६ श्रुति में उसे 'गुणी सर्वविद्यः... गुणेशः' भी कहा है अर्थात् वह गुणवान्, सब विद्याओं का आश्रय तथा गुणों का नियामक है।

सांख्य सूत्रों में कहा है- 'निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा' (सां० सू० १.१४६) निर्गुण होने के कारण चित् (ज्ञान) उसका धर्म नहीं है, बल्कि वह चिद्रूप (ज्ञानरूप) ही है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जब ब्रह्म को निर्गुण स्वरूप में देखते हुए उसे चित् रूप कहते हैं तो चित् (ज्ञान) को एक चिन्मात्र, चेतनमात्र, दृशिमात्र के रूप में स्वीकार कर रहे हैं और उसे ही जब प्रकृतिगत विशुद्ध प्रकाशशील सत्त्व से संयुक्त रूप में देखते हैं तो वही निर्गुण सगुण ईश्वर के रूप में दिखाई देता है, उस समय वही चिन्मय तत्त्व 'ज्ञानवाला' होता है। किन्तु

यहाँ यह सदा स्मरणीय है कि जीवों की तरह उसका ज्ञान अनित्य नहीं है, वह ज्ञान कभी भी ब्रह्म से विभक्त नहीं होता। केवल हमारी स्थिति में भेद आता है। हम जिस भी रूप के साथ एकीभूत होना चाहते हैं, हो सकते हैं अर्थात् हमारी एकरूपता सगुण के साथ भी हो सकती है और निर्गुण के साथ भी। हाँ! एकरूपता की स्थिति में अवश्य ही एक रूप होने वाला तो गायब हो जाता है। उस अवस्था में जिसके साथ एकरूपता होती है वही शेष रहता है।

इस प्रसङ्ग में अनादि मुक्त 'निर्गुण ईश्वर' शब्द का भी प्रयोग होता है। यहाँ निर्गुण शब्द का अर्थ है 'गुणत्रय के अवशीभूत'। शंकराचार्य ने इसे ही 'नित्यसत्त्वस्थ ईश्वर' कहा है। किन्तु 'निर्गुण आत्मा' इस शब्द का अर्थ होगा- 'गुणत्रय से हीन'।

श्रीमद्भगवद्गीता में सातवें और दसवें अध्याय में ब्रह्म की विभूतियों का वर्णन है तथा ग्यारहवें अध्याय में ब्रह्म के विश्वरूप को प्रदर्शित किया गया है। ये दोनों ही वर्णन ब्रह्म के सगुण स्वरूप को दर्शाते हैं। किन्तु जहाँ उसके अक्षर, अव्यय, अव्यक्त स्वरूप की चर्चा है, जैसा कि गी १२.३ श्लोक में कहा गया है-

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।

सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

हृदय में उसे उपलब्ध करने की बात कही गयी है वह उसके निर्गुण स्वरूप का कथन समझना चाहिये।

ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों का वर्णन करने वाले कुछ अन्य वैदिक प्रमाण भी देखे जा सकते हैं-

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि॥ (यजु०- ३१.३)

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'। (यजु०- ३१.४)

इत्यादि मन्त्रों में जो 'एक पाद' व 'त्रिपाद' की चर्चा है वह शब्दान्तर से

सगुण व निर्गुण का ही व्याख्यान है। इसी प्रकार यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में निम्न वेदमन्त्र में ब्रह्म के सगुण स्वरूप का कथन है-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु०- ३२.१)

जहाँ-जहाँ उसे माता-पिता-बन्धु-सखा-राजा-गुरु-न्यायाधीश के रूप में स्मरण किया है, जैसे- 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ'। 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता...'। 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।' (मु० ३.१.४) यह परमेश्वर प्राण है जो सब भूतों के साथ प्रकाशित हो रहा है इत्यादि स्थलों में भी उसका सगुण स्वरूप लिया जाता है।

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।

त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥

हे अग्निस्वरूप परमेश्वर! तू दिनों से प्रसिद्ध हो रहा है, तू अग्नि विद्युत् और सूर्य, इन तीनों चमकने वालों से प्रसिद्ध हो रहा है, तू जलों से और तू हीरे आदि पत्थरों से प्रसिद्ध हो रहा है, एवं तू जङ्गलों और तू औषधियों से प्रसिद्ध हो रहा है। हे नरों के नरपति! तू शुद्ध पवित्र है। यहाँ इस मन्त्र में परमेश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपों का वर्णन देखने को मिल रहा है। 'त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः' मन्त्र का यह अंश उसके निर्गुण स्वरूप पर प्रकाश डाल रहा है, शेष सगुण पर। अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। (ऋ० १.८९.१०) मन्त्र को पकड़कर निरुक्त में कहा है- 'अदितिः सर्वम्' अदिति ही द्युलोक है, अदिति ही भूमि है, सब कुछ अदिति है, यह उसके स्पष्ट ही सगुण स्वरूप का वर्णन है।

तथा 'यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्ध्वैरयन्त' व 'अद्भुष्टमात्रः पुरुषः सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' 'वेनस्तत् पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' इन सब स्थलों में उसके निर्गुण स्वरूप की ओर संकेत हुआ है। तथा इसी मन्त्र में 'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' यह उसके

सगुणरूप का दिग्दर्शन है।

यच्छेद् वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेत् शान्त आत्मनि।। (कठ०- ३.१.१३)

यहाँ महदात्मा (बुद्धिसंयुक्त आत्मा) को सगुण ब्रह्म कहा है और शान्त आत्मा को निर्गुण ब्रह्म। चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् (योगदर्शन ४.२२) सूत्र में एक वचन मिलता है- ‘न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवाश्वकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते’।। यहाँ बुद्धिवृत्ति से अविशिष्ट (अभिन्न) चैतन्य को सगुण ब्रह्म कहा है तथा उस बुद्धि गुहा में विद्यमान विशुद्ध चैतन्य को निर्गुण ब्रह्म।

वेदों में ब्रह्म का जो विराट् पुरुष या विश्वपुरुष के रूप में वर्णन किया है वह उसके सगुण रूप का बखान है। इस विराट् पुरुष का देह द्युलोक से पृथिवी तक फैला है और इस विश्व का संचालन सहकार से सब देव कर रहे हैं- सूर्य प्रकाश व ऊर्जा दे रहा है, चन्द्रमा मनःस्वास्थ्य रखता है, पर्जन्य धान्य आदि उत्पन्न करता है, वायु जीवन दे रहा है, पृथिवी सबको आधार (आहार व भोग्य सामग्री तथा आवास) दे रही है, अर्थात् उत्तम रीति से सहकृत होकर ये देव विश्व का महाराज्य चला रहे हैं। ऐसा समझ सकते हैं कि ये देव विश्वराज्य का सञ्चालन करने वाले मन्त्री हैं।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। (अथर्व० १०.७.३२)

भूमि जिसके यथार्थज्ञान का साधन पादस्थानीय है (यजु० ३१.१३) और अन्तरिक्ष उदरस्थानीय है। जिसने द्युलोक को मूर्धा के रूप में रचा है। उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार हो।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।

अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। (अथर्व० १०.७.३३)

सूर्य और बार-बार नया होने वाला चन्द्रमा जिसकी आँखें हैं। अग्नि को

जिसने मुखस्थानीय किया है, रचा है। उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार हो।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।

दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। (अथर्व० १०.७.३४)

वायु जिसके प्राण और अपान हैं और किरणें चक्षु रूप हैं। दिशाओं को जिसने ज्ञान की सूक्ष्म नाड़ियों के रूप में बनाया है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए प्रणाम।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्।

स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश।।

(अथर्व० १०.७.३५)

स्कम्भ ने ये दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक धारित किए हुए हैं, स्कम्भ ने विशाल अन्तरिक्ष को धारण किया है, स्कम्भ ने फैली हुई ६ विस्तृत दिशाएँ धारित की हुई हैं। स्कम्भ इस पूरे ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट है, व्याप्त है।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्यावहोरात्रे पाश्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।

इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण।। (यजु० ३१.२२)

हे जगदीश्वर! (ते) तेरी (श्रीः) सकल शोभा है (च) और (लक्ष्मीः) सब ऐश्वर्य है; (पत्या) ये श्री और लक्ष्मी तेरी स्त्री के तुल्य वर्तमान हैं। (अहोरात्रे) दिन-रात तेरे (पाश्वे) दो पार्श्वभाग हैं; (ते) तेरी सृष्टि में (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमा (व्यात्तम्) विकसित मुख के तुल्य हैं; (नक्षत्राणि) नक्षत्र (रूपम्) रूप हैं। सो तू (मे) मेरे लिए (अमुम्) इससे परे परोक्ष सुख को (इष्णन्) चाहता हुआ (इषाण) मुझे प्राप्त कराने की कामना कर। (मे) मेरे लिए (सर्वलोकम्) सम्पूर्ण लोक को, इस विराट् पुरुष को (इषाण) प्राप्त करा, (मे) मेरे लिए सब सुखों को (इषाण) प्राप्त करा।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत।

श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।। (यजु० ३१.१२)

कारण से यह सब जगत् ईश्वर ने उत्पन्न किया है; उसमें चन्द्रलोक मनःस्वरूप है, सूर्य चक्षुस्थानीय है, वायु और प्राण श्रोत्र के तुल्य हैं, अग्नि मुख के तुल्य है।

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँऽअकल्पयन्॥ (यजु० ३१.१३)

नाभि से अन्तरिक्ष प्रकट हुआ है, सिर से द्युलोक, पाँवों से भूमि, कानों से दिशाएँ प्रकट हुई, इसी तरह अन्य लोकों की रचना हुई है।

अर्थात् इस विराट् पुरुष का मन चन्द्रमा है, आँख सूर्य है, मुख अग्नि है, प्राण वायु है, कान दिशाएँ हैं, सिर द्युलोक है, नाभि या पेट अन्तरिक्ष है और पाँव पृथिवी है। इसी के स्वरूप का निश्चय करने के लिए अथर्ववेद के कुछ अन्य मन्त्र भी यहाँ देखने योग्य हैं—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।

यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वदेव सः।

(अथर्व० १०.७.१२)

जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ रह रहे हैं, जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु अर्पित हुए हैं, मानो भूमि आदि ने स्कम्भ के प्रति अपने आप को समर्पित किया हुआ है, इसलिए उसके निर्देश में ये सब चल रहे हैं, वह सबका आधारस्तम्भ है, वह अत्यन्त आनन्दमय है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वदेव सः॥ (अथर्व० १०.७.१३)

जिसके अंग में सब तैंतीस देव इकट्ठे होकर स्थित हैं, वह सबका आधारस्तम्भ अत्यन्त आनन्दमय है।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।

भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोका प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वदेव सः।

(अथर्व० १०.७.२२)

जिसमें बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र और आठ वसु समाहित हैं, जिसमें भूत, भव्य और समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं, वही सबका आधारस्तम्भ है और वह आनन्द से परिपूर्ण है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।

तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ (अथर्व० १०.७.२७)

३३ देवों ने जिसके अङ्ग में निज गात्रों अर्थात् स्वरूपों को विभक्त किया है, उन ३३ देवों को कुछ ब्रह्मवेत्ता या वेदवेत्ता ही जानते हैं।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ (मुण्ड० २.५)

यस्मिन् = जिसमें; द्यौः = द्युलोक या स्वर्ग; पृथिवी = पृथिवी; च = और; अन्तरिक्षम् = उनके बीच का आकाश; च = तथा; सर्वैः प्राणैः सह = सब प्राणों के सहित; मनः = मन; ओतम् = गुँथा हुआ है; तम् एव = उसी; एकम् = एक; आत्मानम् = सबके आत्मरूप परमेश्वर को; जानथ = जानो; अन्याः = दूसरी; वाचः = सब बातों को; विमुञ्चथ = सर्वथा छोड़ दो; एषः = यही; अमृतस्य = अमृत का; सेतुः = सेतु है।

अर्थात् विश्व में दिखने वाले पृथिवी, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र ये देव परमात्मा के विशाल शरीर में विविध अंगों के रूप में रह रहे हैं। वेदों में उपलब्ध इस वर्णन में उस परमेश्वर की सर्वव्यापकता व अपरिच्छिन्नता को दर्शाने के लिए इस विस्तृत जगत् को उसका देह कल्पित किया गया है। पाठक अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त के वर्णन के साथ पुरुषसूक्त के विराट् पुरुष का वर्णन करने वाले मन्त्रों की तुलना करें तो जान पायेंगे कि विराट् पुरुष यही है जो पृथिवी से द्युलोकपर्यन्त दिख रहा है। यह प्रत्यक्ष है। पृथिवी उसके पाँव के स्थान में है, अन्तरिक्ष उसका पेट है और द्युलोक उसका सिर है। इन तीनों लोकों में जो कुछ है, वह सब विराट् पुरुष के शरीर में रहता है।

वेद, उपनिषद्, गीता सब के सब शास्त्र इस विषय में एकमत हैं कि यह

जगत् ईश्वर की रचना है, ईश्वर का यह स्व है, ईश्वर इस जगत् का मालिक है, यह जगत् ईश्वर का वैभव है, उसकी महिमा है। सो किसी भी साधक का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वह इस जगत् के साथ अपना उचित सम्बन्ध स्थापित करे, जगत् के साथ अपने सम्बन्धों को ठीक-ठीक सुनिश्चित करे, जिससे कि यह प्रत्यक्ष जगत् साधक के लिए अमूर्त व अमृत ब्रह्म का संकेतक बन जाये।

ब्रह्म का मूर्त या मर्त्य रूप साधक को सदा अमूर्त या अमृत स्वरूप का स्मरण कराता रहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं च विज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते। (ब्रह्मानन्द वल्ली षष्ठ अनुवाक)

सबसे बड़ा प्रश्न है संसार की रचना कैसे हुई? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं— उसने ‘कामना’ की। क्या कामना की? मैं एक से अनेक हो जाऊँ, प्रजनित हो जाऊँ। उसने ‘तप’ (यस्य ज्ञानमयं तपः) किया। सृष्टि की रचना करने का अर्थ है ‘क्रिया’ (Activity) का प्रारम्भ हो जाना। ब्रह्म की यह ‘क्रिया’ बढ़ते-बढ़ते जब उग्र रूप में पहुँची तो उसी अवस्था को ‘तप’ कहते हैं। ‘तप’ है क्रिया की उग्र-अवस्था (Activity in Climax)। तप करने के बाद उसने इन सब का सृजन किया। जो कुछ भी है, उसकी सृष्टि करके, उसे रचकर— उसमें वह अनुप्रविष्ट हो गया। ब्रह्म के सृष्टि में अनुप्रविष्ट होने पर ब्रह्म के दो रूप हो गये। एक रूप है ‘सत्’ दूसरा ‘त्यत्’ अर्थात् तत्। ‘सत्’ वह है जो दृश्यमान संसार है— यह भी ब्रह्ममय है। ‘तत्’ जो ‘यह’ नहीं, ‘वह’ है, अदृश्यमान है, अगोचर है। ब्रह्म का एक ‘निरुक्त’ रूप है, जिसका निर्वचन हो सकता है, वर्णन हो सकता है; दूसरा ‘अनिरुक्त’ रूप है, जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, वर्णन नहीं हो सकता। एक रूप निलयन रूप है अर्थात् दूसरे के आश्रय से स्थित है, दूसरा ‘अनिलयन’ रूप है अर्थात् स्वाश्रित रूप है अर्थात् बिना किसी दूसरे के सहारे स्थित है, छान्दोग्य उपनिषद् में भगवान्

सनत्कुमार ने नारद को उपदेश देते हुए जिसे ‘भूमा’ कहा है। एक रूप ‘विज्ञानरूप’ है, चेतनरूप है, दूसरा ‘अविज्ञानरूप’ है, जड़रूप है। इस प्रकार ‘सत्’ और ‘त्यत्’— ‘यह’ और ‘वह’— इन दोनों रूपों के मेल से सत् का स और ‘त्यत्’ का ‘त्य’ मिलकर ब्रह्म का (स + त्य) रूप हो जाता है। ब्रह्म का सत् और त्यत् रूप ही ब्रह्माण्ड में सत्य रूप कहलाता है। जिसके लिए गीता में कहा है— ‘समग्रं माम्’ (७.१), ‘वासुदेवः सर्वमिति’ (७.१९)।

सरलार्थ यह है— ब्रह्म के दो रूप हैं— ‘सत्’ तथा ‘तत्’, ‘यह’ तथा ‘वह’। ‘यह’ का अर्थ है— यह दृश्यमान जगत्, ‘वह’ का अर्थ है भगवान् का वह रूप जो इस दृश्यमान जगत् से भिन्न है, अदृश्य है, चैतन्यरूप है। उपनिषत्कार का कहना है कि ब्रह्म को देखने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं, यह संसार जो दिखता है यह ब्रह्म का ही प्रत्यक्ष रूप है, इसी के माध्यम से या इसी में उसको देख सकते हैं। इसी भाव को लेकर गीता में कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (७.४)।

☞ आने-जाने वाले ज्ञान से कुछ काम नहीं बनेगा, ज्ञान की स्थिरता परम आवश्यक है।

☞ सत्त्व रजस् और तमस् तीनों गुणों को हम इस रूप में देख सकते हैं— तमस् है शक्ति का संगृहीत रूप (Stored energy), रजस् अर्थात् क्रिया, उस क्रिया के द्वारा वह प्रसुप्त शक्ति सत्त्व अर्थात् प्रकाश में बदलती रहती है। सत्त्व का प्रसुप्त रूप तमस् है तो तमस् का जागरित रूप सत्त्व है। बीच में रजस् है जो तमस् के सत्त्व में परिवर्तन होने में मध्यस्थ की भूमिका निभाता है। क्रिया ठीक-ठीक होती है तो उसी अनुपात में प्रकाश अपने शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम रूप में कार्य करता है। क्रिया मन्द पड़ जाए या आवश्यकता से अधिक होने लगे तो दोनों ही स्थितियों में प्रकाश भी धूमिल पड़ जाता है। सहज रूप में गुणों का परिवर्तन चलता रहता है, किन्तु जीव अपनी इच्छा शक्ति से, अपनी एकाग्रता से इन गुणों का एक भिन्न पथ

भी निर्धारित कर सकता है, इनको एक भिन्न पथ पर चला सकता है। इसी का नाम साधना है, अभ्यास है, पुरुषार्थ है।

☞ 'सौन्दर्य व प्रेम' का अनुभव करने के लिए मन का पूर्ण शान्त होना आवश्यक है।

☞ जैसे पूर्व दिशा में जाने से पश्चिम दिशा अपने आप दूर हो जाती है। वैसे ही भगवत्प्राप्ति होने पर जड़ स्वयं छूट जाता है।

☞ हमारे साथ किसी ने दुर्व्यवहार कर दिया या जैसा व्यवहार करना चाहिये था वैसा नहीं किया और इससे शिकायत की ग्रन्थि बन गयी तो इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये कि शिकायत हमारे अशुद्ध चित्त को इङ्गित कर रही है। शुद्ध चित्त व्यक्ति को कभी भी किसी से कोई शिकायत नहीं होती।



३९. संध्या, शास्त्र व सत्संग का स्वयं में अवतरण

एक साधक बहुत लम्बे समय से संध्या करता चला आ रहा है, किन्तु उसको इस बात का बहुत कष्ट है कि अभी संध्या तेरे स्वभाव में नहीं आ पाई है। वह बड़ी आह भर कर अपनी वेदना प्रकट करता है कि न जाने यह संध्या मेरे जीवन में कब उतर पाएगी। एक उसका मित्र है जो स्वाध्याय-रसिक है। उसने बहुत व्यापक अध्ययन किया है। हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत तीनों भाषाओं में लिखित ग्रन्थों व शास्त्रों को वह पढ़ता रहता है। किन्तु ग्रन्थों व शास्त्रों में जो संदेश दिया गया है वह जीवन में पूरा नहीं उतर पा रहा है, शास्त्रों का संदेश उसका स्वभाव नहीं बन पा रहा है वह भी अपने साथी की तरह एक दिन दुःखी होकर कहता है कि वह दिन कब आएगा जब ये शास्त्र मेरे जीवन में उतर पायेंगे। उनका एक तीसरा मित्र है जो सत्संग प्रेमी है। जहाँ भी कहीं किसी साधु-महात्मा, किसी महापुरुष के बारे में सुनता है, तत्काल वहीं पहुँच जाता है। सैकड़ों अच्छे-अच्छे साधुओं से वह मिला, उनसे मिलकर उसे बहुत आनन्द व सन्तोष का अनुभव भी हुआ किन्तु अपने दोनों मित्रों की तरह उसे भी इस बात का बड़ा खेद है कि इन महापुरुषों की शिक्षाओं व उनके उपदेशों को वह अपने जीवन में पूर्ण रूप से उतार नहीं पा रहा है।

ऊपर जो ये तीन उदाहरण दिये गये हैं वे तीन प्रकार के मनुष्यों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। संसार में ऐसे लोगों की एक बड़ी संख्या देखने को मिलती है कि वे संध्या, स्वाध्याय व सत्संग तो करते हैं, पर वे अपने जीवन को ठीक वैसा नहीं बना पा रहे हैं जैसी उन्हें प्रेरणा मिल रही है। यदि कोई साधक संध्या करते-करते ध्यानमय हो गया है, जीवन में अन्तर्मुखता आ गई है, भगवान् से अनन्य प्रेम हो गया है, भौतिक सुख सर्वथा विरस प्रतीत होने लगे हैं, अहङ्कार से पीछा छुट गया है, प्रपञ्च के बीच में शान्ति सहज हो गई है, कामोन्माद-भोगोन्माद-लाभोन्माद सर्वथा निष्क्रिय हो गये हैं, इन्द्रियों के आकर्षण सर्वथा अपना अस्तित्व खो बैठे हैं, विकार के हेतु उपस्थित होने पर भी जो धीर बना रहता है कर्म के बीच में भी जिसका आन्तरिक तेज खो नहीं जाता है,

प्रकृति जिन प्रलोभनों को मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत करती है वह उनका दिव्य विजेता बना रहता है, समता उसका स्वभाव हो गई है, जैसे स्वयं भगवान् इस सृष्टि के बीच में रहते हैं वैसे ही जो भौतिक जीवन के मध्य में पार्थिव शरीर को धारण करते हुए समस्त प्रपञ्च से अप्रभावित जीवन जीता है तो समझना होगा कि संध्या उसके जीवन में उतर गई है। ठीक यही स्थिति यदि स्वाध्याय प्रेमी व्यक्ति की भी बन गई है, जिन ग्रन्थों व शास्त्रों के वह सम्पर्क में होता है वैसा ही यदि उसका जीवन हो गया है तो समझा जाएगा कि अमुक व्यक्ति स्वाध्यायशील है। सत्संग प्रेमी व्यक्ति के जीवन में भी यदि महापुरुषों की शिक्षाएँ उतर गई हैं, जो साक्षात् महापुरुष ही बन गया है तो ही कहा जा सकता है कि इसका सत्संग करना सार्थक है अब उसे सत्संग के लिये कहीं नहीं जाना पड़ता, संसार के लोग ही दिशा लेने के लिये उसके पास आते हैं। सारी चर्चा का सार यह निकला कि इन उपर्युक्त तीनों व्यक्तियों की पूर्णता वही बन जाने में है (स एवं भवति य एवं वेद) जब तब यह स्थिति नहीं आती बिना हार माने अपने प्रयास को सतत जारी रखना चाहिए।

• महान् आचार्यों ने हमको समझाया कि प्रज्ञापराध ही सब समस्याओं की जड़ है और प्रज्ञापराध है प्रज्ञा का अपने कार्य से च्युत होना। प्रज्ञा के तीन रूप हैं— धी, धृति और स्मृति। धी का काम है— हित-अहित और नित्य-अनित्य को देखना; धृति का काम है— मनुष्य को बुराई की तरफ से रोके रखना या पकड़ कर रखना; और स्मृति का विषय है 'कल्याणकारी विषय को सदा याद रखना।' 'प्रज्ञावान् बनकर जीना' जीवन के महनीय कार्यों में से एक है। धन्य हैं वे लोग जो सदा ही प्रज्ञावान् बने रहते हैं।

४०७७७

४०. सहज आनन्द

• एक साधक ने अपने गुरु से आशीर्वाद माँगा। उत्तर में गुरु ने कहा— 'सहज रहो'। अब यहाँ देखना यह है कि सहज रहना क्या है? किसी शब्द के अर्थ तक पहुँचने के लिये, विशेषकर उन शब्दों के अर्थ तक जो किसी अतीन्द्रिय अर्थ के संकेतक हैं, सम्मिलित रूप से दो रास्ते अपनाए जाते हैं— एक सकारात्मक (positive) दूसरा निषेधात्मक (Negative)। 'सहज रहना' इसकी सकारात्मक व्याख्या यह होगी कि शान्त रहना, अपने मूल स्वभाव में रहना, चित्त की प्रशान्तवाहिता रूप एकाग्र भूमि या एकाग्र स्थिति में ठहर जाना, भगवान् की पराप्रकृति में रहना, सच्चिदानन्द बनकर जीना, समाधान में जीना, आन्तरिक रूप से पूर्ण विश्राम या अप्रयत्न स्थिति में जीना, प्रेमस्वरूप होकर जीना, सत्य में स्थित हो जाना, धीर बनकर रहना, पूर्ण प्रज्ञावान् रहना, स्वरूप में अवस्थित रहना इत्यादि। यह अन्वय के आधार पर सहज शब्द के अर्थ तक पहुँचना हुआ। निषेधात्मक पक्ष से 'नेति-नेति' के द्वारा किसी भी शब्द के अर्थ तक पहुँचना होता है। सो सहज शब्द के अर्थ तक पहुँचने के लिये व्यतिरेक के माध्यम से यह प्रक्रिया अपनानी होगी कि यह अवस्था भी सहज नहीं है, यह भी सहज नहीं है। यह जानना होगा कि 'सहज रहना' क्या-क्या नहीं हो सकता। सहज जीवन को उपलब्ध करने के लिये किसी भी व्यक्ति को कहाँ-कहाँ से, किन-किन स्थितियों या परिस्थितियों से हटना होगा।

जब जब कोई व्यक्ति विक्षोभ की स्थिति में होता है, प्रतिक्रिया या प्रतिशोध के भाव में होता है, काम-क्रोध-लोभ आदि किसी भी विकार में फंसा हुआ होता है, कोई किसी भी प्रकार के भय (अपमान का भय, किसी दूसरे से सम्मान कम मिलने का भय, असुरक्षा का भय, चोर-भय, नौकरी छूटने का भय, असफलता का भय, किसी के बुरा मानने का भय, अपनी आन्तरिक स्थिति बिगड़ने का भय, किसी भी दौड़ में पिछड़ जाने का भय, किसी के सहयोगी न रहने का या विरोधी हो जाने का भय, किसी की गलत टिप्पणी का भय, किसी प्रियजन के वियोग का भय, अप्रिय संयोग का भय, किसी मजबूत प्रतिस्पर्द्धी का भय, कृतपापों का भय,

किसी पद के छिन जाने का भय) में होता है, शरीर-मन-वाणी या इन्द्रियों के असंयम में होता है, किसी भी प्रकार के खिंचाव-तनाव में होता है, किंकर्तव्यविमूढ़ (Confused) स्थिति में होता है, थोड़ा सा भी त्रिविध दुःख से संतप्त होता है अर्थात् जब किसी भी कारण से दुःखी होता है।

चाहे ईश्वरीय विधान हो या गुरु का विधान, शास्त्र का विधान हो या समाज का विधान, शासन का विधान हो या स्वयं का ही, किञ्चित् भी यदि व्यक्ति किसी नियम को या विधान को तोड़ देता है या किसी दूसरे के दुःख को बढ़ाने में कोई निमित्त बन जाता है, अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, या अपरिग्रहव्रत का खण्डन हो जाता है, कोई किसी कामना का सताया हुआ है, स्वल्पातिस्वल्प भी यदि अधर्म का आचरण कर बैठता है या कोई किसी के जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप कर बैठता है, किसी से किसी को धोखा हो जाता है या कोई किसी को धोखा दे देता है, कोई अपने ही ज्ञान के विरुद्ध आचरण करता है, किसी भी स्तर पर कोई अशुभ कर्म कर बैठता है, कोई अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश किसी भी क्लेश में है, किसी भी भूतकाल के संस्कार से किसी का पीछा नहीं छूट रहा है, कोई लज्जाजनक कर्म कर बैठता है, किसी भी प्रकार की उलझन में है, आत्मज्ञान का अभाव है अर्थात् अपने सच्चे स्वरूप से अपरिचित है, सम्बन्धों की समझ नहीं है या उनका निर्वाह ठीक से नहीं हो रहा, अपने आपको किसी से हीन या श्रेष्ठ समझ रहा है, दो व्यक्तियों की तुलना कर रहा है। इन और इस प्रकार के सभी प्रसङ्गों में व्यक्ति असहज हो जाता है, अर्थात् उपर्युक्त परिस्थितियों में कभी भी व्यक्ति सहज नहीं रह पाता है। जो यह चाहता है कि मैं सर्वत्र सदा-सर्वथा सहज रहूँ, उसे अपने आपको ऊपर कही गई सब बातों से बचाना होगा।

किसी व्यक्ति ने किन्हीं सत्त्यों को शास्त्र, गुरु या स्वयं के विचार से सीख लिया, बुद्धि से समझ लिया किन्तु अभी वे सत्य स्वभाव में नहीं आ पाये हैं, व्यक्ति उन सत्त्यों को जीवन में उतारने के लिये आन्तरिक रूप से घनघोर पुरुषार्थ या प्रयास कर रहा है तो भी यही कहा जायेगा कि अभी अभीष्ट सहज अवस्था प्राप्त नहीं हुई है। धर्मचारी और धर्मस्थ (धर्मशील) ये दोनों पृथक् अवस्थाएँ हैं,

जैसे कि जो धन कमा रहा है तथा जो धनी है, ये दो भिन्न अवस्थाएँ हैं।

सहज अवस्था उन्नत ज्ञान का परिणाम विशेष है। जब व्यक्ति में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब यह अवस्था आती है। धर्म का अर्थ है— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, दया तथा दान ये बारह प्रकार के कर्म धर्म कर्म हैं। इनके विपरीत कर्म अधर्म कर्म हैं, जैसे— हिंसा, मिथ्या, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, अशुचिता, असंतोष, अतपस्या, अस्वाध्याय, अनीश्वर गुणों की भावना, निर्दयता तथा कृपणता। धर्म की प्रतिष्ठा से अधर्म स्वतः ही अपदस्थ हो जाता है। धर्म और अधर्म में अहिंसा व हिंसा ही प्रधान है। अहिंसा का अर्थ है किसी को मन, वचन से पीड़ा न देना। दूसरों को पीड़ा न देना कोई कर्म नहीं है बल्कि कर्मविशेष का न करना है। इस 'न करने' के मूल में जो भाव रहता है उससे इष्ट फल होता है। यदि यह देखा जाये कि अहिंसा के मूल में क्या रहता है तो कहना होगा— अक्रोध, अलोभ और अमोह अर्थात् मैत्री करुणा, संवेदना और आत्मसंयम आदि अति उन्नत ज्ञान के कार्य।

ज्ञान का अर्थ है सत्यविषय का और सत्य नियम का यथार्थ ज्ञान। ऐश्वर्य अर्थात् ऐसी उपयुक्त शक्ति जिससे इच्छा की सिद्धि होती है। वैराग्य का अर्थ है अनासक्ति, विषयों से पूर्ण उपरामता, विषयों के प्रति गहन उदासीनता। इस प्रकार धर्म-ज्ञान आदि की सुप्रतिष्ठा का यह स्वाभाविक परिणाम है— उपर्युक्त 'सहज अवस्था'।

• जहाँ शासन नहीं, फिर भी पूर्ण अनुशासन है। प्रयास नहीं फिर भी सतत आरोहण है। जहाँ नियमों का कोई बन्धन नहीं फिर भी पूर्ण नियम पालन है। शास्त्र व गुरुजनों की पराधीनता में भी जहाँ पूर्ण स्वाधीनता है। आलम्बन के बिना ही मन का ठहराव है, अर्थात् ध्येय के बिना ही ध्यान है (ध्यानं निर्विषयं मनः)। ये सब मनुष्य की सहज अवस्था के सुमधुर फल हैं।

• अपनी आत्मा में ही स्थिर हो जाने का नाम है सहज आनन्द। अपने चैत्य पुरुष से हटते ही हम असहज हो जाते हैं

• ऐ साधक! सहज जीवन जीने के लिये दूसरों से सब आशाएँ व अपेक्षाएँ

छोड़कर अपने पैरों पर खड़ा हो जा।

- ऐ साधक! क्या सचमुच तुझे सहजता पसन्द है? यदि हाँ तो कामनाओं के इस विशाल ताने-बाने को जो तूने अपने ही हाथों से बुना है, इसको धीरे से एक तरफ सरका दे।
- ऐ साधक! यदि सहजता तेरा लक्ष्य है तो सहजता को ही अपना मार्ग बना ले, फिर जरा देख यह सहज आनन्द कैसे घटित नहीं होता?
- चिन्मय अवस्था का ही दूसरा नाम है सहज अवस्था। किसी भी प्रकार की हल्की सी भी कामना व्यक्ति को असहज बनाने में पर्याप्त है।
- अपने बारे में कुछ भी प्रतिकूल सुनकर विक्षुब्ध होना या अनुकूल सुनकर राजी या प्रसन्न होना व्यक्ति के दोनों ही रूप असहज रूप हैं।
- परम मौन अर्थात् प्रतिक्रिया से शून्य अवस्था ही सहज अवस्था है। यह मनुष्य जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है।
- सहज अवस्था विचार लोक की चीज नहीं है बल्कि यह तो आत्म स्पर्श के बाद घटित हुई घटना है।
- मनुष्य को अपनी ही आत्मा का अनुभव क्यों नहीं हो पाता? क्या कारण है कि स्वयं ही स्वयं से ओझल रहता है? इसका कारण है— हृदय की अशुद्धि। कोई आत्मदर्शन का प्यासा है तो उसे यह पर्दा हटाना ही होगा।
- हृदय की अशुद्ध अवस्था में वर्षा को पाकर घास की तरह कामनाएँ तो स्वतः ही लहराने लगती हैं और फिर वे हृदय को और भी अशुद्ध करती रहती हैं। जब हृदय की सहजता पर कामनाओं का वज्रपात होता है तो हृदय अपनी सहजता को खो बैठता है।
- 'साधन के बिना कोई भी साध्य नहीं मिलता' यह एक प्रसिद्ध बात है। किन्तु एक स्थिति में साधन को उपलब्ध करना ही साध्य होता है। जैसे धन सुख प्राप्ति का साधन है किन्तु धन को प्राप्त करने के लिये कृषि-व्यापार आदि साधन अपनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ जीवन में सरलता, श्रद्धा-भक्ति-प्रेम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, धृति, क्षमा, दया, दान, मैत्री, करुणा, मुदिता आदि साधनों को सिद्ध करने के लिये इन्हीं साधनों

को अपनाना होता है। इसे यों समझा जा सकता है जैसे लोक में धन से धन बढ़ता है वैसे ही साधक इन उपर्युक्त साधनों से इन्हीं को बढ़ाता है। मैत्री, करुणा, मुदिता आदि भावनाओं या अध्यात्म जीवन के सम्बल-भूत उपयोगी सत्य आदि साधनों को सिद्ध करने के लिये वह इन्हीं का सहारा लेता है। अर्थात् साधक इन्हीं साधनों के द्वारा सत्य आदि की सिद्धि करता है। साधन जब अपनी पराकष्टा में होता है तो वह सहजता रूप सिद्धि में बदल जाता है।

- हे प्रभो! आपके प्रेम, आपके ज्ञान, आपकी करुणा, आपकी कृपा तथा आपके आशीर्वाद की ओर जब-जब मैं अपने को उद्घाटित करता हूँ तब-तब कितना सहज आनन्द से परिपूर्ण होता हूँ— यह मेरे लिये एक दर्शनीय घटना होती है।
- व्यक्ति की किसी भी कामना में बाधा पड़ते ही वह असहज हो जाता है, इसलिये सहज जीवन जीने के लिये अकाम होना आवश्यक है।
- शान्ति का अर्थ है— अशान्ति व उसके कारणों का न होना।
- प्रेम का अर्थ है— घृणा, वैर-विरोध, अधिकारभाव, तुलना, स्पर्द्धा व उपेक्षा का न होना।
- दया का अर्थ है— क्रूरता, कठोरता या रूक्षता का न होना।
- स्वच्छता का अर्थ है— अस्वच्छता, गन्दगी, कूड़ा-कर्कट का न होना।
- अहिंसा का अर्थ है— हिंसा, पीड़ा, कष्ट प्रदान का न होना।
- सत्य का अर्थ है— दिखावा, ढोंग, पाखण्ड, मिथ्याचार का न होना।
- सहजता का अर्थ है— चञ्चलता, जड़ता, उतावलापन का न होना।
- धर्म का अर्थ है— हिंसा-असत्य-चौर्य-असंयम आदि अधर्म का न होना।
- देवत्व का अर्थ है— अदानभाव, स्वार्थभाव व असुरभाव का न होना।
- ब्रह्मचर्य का अर्थ है— विषयचारिता का तिरोहित हो जाना।
- अकाम होने का अर्थ है— कामनाओं का अन्त हो जाना।
- सुख का अर्थ है— किञ्चित् भी दुःख, बाधा, कष्ट का न होना।
- सन्तोष का अर्थ है— असन्तोष की आग का बुझ जाना।

४१. आत्मसाक्षात्कार के उपाय

केवल श्रवण मात्र से या यह कहें कि श्रवण और मनन दोनों से भी कोई अपने सच्चे स्वरूप (परम आत्मा) का अनुभव नहीं कर सकता। श्रवण से किसी भी विषय की जानकारीयाँ मात्र प्राप्त होती हैं। हाँ! उससे यह लाभ अवश्य होता है कि सुनने वाला जब सुनने के साथ मनन भी करता है तो उस मनन के द्वारा उस की बुद्धि एक विशेष प्रकार की बन जाती है, अर्थात् बुद्धि में एक विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, फिर वह विशिष्ट ज्ञान अपने अनुरूप भावों को पैदा कर देता है। इस प्रकार भावों के शुद्धिकरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है। भावों के शुद्ध होने से व्यक्ति का हृदय शुद्ध होने लगता है। हृदय की शुद्धि यही है कि हृदय में शुद्ध भावों के बढ़ने से हृदय के क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-राग-द्वेष-घृणा-भय आदि अशुद्ध भावों की जड़ें हिल जाती हैं। अशुद्ध भाव पदच्युत होने लगते हैं जैसे कि कोई थानेदार किसी मकान में रहने लगे तो चोर या तो अपने चौर्य कर्म को छोड़ देते हैं या फिर उस मकान को ही छोड़कर चले जाते हैं। किन्तु मननरहित श्रवण से तो इतना भी नहीं हो पाता। संसार में ऐसे भी लोग एक बहुत बड़ी संख्या में देखने को मिलते हैं जो पर्याप्त सुनते या पुस्तकें पढ़ते रहते हैं किन्तु वे मनन नहीं करते, उनकी तो भावशुद्धि भी नहीं होती, किञ्चित् भी उनके हृदय का परिवर्तन नहीं होता। केवल वे उन वाक्यों को जो उन्होंने किसी से सुने हैं या पढ़े हैं, उनको दूसरों के सामने दोहराते रहते हैं। इससे उनके अहङ्कार को एक अपूर्व सन्तुष्टि मिलती रहती है कि वे इतनी सारी बातें जानते हैं जिनका किसी को कुछ पता ही नहीं है। किन्तु श्रवण-मनन ठीक से आचरित होने पर भी व्यक्ति को अपने सच्चे स्वरूप को पाने के लिये एक आन्तरिक विशेष प्रयास की आवश्यकता होती है, उस प्रयास के ही ये विविध नाम हैं— निदिध्यासन, नीरवता, परम मौन, ध्यान-समाधि, चित्तवृत्ति निरोध (चित्त के द्वारा उपलब्ध किये जाने वाले या उपलब्ध होने वाले ज्ञान का अर्थात् ज्ञानात्मक व्यापार का पूर्ण निरोध) इत्यादि।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह परम मौन या नीरवता की स्थिति कैसे

प्राप्त हो? क्या उपाय अपनाया जाये कि यह स्थिति उपलब्ध हो जाये? इसके उत्तर में कहना होगा कि एक उपाय तो है 'सांख्य' मार्ग के रूप में जिसे ज्ञानमार्ग भी कहते हैं। इसी उपाय के अन्तर्गत **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।** (यो० सू० १.१२) यह कथन हुआ है। उपनिषद् व सांख्य में 'नेति-नेति' के द्वारा भी शब्दान्तर से इसी उपाय को दर्शाया है। इसी उपाय को लक्ष्य करके सांख्य कारिका में कहा है— **एवन्तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥** (सां० का० ६४)॥ श्रीमद्भगवद्गीता में भी चञ्चल मन को रोकने के उपाय प्रसङ्ग में यही कहा है— **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥** (गीता ६.३५)॥ इन सब कथनों का सार यही है कि जिन विषयों में अज्ञान के कारण सुखबुद्धि बना ली है संसार के उन समस्त विषयों से, अविद्यापूर्ण सम्बन्धों से तथा अविद्यायुक्त क्रियाओं से अपने मन को हटाना और शुद्ध चैतन्य को खोजकर उसमें स्थित हो जाना है।

दूसरा उपाय है— ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना, प्रेम, समर्पण व भक्ति) का। वेदों व श्रीमद्भगवद्गीता में इसका विशद वर्णन है। योगदर्शन में भी एक स्वतन्त्र उपाय के रूप में इसका कथन हुआ है। हम यहाँ उदाहरण के रूप में केवल एक मन्त्र प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस उपाय से हमें कैसे लाभ लेना चाहिए। मन्त्र है— **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥** (यजु० ५.३६, ७.४३, ४०.१६)

भक्त अपने अन्तर्वासी व अन्तर्यामी भगवान् को सम्बोधित करके कह रहा है कि 'हे ज्योतिःस्वरूप! ज्ञानस्वरूप भगवन्! हमें आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिये मार्गदर्शन करो क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं, हमारे लिये जो भी उचित है, शिव है, मङ्गलस्वरूप है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं। मैं अपने को निर्बल (helpless) मानता हुआ आपसे साहाय्य माँगता हूँ कि मेरी कुटिलताओं को, मेरे अज्ञान को, मेरे अंधेरे को, मेरे सभी पापों को मुझसे दूर कर दीजिये। हे प्रभो! कृपा करो सद्बुद्धि, संतोष, संयम, सद्भाव सदा मुझमें जागरित रहे। मैं आपकी शरण में हूँ। साधक को चाहिए कि उस परम

ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के समक्ष उपर्युक्त रूप में अपना आत्मनिवेदन रखे और १०-१५ सेकण्ड के लिये चुप हो जाये, विचार रहित हो जाये। जब-जब मन में विचार आने लगे फिर वही प्रक्रिया अपनाए। साधक को एक तरफ अपने मन में शिव संकल्पों के लिए अभीप्सा जगानी होती है तो दूसरी तरफ साथ-साथ निःसंकल्प स्थिति में भी रहना होता है। सुविचार और निर्विचार की इस उभयविध प्रणाली से आगे बढ़ना होता है। प्रायः साधक शिवसंकल्प, सुविचार, स्तुति, प्रार्थना आदि में तो रहते हैं किन्तु निर्विचार, निःसंकल्प या उपासना (परम मौन) की तरफ ध्यान नहीं देते। नीरवता, निदिध्यासन या उपासना (अन्तःसत्य के साथ अभिन्नता, एकत्व, अद्वैत) के बिना श्रवण-मनन से जो जानने में आया है या आता है उसका साक्षात् अनुभव नहीं होता। अतः यह परम आवश्यक हो जाता है कि जब-जब साधक अपने भीतर स्तुति या प्रार्थना की स्थिति बनाये तब-तब उसके साथ उपासना (गहन चुप्पी) को भी साथ में लेकर चलता रहे। इसी बात को व्यासदेव जी ने **तज्जपस्तदर्थभावनम्** (यो०सू० १.२८) की व्याख्या करते समय विष्णु पुराण का एक उद्धरण देते हुए कहा है— **स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।** (विष्णु पु० ६.६.२) स्वाध्याय से योग का एवं योग से स्वाध्याय का उत्कर्ष करना चाहिए। स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति अर्थात् बारी-बारी से दोनों के संपादित उत्कर्ष द्वारा परमात्मा प्रकाशित होते हैं। स्वाध्याय का अर्थ है— परमात्मा की स्तुति व प्रार्थना, आत्मनिवेदन, अपनी अभीप्सा का अनुभव करना, अपनी माँग को अपनी मन-बुद्धि में लाकर उसे हृदय की गहराई से महसूस करना और योग का अर्थ है पूर्ण चित्तवृत्ति निरोध की स्थिति में चले जाना, परम मौन या गहन चुप्पी Deep-silence को साध लेना (बेशक १०-१५ सेकण्ड के लिये ही सही)। इस प्रकार यदि साधक अपने रास्ते पर आगे बढ़ते हैं तो स्वयं ही उनके समक्ष इस प्रक्रिया का गुप्त रहस्य खुल जायेगा और वे असाधारण रूप से लाभान्वित होंगे। यह असंदिग्ध है।

४०४०७७७

४२. मोक्ष-विद्या

चरक संहिता के शारीर स्थान का पञ्चम अध्याय ‘**पुरुषविचय शारीर**’ नाम से जाना जाता है। पुरुषविचय का अर्थ है पुरुष की खोज। अग्निवेश ने अपने आचार्य पुनर्वसु आत्रेय से पूछा कि आपने जो यह कहा है कि ‘**पुरुषोऽयं लोकसम्मितः**’ अर्थात् यह पुरुष लोकसम्मित है, लौकिक भावों से समानता रखता है। जितने मूर्तिमान् भावों के भेद लोक में देखे जाते हैं, उतने ही पुरुष में भी होते हैं और जितने मूर्तिमान् भावों के भेद पुरुष में देखे जाते हैं उतने ही लोक में भी होते हैं। लोक और पुरुष की समानता से आप क्या कहना चाहते हैं, यह हम अभी स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहे, कृपा करके समझाये— हम इसको स्पष्टता से जानना चाहते हैं।

भगवान् आत्रेय ने उससे कहा— लोक (दिखायी देने वाले इस संसार) के अवयव विशेष (भेद) असंख्य हैं। उनमें से कुछ स्थूल भावों की दोनों में परस्पर समानता दिखायी जा सकती है। छह धातुएँ मिलकर ‘लोक’ इस संज्ञा को प्राप्त करती हैं। वे छह धातुएँ इस प्रकार हैं— १. पृथिवी, २. जल, ३. तेजस् (अग्नि), ४. वायु, ५. आकाश तथा ६. अव्यक्त ब्रह्म। ये ही छह धातुएँ मिलकर ‘पुरुष’ इस शब्द, इस संज्ञा को प्राप्त करती हैं।

उस लोकसम्मित पुरुष की पृथिवी मूर्ति (दृश्यमान यह स्थूल शरीर) है, जल क्लेद (क्लिन्नता, गीलापन) है, तेजस् तत्त्व उसकी शारीरिक ऊष्मा (गर्मी) है, वायु उसके प्राण हैं, आकाश उसके शरीर में छिद्रसमूह (जहाँ वायु का विचरण होता है) तथा अव्यक्त ब्रह्म उसका अन्तरात्मा है। जैसे लोक में ब्रह्म (जगत्स्रष्टा) की विभूति दिखायी देती है, उसी प्रकार पुरुष में भी अन्तरात्मा की विभूति है। लोक में ब्रह्म की विभूति प्रजापति है, पुरुष में अन्तरात्मा की

विभूति मन है जो लोक में इन्द्र है वही पुरुष में अहङ्कार है। जैसे संसार में सूर्य सबकी आयु को ग्रहण कर रहा है वैसे ही पुरुष में आदान कर्म चल रहा है, जो लोक में रुद्र है, वही पुरुष में रोष (क्रोध) है। जो लोक में सोम है, वही पुरुष में प्रसाद (प्रसन्नता) है। जो लोक में अष्टवसुओं का स्वरूप है, वही पुरुष में सुखरूप है। जो लोक में अश्विनीकुमार हैं, वही पुरुष में कान्ति है। जो जगत् में मरुत् (देवविशेष) हैं, वही पुरुष में उत्साह है।

जो लोक में विश्वे देवाः हैं, वे ही पुरुष में ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और सभी इन्द्रियों के अर्थ (विषय=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) हैं। जो लोक में तमस् है, वही पुरुष में मोह है। जो लोक में ज्योति (प्रकाश) है, वही पुरुष में ज्ञान है। जैसे लोक की सृष्टि आदि (सर्गादि) हैं, वैसे ही पुरुष का गर्भाधानादि है। जैसे लोक में सृष्टि के आरम्भ में सतयुग है, वैसे ही पुरुष के जीवन में बाल्यकाल है। जैसे लोक में त्रेतायुग है, वैसे ही पुरुष में यौवनकाल है। जैसे लोक में द्वापर युग है, वैसे ही पुरुष में स्थविरता (वृद्धता) है। जैसे लोक में कलियुग है, वैसे ही पुरुष में बीमार होना है। जैसे लोक में युग की परिसमाप्ति है, वैसे ही पुरुष में मृत्यु है। अन्त में भगवान् आत्रेय कहते हैं— हे अग्निवेश! इसी प्रकार अनुमान द्वारा जिन लोकपुरुषसम्मित भावों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, उनकी भी समानता का ज्ञान कर लेना चाहिये। तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापः, वायुः प्राणः, वियत् सुषिराणि, ब्रह्म अन्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिलोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः, ब्रह्मणो विभूतिलोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यास्त्वादानः, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानं, यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं; यथा

कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरं तथा स्थाविर्यं, यथा कलिरिवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणमिति। एवमेतेनानुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेशः; सामान्यं विद्यादिति।। (च० शा० ५.५)

इस पर भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा— इस प्रकार लोक और पुरुष की समानता का जैसा वर्णन ऊपर किया है, यह सब अपवादरहित (तर्कसंगत) है। किन्तु इस सामान्य उपदेश की उपयोगिता क्या है?

भगवान् आत्रेय ने कहा— हे अग्निवेश! सुनो, सम्पूर्ण लोक (संसार) को अपने में और अपने को सम्पूर्ण संसार में समानरूप से देखते हुए पुरुष की सत्या बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। सम्पूर्ण जगत् को अपने में देखने वाला पुरुष यह जानता है कि सुख और दुःख का कर्ता आत्मा (षड्धातु समुदाय रूप) ही होता है, अर्थात् आत्मा (षड्धातु समुदाय रूप) के अतिरिक्त कोई दूसरा, कोई भी अन्य सुख-दुःख की उत्पत्ति या प्राप्ति में कारण नहीं होता है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् कर्मात्मक ही होता है। कारण आदि से युक्त सम्पूर्ण जगत् रूप 'मैं ही हूँ', ऐसा जानकर मोक्षप्राप्ति के लिये सर्वप्रथम ज्ञान की उत्पत्ति कराई जाती है। वहाँ लोकशब्द संयोग की अपेक्षा करता है। षड्धातुसमूह (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा आत्मा) ही सामान्य रूप से सम्पूर्ण लोक है। (भगवानुवाच— शृण्वग्निवेश! सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सममनुपश्यतः सत्या बुद्धिः समुत्पद्यते। सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्ता नान्य इति। कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति। तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः। षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतो सर्वलोकः। च० शा० ५.७)

सम्पूर्ण जगत् को अपने में और अपने को सम्पूर्ण जगत् में देखने की जिस प्रक्रिया का वर्णन भगवान् आत्रेय ने किया है, यह एक यौगिक साधन

प्रणाली का प्रारम्भ है। जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—
‘सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः’।
६.२९। इसी के आगे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं— ‘आत्मौपम्येन सर्वत्र समं
पश्यति सोऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥६.३२।’
चाणक्य नीति में भी कहा गया है कि ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स
पश्यति’। भगवान् आत्रेय यह कहना चाहते हैं कि जिसके भीतर यह दृष्टि
विकसित हो जाती है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक ही हैं, वह ब्रह्माण्ड में फैली
ब्रह्म और अन्य सभी तत्त्वों की दिव्यता को अपने पिण्ड में अनुभव करता हुआ
उस दिव्यता के साथ जीना आरम्भ कर देता है। जैसे ब्रह्माण्डीय व्यवस्था
सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अविघ्नित रूप से चल रही है, कहीं अव्यवस्था नहीं है, जैसे
ब्रह्म सम्पूर्ण प्रपञ्च, समस्त कर्म व सभी सम्बन्धों के बीच में रहते हुए आनन्द
में है, स्वाधीन है, भयरहित व ज्ञानवान् बना रहता है, उसी प्रकार पिण्ड में रहते
हुए हम भी उसी तरह जी सकते हैं क्योंकि हमारे पास भी तो वे ही सब के सब
तत्त्व, ज्ञान व सामर्थ्य है।

जैसा कि ऊपर बताया ब्रह्माण्ड में प्रजापति (हिरण्यगर्भ, विराट्) ब्रह्म
की विभूति है, हमारे पास भी तो अन्तरात्मा की विभूति सत्त्व (मन) है। स्वयं
ब्रह्म का स्थानापन्न पिण्ड में अन्तरात्मा है। जैसे ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ब्राह्मी
विभूतियाँ विविध रूपों में फैली हुई हैं, वैसे ही पिण्ड में अन्तरात्मा की विभूतियाँ
हैं। जैसे ब्रह्माण्ड में इन्द्र अपराजेय शक्ति के रूप में आसुरी शक्तियों का
संहार करता रहता है वैसे ही पुरुष में शुद्ध सात्त्विक अहङ्कार आसुर भावों का
नाश करने के लिये उद्यत रहता है। ब्रह्माण्डगत आदित्य का प्रतिनिधित्व पुरुष
में आदान भाव करता है जो कि पुरुष की आयु को शनैः शनैः ग्रहण कर लेता
है। रुद्र का प्रतिनिधित्व करने वाला तत्त्व पुरुष में रोष है जो कि बुराई को सहन

नहीं करता। बुराई को या कमजोरी को मिटाने वाला आवेग ही तो पुरुष में रोष
के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार सोम (चन्द्रमा) की आह्लादकता पुरुष में
प्रसन्नता के रूप में प्रकट होती है।

ऐतरेय उपनिषद् में भी यह कहा है कि अग्नि वाक् के रूप में मुख में,
वायु प्राणों के रूप में नासिका में, आदित्य चक्षु के रूप में आँखों में, दिशाये
श्रोत्र के रूप में कानों में, ओषधि-वनस्पतियाँ लोमों के रूप में त्वचा में,
चन्द्रमा मन के रूप में हृदय में, मृत्यु अपान के रूप में नाभि में, जल रेतस्
(शुक्र) के रूप में शिश्न में प्रविष्ट हो गये। इसी प्रकार ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा
निरुक्त में जगह-जगह ‘इत्यधिदैवतम् अथाध्यात्मम्’ कहकर ब्रह्माण्ड व पिण्ड
की समानता की ओर इङ्गित किया है।

उस षड्धातु युक्त लोक तथा पुरुष का हेतु, उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव और
वियोग होता है, उसका परिचय इस प्रकार है—

१. हेतु— उत्पत्ति कारण को हेतु कहते हैं।
२. उत्पत्ति— लोक या पुरुष के जन्म को उत्पत्ति कहते हैं।
३. वृद्धि— अंग प्रत्यंग की वृद्धि एवं पुष्टि को वृद्धि कहते हैं।
४. उपप्लव— दुःख की प्राप्ति, विप्लव तथा उत्पात दर्शन को उपप्लव कहते हैं।
५. वियोग— छह धातुओं के विभाग (आदान या ग्रहण) की प्रक्रिया को
वियोग कहते हैं, वह ही जीवापगम (प्राणों का निकल जाना) कहा जाता है,
वही प्राणनिरोध है, वही भंग (सम्बन्ध-विच्छेद) है, वही लोकस्वभाव है।

उस षड्धातुयुक्त समुदाय से युक्त लोक तथा पुरुष का मूल सभी
प्रकार के उपप्लवों (दुःख आदि) की प्रवृत्ति है। इन सभी प्रकार के दुःखों से
निवृत्ति (छुटकारा) पाना उपरम (शान्ति, मोक्ष) है। सकाम भाव से युक्त

होकर सांसारिक कर्मों की ओर प्रवृत्ति (झुकाव) होना दुःख है और उसकी ओर से निवृत्ति (तटस्थता) में सुख है। इस प्रकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्य है। सम्पूर्ण जगत् और पुरुष में समानता का ज्ञान होना उस ज्ञान का कारण है। उस लोक तथा पुरुष की समानता का यही प्रयोजन है। ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश से कहा— (तस्य हेतुः उत्पत्तिः, वृद्धिः, उपप्लवः, वियोगश्च। तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणं, उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराध्यायनम्, उपप्लवो दुःखागमः, षड्धातुविभागो वियोगः, स जीवापगमः स प्राणनिरोधः स भङ्गः स लोकस्वभावः। तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमः। प्रवृत्तिर्दुःखं, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् सत्यम्। तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञानम् एतत् प्रयोजनं सामान्योपदेशस्येति ॥ च० शा० ५.८)

तदन्तर अग्निवेश ने कहा— भगवान्! प्रवृत्ति का क्या कारण है और निवृत्ति का कौन उपाय है? भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया— मिथ्याज्ञानस्वरूप मोह से इच्छा-द्वेष होते हैं और फिर उन इच्छा-द्वेष से धर्म-अधर्मरूप कर्म किये जाते हैं बस वे ही सब कर्म 'संसार' के मूल हैं। (मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः, च० शा० ५.१०) उस प्रवृत्ति से १. अहङ्कार २. संग ३. संशय ४. अभिसंप्लव ५. अभ्यवपात ६. विप्रत्यय ७. अविशेष ८. अनुपाय, इनकी उत्पत्ति होती है। ये सब पुरुष को उसी प्रकार चारों ओर से घेर तथा दबोच कर बढ़ते हैं जिस प्रकार तरुण (बढ़ते हुए) पेड़ को बड़ी-बड़ी शाखा वाले पेड़ दबाकर ऊपर को बढ़ जाते हैं। जैसे बड़े वृक्षों से घिरा हुआ वह छोटा पेड़ आगे को नहीं बढ़ पाता है, वही स्थिति अहङ्कार आदि से घिरे हुए पुरुष की भी है, क्योंकि यह प्रवृत्तिमार्ग में फंस जाने के बाद उससे अपने को छुड़ा हुआ नहीं पाता है।

यहाँ अहङ्कारादि शब्दों का अर्थ स्वयं भगवान् आत्रेय ने बतलाया—
१. अहङ्कार— मैं श्रेष्ठ जाति का हूँ, मेरा सुन्दर रूप है, मैं धनाढ्य हूँ, मैं

सच्चरित्र हूँ, मैं अत्यन्त बुद्धिमान् हूँ, मेरा स्वभाव बहुत अच्छा है, मैं विद्वान् हूँ, मेरा कुल श्रेष्ठ है, मैं युवक हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं सबसे अधिक प्रभावशाली हूँ, इस प्रकार का ज्ञान अहंकार है।

२. संग— मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये गये सकाम कर्म जो मोक्षमार्ग में साधक नहीं होते बल्कि बाधक होते हैं, उन्हें संग कहते हैं।

३. संशय— कर्म का फल मिलता है या नहीं, मोक्ष की सत्ता है या नहीं, मरने के बाद पुरुष का पुनः जन्म होता है या नहीं, इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं।

४. अभिसम्प्लव— अनात्म को आत्मा समझना ही अभिसम्प्लव है। 'अतस्मिन् सः' बुद्धि ही यहाँ उक्त दोषरूप में कथित है। 'तस्मिन् सः' बुद्धि तो सम्यग्ज्ञान ही है, जैसे परम आत्मा सब अवस्थाओं से शून्य है।

५. अभ्यवपात— माता, पिता, भाई, स्त्री, सन्तान, बन्धु, सम्बन्धी, मित्र, सेवक ये सब समुदाय रूप से मेरे हैं और मैं इस समुदाय का हूँ, ऐसा विचार करना अभ्यवपात है।

६. विप्रत्यय— कार्य-अकार्य, हित-अहित, शुभ-अशुभ मे विपरीत अभिनिवेश को ही विप्रत्यय कहते हैं।

७. अविशेष— ज्ञ-अज्ञ (ज्ञानी-अज्ञानी) प्रकृति-विकृति, प्रवृत्ति-निवृत्ति में समान दृष्टि से देखना अविशेष है।

८. अनुपाय— प्रोक्षण (यज्ञ में मन्त्र द्वारा जल छिड़कना), अनशन (उपवास), अग्निहोत्र (प्रातः सायं हवन करना), त्रिषवण (त्रैकालिक स्नान करना), अभ्युक्षण (अभिमन्त्रित जल से सेचन क्रिया) आवाहन (देवतादि का बुलाना) यजन-याजन, याचन (प्रार्थना), जल और अग्नि में प्रवेश आदि यज्ञसम्बन्धी विधान अनुपाय कहे जाते हैं।

इस प्रकार यह धी, धृति (धारणाशक्ति) स्मृति (स्मरणशक्ति) से रहित होकर अहङ्कार से लिप्त, संग और संशय से युक्त, अभिसंप्लुत (मिथ्या-अमिथ्या ज्ञान से युक्त बुद्धि वाला) ज्ञानी-अज्ञानी में भिन्नता न समझने वाला, विमार्ग (उल्टे मार्ग) में गमन करने वाला पुरुष मानसिक दोषों (रज व तम) तथा शारीरिक दोषों (वात-पित्त-कफादि) के कारणों का निवासवृक्ष (आश्रयस्थान) बनकर सभी दुःखों का मूल कारण बनता है। इस प्रकार वह पुरुष अहङ्कार आदि दोषों द्वारा जीवन भर चक्कर काटता हुआ प्रवृत्तिमार्ग को नहीं छोड़ सकता है, वह प्रवृत्ति मार्ग ही अघ (पाप) का मूल है।

आगे भगवान् आत्रेय मोक्ष का स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं— सांसारिक विषय-वासनाओं से बुद्धिपूर्वक निवृत्ति ही अपवर्ग (मोक्ष) है। वह श्रेष्ठ है, वह अत्यन्त शान्त है, वह अक्षर (चिर-स्थिर) है, वह ब्रह्म है (मोक्ष को प्राप्त जीव ब्रह्ममय हो जाता है)। (निवृत्तिरपवर्गः, तत् परं प्रशान्तं तत् तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः। च० शा० ५.११)

उस निवृत्तिमार्ग में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने के इच्छुकों के लिये उदयनों (ऊपर जाने के मार्ग) की व्याख्या करेंगे। प्रवृत्तिमार्ग में दोष देखने वाले मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह प्रारम्भ से ही आचार्य (गुरु) का अभिगमन (अनुसरण) करे, उनके उपदेशों का पालन करे, धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधियों का आचरण करे, धर्मशास्त्र के अर्थ (रहस्य) को जानने का प्रयत्न करे, तदनुसार अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को स्थिर करे। सज्जनों का अनुसरण तथा उनके साथ रहे, दुर्जनों को छोड़े, दुर्जन के साथ निवास न करे। (तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, धर्मशास्त्रानुगमनम्, तदर्थवबोधः, तेनाऽवष्टम्भः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिर्दुर्जनेन। च० शा० ५.१२)।

समय पर सत्य भाषण करे, सब प्राणियों के हितकर वचन बोले तथा कठोर वचन न बोले, सभी प्राणियों को अपने समान देखे, सभी वर्ग (आयु) की स्त्रियों का स्मरण न करे, मन में विचार न करे, उनको पाने की इच्छा न करे, और भाषण भी न करे, सभी प्रकार के परिग्रहों का परित्याग करे। (सत्यं सर्वभूतहितमपुरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वसामस्मरणमसङ्कल्पनमप्रार्थनमभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः। च० शा० ५.१२)।

इन्द्रियों के विषय में अनुराग तथा उपताप (कष्ट) इन दोनों को रोकना अर्थात् इन्द्रियजनित सुख-दुःख का मन से परित्याग, सत्कार, प्रशंसा, निन्दा तथा अपमान को सहन करने की शक्ति को प्राप्त करना, शोक, दीनता, अभिमान, घबड़ाहट (उद्वेग) मद, लोभ, राग, ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि से विचलित न होना, अहङ्कारादि को उपसर्ग (लक्ष्यप्राप्ति में बाधक) समझें, लोक तथा पुरुष के सृष्टि आदि कार्यों को सामान्य रूप से देखना, कार्यकाल के व्यर्थ चले जाने पर भयभीत होना, मानसिक उत्साह रखना, मोक्षप्राप्ति के लिये बुद्धि, धृति (धैर्य) तथा स्मृतिबल का संग्रह करना, इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में नियन्त्रण करना और आत्मा द्वारा आत्मा में नियन्त्रण, धातुभेद से शरीर के अवयवों का बार-बार ज्ञान रखना, कारण से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ कष्टप्रद निस्तत्त्व तथा अनित्य हैं, सभी प्रकार की प्रवृत्तियों की अघ (पाप या दुःख) संज्ञा है, सभी प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को छोड़ देना ही वास्तविक सुख है। इस प्रकार के उपदेशों का ज्ञान रखना यह मोक्ष का मार्ग है। इनके विपरीत आचरण करने से मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बंध जाता है। (ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मपरिवर्जनम्। इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, शोकदैत्यमानोद्वेग-मदलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिभिरसञ्चलनम्, अहंकारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः

सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च; धातुभेदेन शरीरावयवसङ्ख्यानमभीक्षणं (शरीरस्य रसमलस्नायवा-दिरूपतया ज्ञानम्), सर्व कारणवद्दुःखमस्वम् (आत्मव्यतिरिक्तमनात्मीयं च) अनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वधसंज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनवेशः, एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते। च० शा० ५.१२)।

इन मोक्षप्राप्ति के प्रसङ्ग में कहे गये मन को शुद्ध करने के उपायों से अविमल सत्त्व (दूषित मन) वैसे ही शुद्ध हो जाता है जैसे दूषित आदर्श (Mirror) तैल, कपड़े का टुकड़ा और बाल आदि द्वारा मल देने से शुद्ध हो जाता है। (एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति। मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः।। च० शा० ५.१३)।

जिस प्रकार ग्रह (नवग्रहों में एक राहु) बादल, धूलि, धूम, नीहार (कोहरा) से न घिरा हुआ सूर्यमण्डल चमकता है (स्वयं प्रकाशित होता हुआ दूसरों को प्रकाश देता है) उसी प्रकार निर्मल मन भी चमकता है। अर्थात् स्वयं प्रकाशमान सूर्य जैसे ग्रहण, मेघ आदि द्वारा आवृत होने से प्रकाशहीन हो जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्तिमार्ग में फँसा हुआ मन माया के आवरण से घिर जाने के कारण प्रकाशहीन हो जाता है और उस माया के आवरण के हटते ही वह पुनः प्रकाशमान हो जाता है। (ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्। यथाऽर्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथाऽमलम्।। च० शा० ५.१४)।

वह शुद्ध मन आत्मा में रुके हुए मार्ग के रुक जाने के कारण उस प्रकार प्रज्वलित होता है जिस प्रकार प्रसन्न तथा स्थिर ज्वाला युक्त दीपक का प्रकाश संवृतायन (घिरे हुए मार्ग वाले) दीपाशय (चिमनी) के भीतर दिखलायी देता है। ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्त्वं संवृतायने। शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो

दीपाशये यथा।। (च० शा० ५.१५)।

शुद्ध सत्त्व (मन) वाले पुरुष में जो सत्या (ज्ञानविशिष्ट) बुद्धि प्रवृत्त होती है, जिससे वह (शुद्धबुद्धियुक्त पुरुष) अत्यन्त बलवान् महामोहमय मायारूपी अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देता है, अर्थात् उस शुद्धबुद्धि के बल से मानव माया के बन्धन को तोड़ डालने में सक्षम हो जाता है। जिससे वह सब भावों के स्वभाव को जानने वाला, जिससे वह निःस्पृह (अकाम) जिससे वह योग की सिद्धि करता है, जिससे वह सांख्य तत्त्व का ज्ञानी हो जाता है, जिससे वह अहङ्कार को प्राप्त नहीं करता, जिससे वह जन्म-मरण रूपी कारणों की उपासना नहीं करता, जिससे वह राग-द्वेष आदि किसी का भी आश्रय नहीं लेता, जिससे वह सभी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर देता है, जिससे नित्य, अजर, शान्त तथा अक्षर ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है, उसी सत्या बुद्धि की सिद्धि को मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान माना गया है। अर्थात् रजस्, तमस् से सर्वथा मुक्त मन शुद्ध कहा जाता है। शुद्ध मन को ही सत्या बुद्धि की प्राप्ति होती है। इस शुद्धि को प्राप्त करने की चर्चा (च० शा० ५.१२) में विस्तार से की गई है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण है— शुद्धबुद्धि वालों का संग और अशुद्धबुद्धि वालों के संग का त्याग।

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते। यया भिनत्यतिबलं महामोहमयं तमः।।

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः। योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया।।

यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया। यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं सन्यस्यते यया।।

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्। विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता।। (च० शा० ५.१६-१९)

सम्पूर्ण संसार में अपने को फैला हुआ और सम्पूर्ण संसार को अपने में देखते हुए परमात्मा तथा प्रकृति को देखने वाले परावरदृक् (तत्त्वज्ञानी) की

ज्ञानजनित शान्ति नष्ट नहीं होती (लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः ।

परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।। ५. २०)

सदैव सब अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में सभी शरीरगत भावों को समानरूप से देखते हुए ब्रह्मभूत (जीवन्मुक्त) अत एव शुद्ध सत्त्ववाले पुरुष का शरीर इन्द्रिय आदि के साथ संयोग (पुनर्जन्म) नहीं होता है। (पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थानु सर्वदा । ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते, च० शा० ५. २९)

मुक्त आत्मा वाले पुरुष के करणों (शरीर, मन व इन्द्रियों) के अभाव हो जाने से आत्मा का लक्षण भी नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि वह पुरुष सभी करणों (शरीर, मन तथा इन्द्रियों) का त्याग कर देने के कारण मुक्त कहा जाता है। (नात्मनः करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते । स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते ।। च० शा० ५. २२)

विपाप, विरजस्, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण और शान्ति इन पर्यायों द्वारा मोक्ष का परिचय दिया जाता है। (विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् । अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ।। च० शा० ५. २३)

हे सौम्य! (अग्निवेश) यह वह शरीरविचय नामक विज्ञान है, जिसे जानकर निःसन्देह मुनिजन, मोह (तमस्), रजस् (राग) और काम से दूर होकर प्रशम (मोक्ष) को प्राप्त हो गये। (एतत् तत् सौम्य! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः । मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः ।। च० शा० ५. २४) इस प्रकार इस प्रबन्ध में लोक और पुरुष की प्रयोजन सहित बतला दिया है और उत्पत्ति (जन्म) का कारण, निवृत्ति का मार्ग, शुद्ध सत्त्व (मन) का समाधान, मोक्षसाधिका सत्या बुद्धि तथा मोक्षप्राप्ति के उपाय कहे हैं।

४०४०७७७

• अपने दोष

बहुत से मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको अपने दोष तो नहीं दिखते, किन्तु वे दूसरे के दोष देखने में अति उद्युक्त (तत्पर) रहते हैं, यह न्याय की बात नहीं है। क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकाल के पश्चात् दूसरों के दोषों में दृष्टि देके निकालें।

(स० प्र० द्वादश स० अनुभूमिका)

• नौकारूप होना चाहिए

विद्वान् को यथायोग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःखसागर से तारने के लिए नौकारूप होना चाहिए। (स० प्र० एका० स०)

• धर्म के पीछे शक्ति चाहिए

“जहाँ धर्म वहाँ जय” यह बिल्कुल सत्य है, मगर धर्म के पीछे शक्ति चाहिए, नहीं तो अधर्म का ही अभ्युत्थान होता है। (श्री अरविन्द)

• पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।। उद्योगपर्व-विदुरनीति० ।।

हे धृतराष्ट्र! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलने वाले प्रशंसक लोग बहुत हैं, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करनेवाला वचन हो उसको कहने और सुननेवाले पुरुष दुर्लभ हैं। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता या कहने वाला नहीं कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता। (किसी की कमी बताना आँख में अंगुलि देना जैसा होता है, यह स्थिति सामान्य व्यक्ति की ही जाननी चाहिये।)

(सत्यार्थप्रकाश चतुर्थसम्मल्लास)

